

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_184607

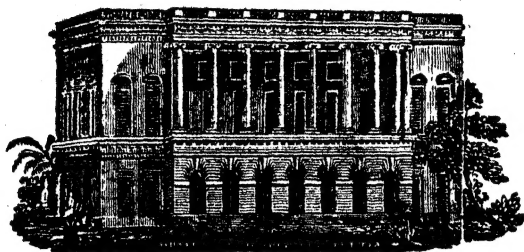
UNIVERSAL
LIBRARY

page missing book
302to303and 340to
341

BIBLIOTHECA INDICA :
A
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1181.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMANA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS I.

2.

CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,
1905.

LIST OF BOOKS FOR SALE
AT THE LIBRARY OF THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM
THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,
15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

~~~~~  
*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some  
of the Fasciculi being out of stock.*

**BIBLIOTHECA INDICA.**

*Sanskrit Series.*

|                                                                                                                |     |     |     |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|
| Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ /6/ each                                                             | ... | Rs. | 1   | 8   |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                             | ... | ... | 0   | 12  |
| * Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ / / each                                                                    | ... | ... | 4   | 2   |
| Aitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-5 @ / /     | ... | ... | 7   | 8   |
| Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. 1                                                                       | ... | ... | 0   | 12  |
| Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ /5/ each                                                      | ... | ... | 2   | 4   |
| Acvavaidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each                                                                      | ... | ... | 1   | 14  |
| Avadāna Kālpalātā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ / / each                        | ... | ... | 9   | 0   |
| Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                 | ... | ... | 0   | 12  |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ /5/ each                                                                  | ... | ... | 1   | 2   |
| Bhāṭṭa Dipikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                | ... | ... | 1   | 14  |
| Īśāddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ / / each                                                                        | ... | ... | 1   | 8   |
| Īśāddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ / / each                                                                 | ... | ... | 2   | 4   |
| Bodhicaryāvatāra of Candidevi, Fasc. 1-3                                                                       | ... | ... | 1   | 2   |
| Çatadusani, Fasc. 1-2                                                                                          | ... | ... | 0   | 12  |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                      | ... | ... | 8   | 0   |
| Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7,...                                      | ... | ... | 6   | 6   |
| Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ / / each                                             | ... | ... | 3   | 12  |
| * Çaturvarga Çintāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III. Part I, Fasc. 1-18                                         | ... | ... | 21  | 6   |
| Part II, Fasc. 1-10 @ / / each; Vol. IV, Fasc. 1-4                                                             | ... | ... | 3   | 12  |
| Çlokavartika, (English) Fasc. 1-5                                                                              | ... | ... | 4   | 8   |
| * Çrāuta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ /6/ each                                                      | ... | ... | 6   | 0   |
| Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ /5/ each; Vol 4, Fasc. 1 | ... | ... | 1   | 2   |
| Çrī Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ / / each                                                                       | ... | ... | 0   | 12  |
| Dan Kriya Kaumudī, Fasc. 1-2                                                                                   | ... | ... | 2   | 10  |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...                                                               | ... | ... | 0   | 6   |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...                                                                            | ... | ... | 1   | 8   |
| Kāla Mādhyama, (Text) Fasc. 1-4 @ /5/ each                                                                     | ... | ... | 2   | 4   |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                         | ... | ... | 4   | 8   |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ /12/ each                                                                         | ... | ... | 10  | 8   |
| Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each                                                           | ... | ... | 3   | 6   |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ / / each                                                                      | ... | ... | 2   | 4   |
| Lalita-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ /12/ each                                                                | ... | ... | 4   | 2   |
| Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ /6/ each...                                                               | ... | ... | 9   | 0   |
| Mahā-bhāgya-pradīpodyāta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ /6/ each              | ... | ... | 1   | 2   |
| Manuṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ / / each                                                                 | ... | ... | 6   | 12  |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ /12/ each                                                             | ... | ... | 4   | 14  |
| * Mimāṃsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ / / each                                                                | ... | ... | 2   | 4   |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ / /                                                                           | ... | ... | 3   | 0   |
| * Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ /5/ each                                                                | ... | ... | 2   | 10  |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ / /                                                                       | ... | ... | 2   | 4   |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                    | ... | ... | 0   | 10  |
| Nyāyabinduṭikā, (Text) ...                                                                                     | ... | ... | 3   | 6   |
| Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ / / each                            | ... | ... | ... | ... |

# शतपथब्राह्मणम् ।

अथ

## द्वितीयकाण्डम् ।

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपि वा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

स यद्वा ऽद्वतश्चेतश्च सम्भरति । तत्सम्भाराणां  
सम्भारत्वं युन्न-यन्नाग्नेर्यत्नं ततस्ततः सम्भरति  
तद्यशसेव त्वदेवैन मेतत् समर्द्धयति पशुभिरिव  
त्वन्मिथुनेनेव त्वत् सम्भरन् ॥ १ ॥

अथोल्लिखति । तद्यदेवास्त्रै पृथिव्या ऽभ्यभिष्ठितं  
व्वाभिष्ठूतं\* वा तदेवास्या ऽएतदुङ्गत्यथ यन्त्रियाया  
मेव पृथिव्या माधत्ते तस्माद्वा ऽउल्लिखति ॥ २ ॥

अथाद्गिरभ्युक्षति । एष वा अपां सम्भारो यद-  
द्गिरभ्युक्षति तद्यदपः सम्भरत्यन्नं वा ऽआपोऽन्नं हि वा  
ऽआपस्तस्माद्यदेमं लोकं माप आगच्छन्त्यथेहान्नाद्यं  
जायते तदन्नाद्येनैवैनं मेतत् समर्द्धयति ॥ ३ ॥

योषा वा ऽआपः । व्युषाग्निर्मिथुनेनैवैनं मेत-  
त्प्रजुननेन समर्द्धयत्यद्विष्वा ऽइदं सर्वं माप मद्भि-  
रेवैनं मेतदापत्वाधत्ते तस्मादपः सम्भरति ॥ ४ ॥

अथ हिरण्यं सम्भरति । अग्निर्ह वा ऽआपोऽभि-  
दध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव तासु रेतः  
प्रासिञ्चत्तद्गिरण्यं मभवत्तस्मादेतदग्निसङ्काशं मग्ने-  
र्हि रेतस्तस्मादपुं त्विन्दन्त्यपुं हि प्रासिञ्चत्तस्मादेनेन  
न धावयति न किञ्चन करोत्यथ यशो देवरेतसं हि  
तद्यशसैवैनं मेतत् समर्द्धयति सुरेतसं मेव कृत्स्नं मग्निं  
माधत्ते तस्माद्गिरण्यं सम्भरति ॥ ५ ॥

अथोषान्त्वम्भरति । असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या  
ऽएतान् पशून् प्रददौ तस्मात्पशव्यं मूषरं मित्याहुः  
पशवो ह्येवैते साक्षादेव तत् पशुभिरेवैनं मेतत् समर्द्ध-  
यति तेऽमुत ऽआगता ऽअस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तु

मनुयोद्यावापृथिव्यो रुसं मन्यन्ते तदनयोरेवैनमेतद्  
द्यावापृथिव्यो रुसेन समर्हयति तस्मादुषान्त्सु-  
म्भरति ॥ ६ ॥

अथाखुकरीषः सुम्भरति । आखुवो ह वा ऽअस्यै  
पृथिव्यै रुसं विदुस्तस्मात् तेऽधोऽध ऽइमां पृथिवीं  
चरन्तः पीविष्ठा ऽअस्यै हि रुसं विदुस्ते यन्न ते ऽस्यै  
पृथिव्यै रुसं विदुस्तुत उत्किरन्ति तदस्या\* ऽएवैनमेतत्  
पृथिव्यै रुसेन समर्हयति तस्मादाखुकरीषः सुम्भरति  
पुरीष्य ऽइति वै तु माहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै  
पुरीषं च कुरीषं च तदेतस्यैवावफडैः तस्मादाखु-  
करीषः सुम्भरति ॥ ७ ॥

अथ शुक्रराः सुम्भरति । देवाश्च वा ऽअसुराश्चोभये  
प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिव्यलेलायद्यथा  
पुष्करपर्णं मेवं तां ह रुम व्वातः संव्वहति सोपैव  
देवान् जगामोपासुरान्त्सा यन्न देवानुपजगाम ॥ ८ ॥

तद्वोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां दुःहामहै तस्यां ध्रुवा-  
या मग्निथिलाया मग्नी ऽआदधामहै ततोऽस्यै सपुत्रान्  
निर्भक्ष्याम ऽइति ॥ ९ ॥

तद्यथा शङ्कुभिश्चर्मं विहन्त्यात् । एव मिमां  
प्रतिष्ठां शङ्कराभिः पर्यवृण्वन्त सीयं ध्रुवाशिथिला  
प्रतिष्ठा तस्यां ध्रुवाया मशिथिलाया मग्नी ऽग्नादधत्  
ततोऽस्यै सपत्नान् निरभजन् ॥ १० ॥

तयो ऽएवैष ऽएतत् । इमां प्रतिष्ठां शङ्कराभिः  
परिवृण्वन्ते तस्यां ध्रुवाया मशिथिलाया मग्नी  
ऽग्नादधत्ते ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माच्छङ्कराः  
सम्भरति ॥ ११ ॥

तान्वा ऽएतान् । पञ्च सम्भारान्त्वम्भरति पाङ्क्तो  
यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरस्य ॥ १२ ॥

तदाहुः । षडेवऽर्त्तवः संवत्सरस्येति न्यून मु  
तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते न्यूनाद्वा ऽइमाः प्रजाः  
प्रजायन्ते तच्छ्रुत्येयस मुत्तरावत् तस्मात् पञ्च  
भवन्ति यद्यु षडेव ऽर्त्तवः संवत्सरस्येत्यग्निरेवैतेषां  
षष्ठस्तथो ऽएवैतदन्यूनं भवति ॥ १३ ॥

तदाहुः । नैवैकञ्चन सम्भारं सम्भरेदित्यस्यां वा  
ऽएते सर्वे पृथिव्यां भवन्ति स यदेवाद्या माधत्ते तत्  
सर्वान्सम्भारानाप्नोति तस्मान्नैवैकञ्चन सम्भारं  
सम्भरेदिति तदु समेव भरेद्यद्वैवाद्या माधत्ते तत्

( १ अ० १ ब्रा० )      ॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

सुर्वान्त्वङ्मारुनाप्नोति यदु सङ्गारैः सुमृतैर्भवति  
तदु भवति तुङ्गादु सु मेव भरेत् ॥ १४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [१.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थिना मुपक्रमे ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त मच्चं वन्दे विद्यातीर्थमहेष्टरम् ॥ २ ॥

आद्ये काण्डे प्रपञ्चेन पौर्णमासेष्टिरीरिता ।

सा सम्पूर्णोपदेशत्वादन्यासां प्रकृतिर्मता \* ॥ ३ ॥

पवमानेष्ट्यादिकानां द्वितीये त्वग्निमिद्वये ।

आधानं पवमानेष्टिरग्निहोत्र मुपस्थितिः ॥

चातुर्मास्यादिकः सर्वो हविर्यज्ञोऽत्र वर्ण्यते ॥ ४ ॥

\* अथ यत्र सर्वं कर्त्तव्यं प्रकर्षेण कर्मान्तरनिरपेक्ष्योपदिश्यते, सा प्रकृतिः । यत्र विशेषरूपमेव कर्त्तव्यं श्रुत्योपदिश्यते इतरत् सर्वं प्रकृतेरतिदिश्यते, सा विकृतिः । प्रकृतिश्च द्विविधा ; मूलप्रकृतिरवान्तरप्रकृतिश्चेतिभेदात् । सर्वात्मना कर्मान्तरनिरपेक्षा मूलप्रकृतिः । कतिपयेष्वङ्गेषु कर्मान्तरापाेक्षते स्वयञ्च कैश्चित् कर्मभिरपेक्षणीया भवति, सेयमवान्तरप्रकृतिः । सर्वेष्वेदं मीमांसायाः सप्तमाष्टमाध्यायाभ्यां विचार्य निरूपितम् । तथाच न्यायमालाया अप्यष्टमाध्यायस्य प्रथमपादीषट्कतीयधिकरणद्वितीयवर्णके इष्टाग्निहोत्रसोमोमांसा मेव सर्वयागमूलप्रकृतित्वं निर्णीतम् ।

तत्र तावत् सर्वेष्टिप्रकृतित्वेन प्राक् प्रतिपादिताया दर्शपूर्ण-  
मासेष्टेः, विधात्यमानाना भग्निहोत्रादिकर्मणां च त्रेताग्नि-  
साध्यत्वात् \* तथेतुभूत माधानं प्रतिपाद्यते । तत्र चोदकहिर-  
ण्यादिसम्भाराणां पञ्चानां † सम्भरणं विधिक्षुः सम्भारनामनिर्वचनं  
करोति—“स यदा इति । ‘इतश्च’ अस्माद् वक्ष्यमाणादुदक-  
हिरण्यादिद्रव्यजातात् ‘सः’ अध्वर्युस्तदेकदेश माहृत्य ‘यद्’ यस्मा-  
देकस्थाने ‘सम्भरति’ समूहीकरोति, ‘तत्’ तस्मात् सम्भ्रियन्त  
इति सम्भाराः, इति व्युत्पत्त्या तेषां ‘सम्भार’-नाम सम्प्रत्यय मित्यर्थः ।  
“इतश्चेतश्चेति । “नित्यवीक्षयोः”—इति ‡ दिवचनम् ।

एतदेव विशदयन् सम्भरणं विव्रियते— “यत्र-यत्रेति ।  
यस्मिन् यस्मिन् पदार्थे ‘अग्नेः’ सम्बन्धि तेजो ‘न्यक्तं’ निक्षीनं  
भवति, तस्मात् सर्वस्मात् अपि सम्भरणं कार्य मित्यर्थः ॥

एतत् सम्भरणीयद्रव्यविशेषोपजीवनेन प्रशंसति— “तद्यश-  
सेवेति । सम्भरतीत्युपरिष्ठात्सर्वशेषतया श्रुतत्वात् त्रिष्वपि  
वाक्येषु त्वदित्यनन्तरं सम्बध्यते । त्वच्छब्दश्च एकशब्दपर्यायः ;  
“उत त्वः पश्यन्”—इत्यादौ § तथा दर्शनात् । “अप्येकः पश्यन् न  
पश्यति वात मिति यास्कः ¶ । ‘तत्’ तत्र ‘तत्’ एकं हिरण्याख्यं

\* “दक्षिणामिर्गार्हपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नयः । अग्नित्रय मिदं त्रेता”—  
इति अ० को० २. ७. २० ।

† १ उदकम्, २ हिरण्यम्, ३ ऊषाः ( पशवः ), ४ आखुकरीषम्  
( आखुपुरीषम् ), ५ शर्कराः ( कङ्करिति ख्याताः ) ।

‡ पा० सू० ८, १, ४ ।

§ अ० सं० १०, ७१, ४ ।

¶ निरु० १, ६, ३ ।



( १२० १ब्रा० )      ॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

वस्तु 'सम्भरन्' 'एनम्' अग्निम् एतेन सम्भरणेन 'यश्चैव समर्ह-  
यति' । हिरण्यस्य यशोरूपत्वं मये वक्ष्यते \* ।

एव मुत्तरवाक्ययोरपि योजना । तत्र त्वदितिपदाभ्या-  
मुपोदकद्रव्यौ विवक्षितौ । तयोश्च पञ्चमिथुनरूपत्वे † उपरिष्ठात्  
समास्नास्येते ‡ ॥ १ ॥

तस्य च हिरण्यादिसम्भारस्य निवपनं मुञ्जेखनाभ्युक्ष-  
संस्कृतेष्वेव गार्हपत्याद्यायतनेषु कार्यं मित्यभिप्रेत्य प्रथमं  
मुञ्जेखनं विधाय प्रशंसति— “अथोस्मिखतीति । ‘अस्यै पृथिव्यै’-  
इति षष्ठार्थे चतुर्थी § । ‘अस्याः पृथिव्याः’ सम्बन्धि, यत् ‘अभि-  
ष्ठितम्’ उपर्यवस्थानेन पादस्पर्शजनितम्, ‘अभिष्ठूतम्’ तदुपरि  
निडीवनादिजनितस्त्वर्थः । ‘वा’-शब्दौ चार्थौ । “यस्मिन्नाया  
मिति । यन्नाह्वाया मित्यर्थः ॥ २ ॥

उस्मिखितानां मग्न्यायतनानां मभ्युक्षणं विधत्ते—“अथेति ।  
एतदभितः सर्वतो यदभ्युक्षणम्, ‘एष वा अपां सम्भारः’ ; न तु  
हिरण्यादिवत् पृथगुपादाय तासां निवपनं कार्यं मित्यर्थः ।  
“अन्नं वा इत्यादि । निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

एव मन्नाद्यहेतुत्वेनाभ्युक्षणं प्रशस्य मिथुनरूपेण प्रशं-  
सति—“योषा वा इति । अपां स्त्रीलिङ्गत्वाद्गन्धेऽपुंस्लिङ्गत्वा-  
दुभयमिलितं सदेकं मिथुनम्, तच्च पुत्रपौत्रादिप्रजननहेतुरिति

\* ‘अथ यशः’—इत्यादि द्रष्टव्यम् ( ५ क० ) ।

† यदि च श्रुतौ मिथुनस्याग्रे विधानम्, पशूनां तत उत्तरम् ; तथापि  
“अत्पात्तरम् ( पा० सू० २, २, ३४. )—इतिशासनात्पशुशब्दस्यैह इन्द्र-  
निमित्तः पूर्वनिपातो बोध्यः ।

‡ इहैवानुपदं चतुर्थषष्ठकखिकयोर्द्रष्टव्ये । § पा० २, ३, ६१ सू० वा० ।

‘एनम्’ अग्निं ‘समर्चयति’ एतेन ‘मिथुनेन’ । त्वदिति प्रागुक्तं तद्विद्यतं भवति ।

एवं लिङ्गोपजीवनेन प्रशस्य अपश्यब्दप्रतिपादितार्थपर्यालोचनयापि प्रशंसति— “अद्विर्वा इति । “आपो वा इदं मम सलिलं मासीत्”— इति श्रुतिः \* । सर्वम् ‘इदम्’ जगत् ‘अद्विः’ खलु ‘आप्तम्’ अत आपनशीलाभिस्ताभिरद्विः ‘एनम्’ अग्निं प्राप्य ‘आधत्ते’ इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् सम्भारनिवपनसमयेऽभ्युक्षणां कस्मिंश्चित् पात्रे अपः सम्भरेदिति निगमयति— “तस्मादिति ॥ ४ ॥

हिरण्यस्य सम्भरणं विधत्ते— “अथ हिरण्यं मिति । तस्य हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वं प्रतिपादयति— “अग्निर्ह वा इत्यादिना । ‘अभिदध्यौ’ अभिध्यातवानित्यर्थः । “ध्वै चिन्तायाम् †”— इत्यस्मात्तिटि “आत औ णलः”— इत्यौलम् ‡ । अभिधानप्रकारमाह— “मिथुन्याभिरिति । ‘आभिः’ अद्विः अभ्युक्षणाद्विः स्त्रीभिः ‘मिथुनीस्याम्’ प्रयोगमिथुनं तत्संयोगान्मिथुनं भवानीत्यर्थः । मिथुनशब्दादभूततद्भावे चिः § । “तस्मादेतदिति । यस्मादग्निवीर्यं हिरण्यात्मना परिणतम्, ‘तस्मात्’ एतत् हिरण्यम् ‘अग्निसङ्काशम्’ अग्नेः सदृशं मेव वर्ण्यत उपलभ्यते । यस्माच्चाप्सु निषिक्तम्, ‘तस्मात्’ तत् हिरण्यम् ‘अप्सु’ ‘विन्दन्ति’ लभन्ते इत्यर्थः । “तस्मादेनेनेति । यस्मादान्नेयं हिरण्यम् ‘तस्मादेनेन’ दन्तान् ‘न धावयेत्’ । तथा यदन्यत् किमपि ह्योनं कर्म, तदपि तेन न कुर्यादित्यर्थः ।

\* तै० ब्रा० १. १. ३. ५ ।

† भा० प० ६३३ धा० ।

‡ ५१० सू० ७. १. ३४ ।

§ पा० ५. ४. ५० सू० २ वा० ।

“अथ यश इति । ‘अथ’-शब्दो वाक्यालङ्कारे । यस्मात्तद्विरण्यं ‘देवरेतसं’ देवस्याग्नेर्वीर्यम्, तस्माद् यशोरूपम् । देवरेतस मिति ‘अनसत्तात्’-इत्यकारः समासान्तः \* । तथाच हिरण्यसम्भरणेन ‘यशसैव’ ‘एनम्’ अग्निं समृद्धं करोति । एतेन “यशसेव त्वदिति प्रागुक्तं † व्याख्यातं भवति । “सरेतस मेवेति । हिरण्यस्य सम्भरणाभावे हि रेतसोऽन्यत्र स्थितत्वात् तद्रहित आहितोऽग्नि-रक्तस्त्र एव भवति ; तत्सम्भरणे तु सरेतसः सः ॥ ५ ॥

“अथोषानिति । जषाणां पशुरूपत्वं प्रतिपादयन् तत् समृद्धिहेतुत्वेन स्तौति—“असौ ह वा इति । यस्मात् ‘पृथिव्यै’ द्युलोकेन इमे पशवो दत्ताः, ‘तस्मात्’ तत्सम्बन्धि ‘जषरम्’ जषयुक्तं स्थानं ‘पशयम्’ पशुभ्यो दत्तम् ‘इति’ ब्रह्मवादिनः ‘आहुः’ । ‘पशवो हि’ तादृशं स्थान मासाद्य लिहन्ति ; अतः पशुहितत्वात् पश्वात्मकाः ‘एवैव’ जषाः । “जषर मिति । “जवसुषिमुष्कमधो रः”—इति ‡ मत्वर्थीयो रः । स्पष्ट मन्यत् । दशवापृथिव्यो रसत्वेनैतान् प्रशंसति—“तेऽमुत इति । ‘अमुतः’ अमुष्माद् द्युलोकात् ‘आगताः’, ‘अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः’ च ; अतः पश्वात्मकस्य जषद्रव्यस्य द्यावापृथिवीरसत्वम् । किं ततः इत्याह— “तदनयोरिति ॥ ६ ॥

द्रव्यान्तरस्य सम्भरणं विधत्ते — “अथाखुकरीष मिति । (आखुभिः खननेन विलात् बहिर्नीताः पांशव आखुकरीषम्) ॥ “आखवो हेति । यस्मात् ‘आखवः’ पृथिवीरसजाताः,

\* पा० सू० ५. ४. १०३ ।

† १ पृ० १२५०, ७ पृ० \* इति च द्रष्टव्यम् । ‡ पा० सू० ५. २. १०७ ।

॥ बन्धन्यन्तर्गतग्रन्थोऽयं च-पुस्तकमात्रे विद्यते ।

‘तस्मात्’ एव पृथिवीमध्ये ‘अधोऽधः’ खनन्तः, पृथिव्या  
अन्तरधक्तात् समीपे ‘वरन्तः’ तद्रसास्वादनसम्बन्धिनि ‘यत्र’  
यस्याने ‘रसं’ ‘विदुः’ जानन्ति, तत् स्थानं गत्वा ‘रसम्’  
उपजीव्य पांशून् बहिः ‘उत्किरन्ति’ उत्क्षिपन्ति । “कृ  
विक्षेपे”—इति ० धातुः । अत आखूत्करस्य पृथिवीरसत्वात्  
तेनेव ‘एनम्’ अग्निं समृद्धं करोति । प्रकारान्तरेण स्तीति —  
“पुरीष इतीति । ‘यः’ खलु ‘अग्रं’ सम्पदं ‘गच्छति’, ‘तं  
पुरीष इति’ लोका वर्णयन्ति । तच्चैवं पुरीषस्यैव श्रीप्राप्ति-  
हेतुता, करीषस्य किं मायात मित्यत आह — “समान मिति ।  
पुरीषकरीषशब्दावत्र समानार्थावित्यर्थः । अतः करीषसम्बन्धा-  
दग्निः अग्रं प्राप्नोति । तादृशस्याग्नेरवगोधायुं करीषसम्भरणं  
कार्यं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

शर्कराणां सम्भरणं विधत्ते—“अथ शर्करा इति ।  
मृन्मिश्रिताः सूक्ष्मपाषाणाः शर्कराः । तेषां मधिमिश्रितानां  
दाढ्यहेतुत्वं मितिहासेन दर्शयति—“देवाश्च वा, इति ।  
देवासुरा उभये स्पृष्ट्वाश्चक्रिरे । देवासुरेषु युद्धाय कृतोद्यमेषु  
तद्भयात् ‘पृथिवी अलेलायद्’ चाश्चल्यं प्राप्नोति । तत्र दृष्टान्त  
माह—“यथेति । ‘यथा’ जलस्योपरि ‘पुष्करपर्णम्’ इतस्ततः  
चञ्चलं भवति, ‘एवम्’ पृथिव्यपि इतस्ततः कम्पिता । ‘तां’  
तदवस्थां मापन्नां पृथिवीं ‘वातः’ वायुः पुष्करपर्णवदेव ‘संवहति  
स्म’ । यथा दारुमयीं (नावं) कश्चित् परपारं नयति, स्थानात्  
स्थानान्तरं प्रापयति । ‘सा’ त्वेवं कम्पमाना पृथिवी उभय-  
विधानपि तान् ‘उपाजगाम’ ॥ ८ ॥

यदा च सा देवानप्राप्नोत्, तदा तत्कृतं परिहारं दर्शयति — “तद्वोचुरिति । ‘प्रतिष्ठां’ प्रतिष्ठितां ‘वृंहामहे’ दृढीकर-  
वामहे । ‘ध्रुवावां’ निश्चलायाम्, ‘अग्निथिलायां’ दृढायाम् ।  
वाक्यार्थः स्पष्टः । ‘ततः’ तस्मात् अग्न्याधानात् ‘अस्यै’ अस्याः  
पृथिव्याः सकाशात् शत्रुभूतानसुरान् ‘निर्मह्यामः’ निर्भक्तान्  
भागरहितान् कुर्यामित्यर्थः । इत्थं प्रतिज्ञायथाः ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञातैः कृतं दर्शयति— “तद्यथेति । ‘यथा’ आर्द्रं  
‘चर्म’ भूमौ प्रसार्य ‘शङ्कुभिः’ परितो ‘विहन्त्यात्’, ‘एवं’ ‘प्रतिष्ठां’  
सर्वप्राण्यास्यदभूताम् ‘इमां’ पृथिवीं शर्कराभिः ‘पर्यवृंहन्त’  
परितः शर्करास्थापनेन दृढीकृतवन्तः । निगदसिद्ध  
मन्यद् ॥ १० ॥

एवं पुरावृत्तं सुदाहृत्यैतद्व्याख्यानं प्रकृतं मनुसन्धत्ते —  
“तथो एवेति । उक्तार्थं मेतत् ॥ ११ ॥

विहितसम्भरणं मनुय तत्सङ्ख्योपजीवनेन प्रशंसति —  
“तान् वा एतानिति । ‘तान्’ पूर्वोक्तान् ‘पञ्च सम्भारान्’  
‘सम्भरति’ । उदकहिरण्योषाखुकरीषशर्कराः पञ्च सम्भाराः ।  
‘पाङ्क्तो यज्ञ इति । पञ्चपदा पङ्क्तिः \*; ‘यज्ञः’ अपि  
धानाकरन्धादिपञ्चहविष्क इति † पञ्चसङ्ख्यायोगात् ‘पाङ्क्तः’ ।  
अस्थिमज्जेतिपञ्चधातुमयत्वात् ‘पशुः’ अपि ‘पाङ्क्तः’ ‡ । संवत्सर-  
सम्बन्धिनः ‘ऋतवः’ वसन्ताद्या अपि पञ्चसङ्ख्याकाः । हेमन्त-  
शिशिरयोः समासाभिप्रायं मेतत् । तथा चैतरेयकम् — “हेम त-  
शिशिरयोः समासेन”—इति ¶ ॥ १२ ॥

\* ऐ० ब्रा० ६, ४, ४; ५, ४, २ ।

† “धानाः, करम्भः, परिवापः पुरोडाशः, पयस्येति” ऐ० ब्रा० २, ३, ६ ।

‡ ऐ० ब्रा० ६, ५, ३ ।

¶ ऐ० ब्रा० १, १, १ ।

तदेतत् पञ्चत्वं लोकप्रसिद्धिविरुद्धमित्याक्षिपति— “तदाहु-  
रिति । हेमन्तशिशिरौ हि पृथक्त्वेन लोके प्रसिद्धौ; अतस्तयो-  
रेक्यं न युक्तमिति भावः । परिहरति— “न्यूनमिति । ‘तर्हि’  
तथा सति ऋतुषट्के मिथुनत्रयसम्पत्तिः ; पञ्चके तु तन्मिथुनत्रय  
मेकेन ‘न्यूनं’ भवति, तच्च प्रजननसाधनम् \* । अत्र लोक-  
प्रसिद्धिमाह— “न्यूनादिति । स्त्रीपुंसयोर्वीर्यस्य परस्परन्यूनत्वे  
सति तस्मात् ‘न्यूनात्’ मिथुनात् स्त्रीपुंसलक्षणानि अपत्यानि  
‘जायन्ते’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ पञ्चसम्भारलक्षणेन यत् मिथुनस्य  
न्यूनत्वम्, ‘तत्’ ‘श्वःश्रेयसम्’, ‘श्वः’ परदिवसे श्रेयसो जनकम् ।  
“श्वसो वसीयःश्रेयसः”—इत्यच् समासान्तः † । तथा ‘उत्तरा-  
वत्’, ‘उत्तरा’ आगामिनी अभिवृद्धिः, तथोपेतमित्यर्थः । एव  
मृतूनां षट्केऽपि सम्भाराणां पञ्चसङ्ख्याकत्वं सुपपाद्यायापि  
न्यूनत्वं नाम कश्चित् नेष्ट इत्याशङ्क्य ‡ परिहरति—“यद्यु इति ।  
यदि षडृतुत्वं संवत्सरस्य सङ्ख्यास्ति, तर्हि एतेषां सम्भाराणां  
माधीयमानः ‘अग्निरेव’ ‘षष्ठः’ षट्सङ्ख्यापूरकः ॥ १३ ॥

असम्भारपक्षमाह— “तदाहु रिति । “एकञ्चेनेति । एक  
मपीत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह— “अस्यामिति । आरोपित  
सर्वसम्भारभूतायां पृथिव्या माधानादेव तत्कार्यप्राप्तेर्न पृथक्  
सम्भारापेक्षेत्यर्थः । सम्भरणपक्षमेव निगमयति—“तदु स  
मेवेति । “यदु सम्भारैरिति । ‘यत्’ खल्वाधाने सम्भृतैः ‘सम्भारैः’  
निष्पन्नं भवति, ‘तत्’ खल्वाधानं भवति; सम्भारविरहे तु

\* ‘तच्चाप्रजननसाधनम्’—इति च ।

† पा० सू० ५, ४८, ८० ।

‡ ‘कश्चिन्नन्येत्याशङ्का’— इति च ।

तदाधान मेव न भवतीति कुतस्तस्य पृथिवीसम्बन्धवशात्  
सम्भरणप्राप्तिरित्यर्थः ॥ १४ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

कृत्तिकास्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽअग्नि-  
नक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सुलोमं योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी  
आदधातै तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत \* ॥ १ ॥

एकं द्वे त्रीणि । चत्वारीति वा ऽअन्यानि  
नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद्भूमान  
मेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥ २ ॥

एता ह वै प्राच्ये दिशो न च्यवन्ते । सूर्वाणि  
ह वा ऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्ये दिशश्च्यवन्ते तत्  
प्राच्या मेवास्यैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिका-  
स्वादधीत † ॥ ३ ॥

अथ यस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत । ऋक्षाणां ‡

\* 'दधीत'—इति ग, घ, ङ ।

† 'दधीत'—'इति ग, घ, ङ ।

‡ 'ऋक्षाणां'— इति ग, घ, ङ ।

ह वा ऽएता अये पुत्रा आसुः सप्तऽर्षीन् ह वा वै  
 पुरऽर्चा इत्याचक्षते ता मिथुनेन व्यार्ध्यन्तामी  
 ह्यतराहि सप्तऽर्षय उद्यन्ति पुर एता अश मिव वै  
 तद्यो मिथुनेन व्यूहः स नेन् मिथुनेन व्यूहा ऽवृत्ति  
 तस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत ॥ ४ ॥

तद्वैव दधीत । अग्निर्वा ऽएतासां मिथुन मग्नि-  
 नेता मिथुनेन समृद्धास्तस्मादेव दधीत ॥ ५ ॥

रोहिण्या मग्नी ऽआदधीत । रोहिण्याऽ ह  
 वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नी ऽआदधे स प्रजा  
 असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्य  
 रोहिण्य इवैव तद्वै रोहिण्यै रोहिणीत्वं बहुहैव  
 प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ६ ॥

रोहिण्या मु ह वै पशवः । अग्नी ऽआदधिरे  
 मनुष्याणां कामऽ रोहिमेति ते मनुष्याणां काम  
 मरोहन् य मु हैव तत् पशवो मनुष्येषु काम मरोहन्तु  
 मु हैव पशुषु कामऽ रोहति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ७ ॥

मृगशीर्षेऽग्नी ऽआदधीत । एतद्वै प्रजापतेः



शिरो यन् मृगशीर्षं श्रोत्रैश्च शिरः श्रीर्हि वै शिर-  
स्तुच्छाद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवत्यस्रावमुष्णार्द्धस्य शिर-  
द्रुत्याहुः श्रियं ह गच्छति य एवं विद्वान् मृगशीर्षं  
ऽआधत्ते ॥ ८ ॥

अथ यस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधोत । प्रजापतेर्वा  
एतच्छरीरं यत्र वा ऽएनं तद्विध्यंस्तदिषुणा त्रिकाण्डे-  
नेत्याहुः स एतच्छरीरं मजहाद्वास्तु वै शरीरं मय-  
ज्जियं निर्व्वीर्यं तस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधीत ॥ ९ ॥

तद्वैव दधीत । न वा ऽएतस्य देवस्य वास्तु  
नायज्जियं न शरीरं मस्ति यत् प्रजापतेस्तुच्छादैव  
दधीत पुनर्व्वस्रोः पुनराधेयं मादधीतेति ॥ १० ॥

फल्गुनीष्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽइन्द्र-  
नक्षत्रं यत् फल्गुन्योऽप्यस्य प्रतिनाम्नोऽर्जुनो ह वै  
नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता  
एतत् परोऽक्ष माचक्षते फल्गुन्य इति को ह्येतस्या-  
र्हति गुह्यं नाम ग्रहीतुं मिन्द्रो वै यजमानस्तस्व ऽएवै-  
तन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्त ऽइन्द्रो यज्ञस्य देवतैतेनो हास्यै-  
तत्सेन्द्र मग्न्याधियं भवति पूर्व्वयोरादधीत पुरस्तात्  
क्रतुर्हैवास्मै भवत्युत्तरयोरादधीत श्वःश्रेयसं हैवा-  
स्मा ऽउत्तरावन्दं भवति ॥ ११ ॥

हस्तेऽग्नी ऽआदधीत । य इच्छेत् प्र मे दीये-  
तेति तदा ऽअनुष्ठा यद्गस्तेन प्रदीयते प्र हैवास्मै  
दीयते ॥ १२ ॥

चित्राया सग्नी ऽआदधीत । देवाश्च वा असुरा-  
श्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे त उडभय ऽएवामुं  
लोकं समाकुरु चान्चक्रुर्दिव मेव ततोऽसुरा रौहिण  
मित्यग्निं चिक्षिरेऽनेनामुं लोकं समागोक्ष्याम  
इति ॥ १३ ॥

इन्द्रो ह वा ऽईक्षान्चक्रे । इमं चेद्वाऽइमे चिन्वते  
तत एव नोऽभिभवन्तीति स ब्राह्मणो ब्रुवाण  
एकेष्टकां प्रवध्येयाय \* ॥ १४ ॥

स होवाच । हुन्ताह मिमा मप्युपदधा ऽइति  
तथेति ता मुपाधत्त तेषा मल्पकादेवाग्निरसञ्चित  
आस ॥ १५ ॥

अथ होवाच । अन्वा ऽअहं तां दास्ये या ममे-  
हेति ता मभिपद्या बबर्ह † तस्या मावृढाया मग्नि-  
र्व्यवशशादाग्नेर्व्यवशाद् मन्वसुरा व्यवशेदुः स ता  
एवेष्टका वज्रान् कृत्वा ग्रीवाः प्रचिक्षेद ॥ १६ ॥

ते ह देवाः समेत्योचुः । चित्रं वा ऽअभूम य

ऽद्वयतः सपत्नानुबधिष्मेति तद्वै चित्रायै चित्रात्वं\*  
चित्रं ह भवति हन्ति सपत्नान् हन्ति क्षिपन्तं  
भ्रातृव्यं य एवं विद्वांश्चित्राया माधत्ते तस्मादेतत्  
क्षत्रिय एव नक्षत्रमुपेत्येज्जिघांसतीव क्षेष सपत्नान्  
वीव जिगीषते ॥ १७ ॥

नाना ह वा ऽएतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः । यथैवासौ  
सूर्ये एवं तेषा मेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्र मादत्त  
तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्यं क्षत्र मादत्त ॥ १८ ॥

ते ह देवा ऊचुः । यानि वै तानि क्षत्राण्य-  
भूवन् न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां  
नक्षत्रत्वं तस्मादु सूर्य्यनक्षत्र ऽएव स्यादेषु क्षेषां वीर्यं  
क्षत्र मादत्त यद्यु नक्षत्रकामः स्यादेतद्वा ऽअनपराह  
नक्षत्रं यत् सूर्य्यः स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्ष-  
त्राणां कामयेत तदुपेत्येज्जस्मादु सूर्य्यनक्षत्र ऽएव  
स्यात् ॥ १९ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [१. २] ॥

कर्मणः कालसापेक्षत्वात् आधानस्य नक्षत्रं † विधत्ते—  
“कृतिकास्त्रित्यादिना । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनौयावित्यर्थः ।

\* ‘चित्रात्वं’—ग, घ ।

† ‘नक्षत्राणि’— इति च ।

अग्निदेवताकत्वादग्निनक्षत्रं कृत्तिकाख्यम् । श्रूयते हि—  
“कृत्तिकानक्षत्रं मग्निर्देवतेति \* । तस्मिन्नग्निनक्षत्रेऽग्न्याधानं  
‘सलोम’ सदृशं, योग्यं मिति यावत् ॥ १ ॥

अथैतस्य नक्षत्रस्य बहुत्वोपजीवनेन प्रशंसति—“एक  
मिति । कृत्तिकातः ‘अन्यानि नक्षत्राणि’ एक-हि-त्रि-चतुः-  
रुद्धाकाधिष्ठानान्यत्पीयांसि, कृत्तिकासु षट्सुद्धाधिष्ठानयोगात्  
‘भूयिष्ठाः’ बहुतराः । तत्रार्द्रादीनाम् ‘एकम्’ अधिष्ठानम्,  
फल्गुन्यादीनां ‘द्वे’, अश्विन्यादीनां ‘त्रीणि’, पुनर्वसूनादीनां  
‘चत्वारि’ । ‘तत्’ तस्मात्, एभ्यो भूयिष्ठनक्षत्राधानात् यज-  
मानोऽपि ‘भूमानं’ बहुत्व मेवोपगच्छतीत्यर्थः ॥ २ ॥

नियतदिक्सम्बन्धवगेनेताः प्रशंसति — “एता ह वा इति ।  
‘प्राच्यै’ प्राच्याः ‘दिशः’ सकाशात् ‘न च्यवन्ते’ दक्षिणत उत्तरतो  
वा विक्षेपवशात् न चलन्ति, किन्तु नियमेन शुद्धप्राच्या मेवो-  
च्यन्ति; ‘अन्यानि’ तु ‘नक्षत्राणि’ प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
उत्तरतो वा विक्षेपवशात् चलन्ति, प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
उत्तरतश्च नियमेन परिवर्तन्ते । “तत् प्राच्या मित्यादि ।  
निर्गदसिद्धम् ॥ ३ ॥

कृत्तिकास्त्राधानपक्षं मिथुनवृद्धिहेतुत्वान्निषेधति—“अथ  
यस्मादिति । ‘यस्माद्’ वक्ष्यमाणदोषोऽस्ति, तस्मात् कृत्तिकासु  
न आदधीत । कोऽसौ दोषः ? तमुपन्यस्यति—“ऋक्षाणां  
हेति । ऋक्षशब्दार्थं माह—“सप्तर्षी निति । ‘ऋक्ष’ नक्षत्रम्;  
तद्रूपेणावस्थानात् । इह ‘ऋक्ष’-शब्देन सप्तर्षयोऽभिधीयन्ते । “पुर

चक्ष्वा इति \* प्रकृतिभावो ऋस्वश्च† । ‘व्याईरन्त’ विगतर्हिंका  
अभवन् । व्यृद्धि मेव‡ देशभेदोदयेन स्पष्टयति — “अमी हीति ।  
‘अमी’ खलु ‘सप्तर्षयः’ ‘उत्तराहि’ । “आहि च दूरे”—इति §  
आहिप्रत्ययः । दूरदेशे उत्तरदिग्भागे ‘उद्यन्ति’ । ‘एताः  
कृत्तिकाः’ ‘पुरः’ पूर्वस्यां दिशि । अत एव तासां विभिन्नदेशा-  
वस्थानेन ¶ पुरुषसम्भोगविरहात् मिथुनव्यृद्धिः । तच्चासमीचीन  
मित्याह — “अथ मिव वै तदिति । अतः कृत्तिकास्त्राधानं  
कुर्वन्नपि तदत् मिथुनेन व्यृह्यते, अतो ‘न इत्’ नैवाहं ‘मिथुनेन’  
‘व्यृह्यै’ व्यृह्यो भवानीत्यभिप्रेत्य तच्च नादधातीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैतद्दोषं परिहरन्नाधानपक्ष मेव निगमयति — “तद्वै-  
वेति । ‘तत् उ आ एव’ तस्मिन्नपि नक्षत्रे आदधीतैव ।  
“अग्निर्वा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ ५ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रशंसति — “रोहिण्या मिति । ‘आदधे’  
आधानं कृतवान् । ‘उपस्तब्धाः’ प्रतिबद्धगतयो. ॥ विनाश-  
रहिताः पुत्रपौत्रादिरूपेणैकरूपा अविच्छिन्नप्रवाहाः ‘तस्युः’  
स्थितवत्यः \*\* । ताश्च ‘रोहिण्यः’ स्वर्गादिलोकारोहणसाधन-  
भूता इति स्थिताः †† । एतदुपजीवनेन नामनिर्वचनं करोति—  
“तद्वा इति । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६ ॥

रोहिण्याधानं प्रकारान्तरेण प्रशंसति — “रोहिण्या मु हेति ।

\* पुरश्चा इत्येव पाठो दृश्यते मूलपुस्तकेषु ।

† पा० ६. १. १५० सूत्रं दृष्टव्यम् । ‡ ‘व्यृद्धि मिव’— इति च ।

§ पा० सू० ५. ३. ३७. ।

¶ ‘अत एवातीवसम्भिन्नदेशावस्थानेन’— इति च ।

॥ ‘प्रतिबद्धजातयो’— इति च । \*\* ‘स्थितवन्तः’— इति च ।

†† ‘साधना इति’— इति च ।

मनुष्याणां कामं रोहिमेति । ‘मनुष्याणां’ ‘कामः’ भोग्यवस्तु-  
विषयः, तत्पूरणसामर्थ्ययोग्येन तं प्राप्नुयामेत्यर्थः । “य मु  
ह्वेवेति । रोहिण्याधानेन काम्यमानं भोग्यवस्तुजातं पूरण-  
सामर्थ्यायोगात् ‘मनुष्येषु’ अवस्थितं ‘य मु’ य मेव ‘कामं’  
प्राप्नुवन्, ‘तम्’ एव ‘पशुषु’ अवस्थितं रोहिण्या माधानतः  
प्राप्नोति \* । एत मेव सर्वे जना उपजीव्यत्वेन कामयन्त इति  
भावः ॥ ७ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रयंसति — “मृगशीर्ष इति । पुरा  
खलु प्रजापतिः मृगरूप † मास्थाय मृगीभूतां खदुहितर मप्या-  
गमत् ‡ । “एतद्वा इति । एतत् ज्ञात्वा अकार्यकारिणः  
प्रजापतेः शिरः क्लृप्तुं देवाः कञ्चित् क्रोधमयं पुरुषं निर्माय  
प्रत्यतिष्ठन् । स चेष्टुणा तस्य शिरश्छिन्देत् । तच्च मृग-  
शरीरं मिषुच्छिन्नशिरश्चेत्येतदुभय § मन्तरिक्षं मुत्प्लुत्य नक्षत्रात्म-  
नावस्थितं सन्दृश्यते । तथा चैतरेयकम् — “प्रजापतिर्वै स्वां  
दुहितरं सस्रध्यायत्” — इत्युपक्रम्य “सो एवेषुस्त्रिकाण्डा” — इत्यन्ते-  
नाय मर्थः प्रतिपादितः ¶ । ईदृशी व्युत्पत्त्यन्तरप्रसिद्धिरपि ‘वै’-  
शब्देन द्योत्यते ॥ । “श्रीर्वैशिर इत्यादि । व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

तदेतन्मृगशीर्षाधानं निषेधति — ‘अथ यस्माच्चेति । मृग-  
शीर्षाधानं न कार्यम्, अत्र हेतुः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । कोऽसौ  
हेतुः ? त माह — ‘प्रजापतेरिति । मृगशीर्षाख्यस्य नक्षत्रस्य

\* “यो रोहिण्या मणि माधत्ते, ऋधोत्येव” — इति तै० ब्रा० १.१.२.२ ।

† ‘कृष्णमृगरूप’ — इति च ।

‡ ‘मेवोपागमत्’ — इति च ।

§ ‘इषुः शिरश्छेद्येतदुभय’ — इति च ।

¶ ऐ० ब्रा० ३. ३. ६ ।

॥ ‘प्रतिपाद्यते’ — इति क, ज ।

प्रजापतिशरीरत्वं माह— ‘यत्न’ यस्मिन् समये ‘एनं’ प्रजापतिं  
 मृगरूपम्, \* ‘तत्’ तेन स्वदुहिदृष्टगमनरूपेण दोषेण हेतुना  
 देवाः ‘अविध्यन्’, ‘तत्’ तदानीं पत्रदारुशल्करूपावयव-  
 त्रयोपेतेन † ‘इषुणा’ खलु तच्छिरश्छिन्नम् ‡ ‘इत्याहुः’ ब्रह्मवा-  
 दिनः । ‘सः’ च प्रजापतिस्तदानीम् ‘एतच्छरीरम्’ त्यक्तवान् । अतो  
 निरात्मकत्वात् ‘निर्वीर्य’ नक्षत्रात्मनावस्थितं मृगशिरः ‘वास्तु’  
 शून्यस्थानम् । यत एवात्मना त्यक्तम्, अत एव ‘शरीर’ विशरण-  
 शीलम् ; अतएव च ‘अयन्नियं’ यज्ञानर्हम्, न हि मृगशरीरस्य  
 यज्ञात्मत्वं सम्भवति । ‘तस्मात्’ तदात्मके मृगशीर्षाख्ये नक्षत्रे  
 आधानं न युक्तमित्यर्थः ॥ ८ ॥

इमं दोषं परिहरन् प्रागुक्तं मेव पक्षं निगमयति—  
 “तद्वैवेति । “देवस्येति । मनुष्येण त्यक्तस्य वास्त्वादिरूपत्वम्,  
 अयं हि प्रजापतिर्देवः, तेन त्यक्तस्य तत्त्वाभावात् वास्त्वादि-  
 रूपो दोषो नास्ति ; मृगरूपस्य शिरः स्वमहिम्नैव नक्षत्र-  
 रूपत्वं सम्पन्नम्, न खलु मानुषं शिरस्तथा भवितुमर्हति ।  
 तस्मात् तच्चाधाने नोक्तदोष इत्यर्थः ॥

पुनर्वस्त्राख्यस्य नक्षत्रस्य लिङ्गवशात् पुनराधेय-विषयता  
 माह— “पुनर्वस्त्रोरिति । आहितानां मध्यग्नीनां पुनर्वस्त्रा-  
 भिन्नवशादाधानं पुनराधेयम् § । नक्षत्रं चैतत् नष्टं वसुनः

\* ‘क्षणाद्वृत्तिरूपम्’—इति च ।

† “ ‘त्रिकाण्डा’ अनीकं, शालाः, तेजः मित्यवयवत्रयोपेता—” इति  
 ऐ० ब्रा० ३. ३. ८. सा० भा० । ‡ ‘च्छिन्नन्ति’—इति छ. ज ।

§ ‘पुनराधेयं माध्यागप्रतिज्ञातस्य’—इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि  
 ( का० श्रौ० सू० ११. १. —१५. ) ।

पुनःप्राप्तिहेतुत्वात् पुनर्वस्वाख्यम् \* । तथाच तैत्तिरीयके स्पष्ट  
मास्नातम्—“स पुनर्वस्वोरग्नि मादधीत, पुनरेवैनं वामं  
वसूपावर्त्तते”—इति † ॥ १० ॥

“फलगुनीष्वग्नी इति । पूर्वोत्तरफलगुन्याख्ययोर्नक्षत्रयोः  
प्रत्येकं मध्विधानद्वित्वयोगात् द्वित्वम् । फलगुनीनामोपजीवनेन  
प्रशंसति—“एता वा इति । कथं मस्य नक्षत्रस्येन्द्रसम्बन्ध इत्यत  
आह—“अप्यस्येति । ‘अस्य’ इन्द्रस्य प्रतिनिधिभूताः फलगुन्यः  
सम्भाव्यते । ‘अपि’ सम्भावनार्थः । प्रतिनिधित्वं च समान-  
शब्दाभिधेयत्वादित्याह—“अर्जुनो इति । ‘अर्जुनः’ ‘इति’  
हि इन्द्रस्य रहस्यं नाम ; अत एव खलु तत्पुत्रे पाण्डुमध्यमे  
प्रवृत्तिः । अर्जुनफलगुनशब्दौ च पर्यायी ; अर्जुनः फलगुनः  
पार्थ इति समानार्थपरिगणनात् । ‘अर्जुन्यः’ एव ‘एता’,  
पारोक्ष्येण ‘फलगुन्य इति’ उच्यन्ते । न तु किं पारोक्ष्येणेत्यत  
आह—“कोऽर्हतीति । अतः फलगुनीशब्दस्य परम्परयेन्द्रोप-  
लक्षकत्वात् तन्नामकं नक्षत्रम् । “इन्द्रो वा इत्यादि, स्पष्टम् ।  
फलगुनीषु पूर्वोत्तरत्वमुपजीव्य हितमाधानं प्रशंसति—  
“पूर्वयोरित्यादिना ‡ । “पुरस्तात् क्रतुरिति । पूर्वस्मिन्ना-  
गामिनि कालेऽग्निष्टोमादिलक्षणः ‘क्रतुः’ शीघ्रं सिद्धयतीत्यर्थः ।  
“स्वःश्रेयसमित्यादि । उक्तार्थम् § ॥ ११ ॥

\* ‘पुनर्वस्वोः’—इति का० श्रौ० सू० ४. ११. ५ ।

† तै० ब्रा० १. १. २. ३ ।

‡ “पूर्वयोः फलगुन्योरग्नि मादधीत”—इत्यादि, “उत्तरयोः फलगुन्यो-  
ग्नि मादधीत”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. १. २. ४ ।

§ “कृत्तिकारोहिणीमृगशिरःफलगुनीषु”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. २ ।



“हस्तेऽग्नीत्यादि । निगदसिद्धम् । स्वहस्तेन ‘यत्’ खलु दानम्, ‘तद्’ एव ‘अनुष्ठा’ अनुष्ठानेन समीचीनम् । अतो हस्तनक्षत्रे अन्याधानात् परकर्तृकं हस्तेन दानं प्राप्नोतीति तात्पर्यार्थः \* ॥ १२ ॥

“चित्राया मित्यादि । “आरुरुक्षाश्चक्रुरिति । आरोढु मिच्छां कृतवन्त इत्यर्थः । अमु मिति ‘अदस्’-शब्देन पारोक्ष्येण यो लोको निर्दिष्टः, तं विशिनष्टि— “दिव मेवेति । ‘ततः’ अनन्तरम् ‘असुराः’ ‘रौहिण मिति’ एतन्नामकं रोहणसाधनम् ‘अग्निं’ ‘चित्रे’ । व्यत्ययेनैकवचनम्, † ‘चित्रिरे’ वितवन्तः । “अग्नेनेत्यादि । अष्टम् ॥ १३ ॥

“इन्द्रो हेति । “इमं चेत्यादि । यम् ‘इमम्’ अग्निं वयं चेत्यामः, इम मेव चेदसुरा अपि चिन्वीरन्, ‘ततः’ तस्मात् ‘एव’ साधनात् ‘नः’ अस्मान् ‘अभिभवन्ति’ असुराः, अभिभवितुं समर्था भवन्ति । ‘इति’ विचार्य, ‘सः’ इन्द्रः ‘ब्राह्मणः’ भूत्वा असुरहितं ब्रुवाण एव ‘एका मिष्टकां’ ‘प्रबध्य’ गृहीत्वा ‘इयाय’ जगाम ॥ १४ ॥

“स होवाचेति । गत्वा च तान् असुरान् ‘उवाच’ । ‘अहम्’ अपि ‘इमाम्’ इष्टकां भवदीयेऽग्नी ‘उपदधे’ उपधानं करवाणि ‘इति’ । ‘तथा इति’ तैरनुज्ञातः, ‘ताम्’ इष्टकां तत्र ‘आधत्’ । अन्यदीये चयने अन्यदीयेष्टकोपधानं मशास्त्रीय मित्येतस्मात् ‘अप्यकादेव’ श्लेषात् ‡ ‘तेषाम्’ असुराणाम् ‘अग्निः’ असम्यक् चितो विकल्पो बभूव ॥ १५ ॥

\* “हस्ते लाभकामस्य”— इति का० श्री सू० ४. ७. ३ ।

† पा० सू० १. ४. ६ । ‡ अग्ने भंशो यथोचितात्— इत्यमरः २. ८. २३ ।

‘अथ होवाचेति । ‘अथ’ कालान्तरे स एव ब्राह्मणरूप इन्द्रः तानसुरान् ‘उवाच’ । ‘इह’ अस्मिन् चित्तप्रदेशे ‘या’ ‘मम’ इष्टका, ‘ताम्’ ‘आदास्ये’ इत्युक्त्वा तत्समीपं मभिप्राप्य, ‘ताम्’ इष्टकाम् ‘आववर्ह’ \* उद्ययाम, तस्मात् स्थानादचालय-  
दित्यर्थः । “बृह उद्यमने”—इति † धातुः । ‘तस्यां’ चैष्टकायां चित्याग्नेः सकाशाच्चालितायां सत्यां, सः ‘अग्निः’ ‘व्यवशमाद’‡ विशीर्णी बभूव । तदनन्तरं तस्मैतारः ‘असुराः’ च ‘व्यवशेदुः’§ व्यवसन्नाः ¶ शिथिला बभूवुः । “स ता इत्यादि स्पष्टम् । “होवा इति । असुरसम्बन्धिनीः ॥ १६ ॥

“ते ह देवा इति । चित्रास्येष्टका । अस्या एवं चित्र-  
हेतुत्वात् ‘चित्रा’ नाम सम्पन्नमित्यर्थः । “चित्रं हेत्यादि निगद-  
सिद्धम् । “तस्मादेतदित्यादि । यस्मादुक्तरीत्या चित्रा-  
नक्षत्रस्य शत्रुहृन्ननसाधनत्वम्, ‘तस्मात्’ आधाने ‘क्षत्रिय एव’  
‘एतत्’ नक्षत्रं (‘उपेक्षेत्’) स्वेकुर्यात् ॥ । तत्र कारणमाह—  
“जिघांसतीवेति । ‘एषः’ खलु क्षत्रियः अन्यान् शत्रून्  
‘जिघांसति’ इन्तु मिच्छति ‘इव’, तथा ‘विजिगीषते’ इव विजेतु  
मिच्छतीव । तस्माच्छत्रुहृन्ननकामस्य क्षत्रियस्यैवैतन्नक्षत्रम्,  
नान्यस्येत्यर्थः \*\* ॥ १७ ॥

\*—† ‘आववर्ह’—इति, ‘बृह’—इति च क—पाठौ, मतान्तरेऽस्ति  
चैव धातुरन्त्यस्य पूर्वोऽपि । ‡ ‘अवशमाद’—इति क ।

§—¶ ‘अवशेदुः’—इति च । ‘अवशमाद’—इति क, ज ।

॥ “स चित्राया मग्निमादधीत”—इत्यादि तै० ब्रा० १. १. २. ६ ।

\*\* “चित्रायां क्षत्रियस्य”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ४ ।

सूर्येणापहृतवीर्याणि कृत्तिकादिमक्षत्राण्यनादृत्य तेजस्विनि सूर्यात्मके नक्षत्रे उद्यति सति आधानं कार्यं मित्याह—“नाना ह वा इति । पुरा खलु कृत्तिकादिनक्षत्रमण्डलानि सूर्यमण्डल-  
वत् तेजस्विन्येव बभूवुः । ‘एषः’ खलु ‘सूर्यः’ ‘उद्यन्’ क्षत्रं तेजः सामर्थ्यं च उदय माप्नुवन् ‘एव’ तेषां ‘वीर्यं’ ‘आदत्त’ स्वीकृतवान् । ‘तस्मात्’ आदानात् ‘आदित्यः’ इति उच्यते ॥ १८ ॥

नक्षत्रनामधेयं निर्वक्ति—“ते हेति । ‘यानि’ खलु पुरा ‘क्षत्राणि’ ‘अभूवन्’, ‘तानि’ इदानीं सूर्येण क्षत्रगुणस्यापहृत-  
त्वात्, न विद्यते क्षत्र मेधा मिति व्युत्पत्त्या ‘नक्षत्राणि’ सम्प्रदा-  
नीत्यर्थः । यस्मादेवं कृत्तिकादीन्यपहृतवीर्याणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् सूर्यात्मके ‘एव’ तेजस्विनि नक्षत्रे आधानं स्यात् \* ।  
तत्र हेतु माह—“एष हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘एषः’ सूर्यः ‘एषां’ नक्षत्राणां वीर्यादिकम् ‘आदत्ते’, तस्मात् सवीर्यं तस्मि-  
न्नाधानं युज्यत इत्यर्थः । यदि च यजमानः तत्तत्पूजार्थं नक्षत्रकामः स्यात्, तदानीं मपि सूर्यात्मक मेव नक्षत्रं सुपा-  
ददीतित्याह—“एतहा इति । ‘अनपराद्धम्’—इति हेतु-  
गर्मविशेषणम् । यतस्तेजोवियोगलक्षणापराधरहितम् अतस्तदेव सूर्यात्मकं नक्षत्रं कामयेतेत्यर्थः । तेन कृत्स्ननक्षत्राणां प्राप्ति माह—“स एतेनैवेति । ‘एतेनैव’ सूर्येणोद्यता पुण्यकालात्मना

---

\* सूर्यो नक्षत्रं कालोपलक्षणं यस्य सोऽयं सूर्यमक्षत्रः; सूर्या-  
पेक्षिते एव काले आदधीत, न नक्षत्रोपलक्षिते इत्यर्थः । कथं तत् सूर्यकालं  
लक्षयति ? उदगयनम्—इत्याद्यादिह हरिस्वामी ।

कृत्स्ननक्षत्रेष्वध्याधानफलं मुपगच्छेत् । 'तस्मात्' सूर्यात्मके  
एव नक्षत्रे उच्यति सति आधानं स्यात्, न रात्रा-  
वित्यर्थः \* ॥ १८ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* (१) "अग्नेः कृत्तिकाः ०००। (२) प्रजापते रोहिणी ०००।  
३) सोमस्येन्वका [ ऋगशिराः ] ०००। (४) रुद्रस्य बाहू [ आर्द्रा ]  
०००। (५) अदित्यै पुनर्वसू ०००। (६) बृहस्पते स्तिष्ठः [ पुष्यः ]  
०००। (७) सर्पाणां मञ्जेषाः ०००। (८) पितॄणां मघाः ०००।  
(९) अर्यमणः पूर्वं फल्गुनी ०००। (१०) भगस्योत्तरे ०००।  
(११) देवस्य सवितुर्हस्तः ०००। (१२) इन्द्रस्य चित्रा ०००। (१३) वायो-  
निष्ठा [ स्वाती ] ०००। (१४) इन्द्रायिवोर्विश्राखे ०००। (१५) मित्र-  
स्यानूराधाः ०००। (१६) इन्द्रस्य रोहिणी [ ज्येष्ठा ] ०००। (१७) निर्वृत्यै  
मूलबर्हिणी ०००। (१८) अपां पूर्वाषाढाः ०००। (१९) विश्वेषां देवानां  
मुक्तराः ०००। (२०) विष्णोः श्रोणा [ श्रवणा ] ०००। (२१) वसूनां  
श्रविष्ठाः [ धनिष्ठाः ] ०००। (२२) इन्द्रस्य शतभिषक् ०००।  
(२३) अजस्यैकपदः पूर्वं प्रोष्ठपदः ०००। (२४) अह्वेबुध्नियस्योत्तरे  
०००। (२५) पूषो रेवती ०००। (२६) अश्विनोरश्वयुजौ ०००।  
(२७) यमस्यापभरणीः ०००।— "इति तै० ब्रा० १. ५. १ अ०। ततो-  
ऽग्रे २अ०—(२८) "अभिजिन्नाम नक्षत्रं मुपरिष्ठादषाढाणां मधस्ताच्छ्रो-  
णायै"—इत्यादि उत्तराषाढानक्षत्रस्य यच्चतुर्थः पादः, श्रवणनक्षत्रस्य  
च यः प्रथमः पादः, तदुभयं मिलित्वा नक्षत्रसन्धिरूपं मभिजिदाख्यं किञ्चि-  
न्नक्षत्रम्—इति च तत्र सा०। अत्र च "कृत्तिकाः प्रथमं विश्राखे  
उत्तमम्, तानि (१—१४) देवनक्षत्राणि; अनूराधाः प्रथमं मपभरणी-

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

व्यसन्तो यीष्मो व्यर्षाः \* । ते देवा ऋतवः शर-  
क्षेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्द्धमांसः स  
देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः  
पितरः पुनरङ्गः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥ १ ॥

ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवाः पितरः स यो हैवं  
व्विद्वान् देवाः पितर इति ह्वयत्या हास्य देवा  
देवह्वयं गुच्छन्त्या पितरः पितृह्वयं मुवन्ति हैनं देवा  
देवह्वयेऽवन्ति पितरः पितृह्वये य एवं व्विद्वान् देवाः  
पितर इति ह्वयति ॥ २ ॥

स यत्रोदङ्डावर्त्तते† । देवेषु तर्हि भवति‡ देवां-  
स्तुर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्त्तते पितृषु तर्हि  
भवति पितृस्तुर्ह्यभिगोपायति ॥ ३ ॥

स यत्रोदङ्डावर्त्तते§ । तर्ह्यग्नी ऽआदधीतापहत-

रुत्तमम्, तानि ( १५-२८ ) यमनक्षत्राणि । यानि देवनक्षत्राणि, तानि  
दक्षिणेन परियन्ति ; यानि यमनक्षत्राणि, तान्युत्तरेण । ००० । यान्येव  
देवनक्षत्राणि, तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात् ; पुण्याह एव कुरुते—इति च  
तत्रैव तत् उत्तरम् ।

\* 'व्यर्षाः'—इति ग, घ ।

†, § 'दङ्गावर्त्तते'—इति क । 'दगावर्त्तते'—इति ग, घ ।

‡ 'भवति'—इति च दृश्यो डा०-वेबरेण ।

पाप्मानो देवा अप पाप्मानः हतेऽमृता देवा  
 नामृतत्वस्याशस्ति सर्व मायुरेति यस्तुर्ह्याधत्तेऽथ  
 यत्र दक्षिणावर्त्तते यस्तुर्ह्याधत्तेऽनपहतपाप्मानः  
 पितरो न पाप्मान मपहते मर्त्याः पितरः पुरा  
 हायुषो म्रियते यस्तुर्ह्याधत्ते ॥ ४ ॥

ब्रह्मैव व्वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षा-  
 स्तस्माद् ब्राह्मणो व्वसन्तऽआदधीत ब्रह्म हि व्वसन्त-  
 स्तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्मऽआदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्म-  
 स्तस्माद्देश्य वर्षास्वादधीत विडि व्वर्षाः ॥ ५ ॥

स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी स्या मिति व्वसन्ते  
 स आदधीत ब्रह्म वै व्वसन्तो ब्रह्मवर्चसी हैव  
 भवति ॥ ६ ॥

अथ यः कामयेत । क्षत्रं श्रिया यशसा स्या मिति  
 ग्रीष्मे स आदधीत क्षत्रं वै ग्रीष्मः क्षत्रं हैव श्रिया  
 यशसा भवति ॥ ७ ॥

अथ यः कामयेत । बहुः प्रजया पशुभिः  
 स्या मिति वर्षासु स आदधीत विड् वै वर्षा अन्नं  
 विशो बहुहैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विडान्  
 वर्षास्वाधत्ते ॥ ८ ॥

ते वा ऽएत ऽऋतवः । उभय ऽएवापहतपाप्मानः  
सूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्तोद्यन्नेवैषा मुभयेषां पाप्-  
मान मुपहन्ति तस्माद्यद्वैतं कदा च यज्ञोऽपनुमे-  
दध्याग्नी ऽआदधीत नु श्वःश्व मुपासीत को हि मनु-  
ष्यस्य श्वो व्येद ॥ ८ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [१.३.] ॥

अथाधानस्य वसन्ताद्यृतुविध्यं मृत्वादीनां देवपित्रात्मना  
द्वेधा विभाग माह— “वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्यृतुसमये  
देवानां सूर्यदर्शनादहर्भवतीति तेषां तादात्म्यम् ; शरदादीनां  
तद्द्वैलक्षण्यात् पितरूपत्वम् । “य एवापूर्यत”—इत्यादि, निगद-  
सिद्धम् ॥ १ ॥

“ते वा एत ऋतव इति । “स यो हैवं विद्वानित्यादि ।  
एव मृतूनां देवत्वं पितृत्वं च ‘विद्वान्’ तान् ऋतून् ‘देवाः  
पितरः’ ‘इति’ ‘ह्वयति’ व्यवहरेदित्यर्थः । तस्य फल माह—  
“आ हास्येति । ‘अस्य’ आह्वातुः ‘देवहूयं देवाह्वानं प्रति देवा  
आगच्छन्ति, तथा ‘पितृह्वयं’ पितृक माह्वानं प्रति पितरोऽप्या-  
गच्छन्ति । आगताश्च ते स्वसम्बन्धे कर्मणि ‘एनम्’ आह्वाता-  
रम् ‘अवति’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

आधानस्योदगयनं कालं विधित्सुर्ह्वयोरप्यनयोर्देवपितृ-  
सम्बन्धं क्रमेणाह— “स यवेति । ‘सः’ सूर्यो यस्मिन् काले  
दक्षिणगोलादुत्तरगोलं प्रति ‘उदङ्’ पर्यावर्तते, ‘तर्हि’ तदा,  
तस्मिन् समये मेरोरुपरिभागेऽवस्थितानां देवानां स दृष्टि-

गोचरो भवतीति तेषु उदङ् 'देवेषु' प्रकाशो भवतीति । 'अथ' 'यत्र' यस्मिन् काले पुनरुत्तरगोलाद् दक्षिणगोलं पर्यावर्त्तते, तदा दक्षिणदिगवस्थितस्य प्रकाशः, स तु तेषु 'पितृषु' भवति ॥ ३ ॥

एव मुत्तरायणे दक्षिणायने च देवपितृसम्बन्ध मभिधाय, तत्सम्बद्ध माधान मपि तत्रैव कार्यं मिति विधत्ते—“स यत्रेति । “अपहृतपाप्मान इति । देवानां पापराहित्यात् मरणधर्मराहित्याच्च तत्सम्बन्धिन्ययनेऽन्याधानकारिणोऽपि तदुभयं सिद्ध्यतीत्यर्थः । दक्षिणायने आधातुरुक्तवैपरीत्य माह—“अथ यत्रेति ॥ ४ ॥

एव मुदगयनं विधाय तत्रापि ब्रह्मचत्रादिवर्णानुसारेण ऋतुव्यवस्थां करोति—“ब्रह्मैव वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्या ऋतवः जात्या ब्रह्मचत्राद्यात्मकाः, अतस्तेषां क्रमेण तत्तज्जात्याधानकालत्वम् \* ॥ ५ ॥

एवं नित्यपक्ष मभिधाय काम्यपक्ष माह—“स य इति । “ब्रह्मवर्चसी हैवेति । ब्राह्मणजात्यात्मके वसन्ते आधानात् क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणतेजस्सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । एव मुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ६ ॥

“अथ यः कामयेतेति । “क्षत्रं श्रियेति । क्षत्रियजातेरपि 'श्रिया' सम्पदा कीर्त्या च क्षत्रात्मकः स्या मिति काम्यमानस्य ब्राह्मणादेः ग्रीष्म आधानकाल इत्यर्थः ॥ ७ ॥

\* “वसन्तो ब्राह्मण-ब्रह्मवर्चसकामयोः, ग्रीष्मः क्षत्रिय-श्रीकामयोः, वर्षाः प्रजापशुकाम-वैश्वरथ्यकृताम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ५, ६, ७ । “शिष्टिरः सार्ववर्णिकः”— इति च ग्राखान्तरम् ।



“अथ यः कामयेतेति । बहुप्रजापश्वादिसृष्टिकामस्य वैश्यस्यापि तत्फलप्राप्तये वर्षास्वाधानं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एव मयनविशेषं सृष्टिविशेषं चाभिधाय पक्षान्तरं च वक्तुं सर्वेषां मप्यृतूनां पापसम्बन्धराहित्यं माह — “ते वा एत इति । “उभय एवेति । देवपितृसम्बन्धितया द्विधा प्रतिपादिता एवेत्यर्थः । पापराहित्ये कारणं माह — “सूर्य एवेति । यस्मात् देव सर्वोप्यृतवः पापराहित्येन शुद्धाः, ‘तस्मात्’ यस्मिन् कस्मिन्श्चिद्वृत्तौ सोमयागं मभिमगच्छेत्, ‘अथ’ अनन्तरं मेव अग्न्याधानं कुर्यात् ; “न श्वः-श्वं सुपासीतेति । ‘श्वः करवाणि’-इत्येवं कालान्तरप्रतीक्षा न कुर्यात् । तत्र हेतुं माह — “को हीति । ‘मनुष्यस्य’ ‘श्वः’ श्वःकालसम्बन्धि जीवनं ‘कः’ नाम ‘वेद’ जानीयात् ? आयुषोऽस्थिरत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥ ३ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

यद्दुहरस्य श्वोऽग्न्याधेयः स्यात् । द्विवैवाग्नी-  
यागमनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतच्छ्रो-

ऽग्न्याधेयं विदुस्तेऽस्य विग्ने देवा गृहानागच्छन्ति  
तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसयुः ॥ १ ॥

तुन्वेऽवानवकृप्तं यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वो-  
ऽग्नीयादथ किं मु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽग्नीयात्  
तस्मादु दिवैवाग्नीयात्तदपि† काम मेव नुक्त मग्नीयातो  
ह्यनाहिताग्नेव्रतचर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद्भवति  
यावदनाहिताग्निस्तस्मादपि काम मेव नुक्त मग्नी-  
यात् ॥ २ ॥

तद्वैकेऽज मुपव्वधन्ति । आग्नेयोऽजोऽग्नेरेव  
सर्व्वत्वायेति व्वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्यथाजः  
स्यादग्नीध एवैनं प्रातर्दद्यात्तेनैव तं काम माप्नोति  
तस्मादु तन्नाद्रियेत ‡ ॥ ३ ॥

अथ चातुष्प्राश्य मोदनं पचन्ति । कुन्दाऽस्यनेन  
प्रीणीम इति यथा येन व्वाहनेन खन्तखन्तस्यात्तत्  
सुहितं कर्त्तवै ब्रूयादेव मेतदिति व्वदन्तस्तदु तथा न  
कुर्याद्यद्वा ऽअस्य ब्राह्मणाः कुले व्वसन्त्यृत्विजश्चा-

\* 'तुन्वे'—इयि क, ख, ड ।

† 'तदपि'—इति च डा०-वेबरे दृष्टः ।

‡ 'तं नाद्रियेत'—इति ख, डा०-वेबरेण च दृष्टः ।

नृत्विजश्च तन्नैव तं काम माप्नोति तस्माद् तन्ना-  
द्रियेत \* ॥ ४ ॥

तस्य सर्पिंरासेचनं कृत्वा । सर्पिरासिच्याश्व-  
त्थीस्त्रिषुः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृत-  
वतीभिर्हस्तिभिरभ्यादधति शमीगर्भं मेतदाप्रुम इति  
वृद्धन्तः स यः पुरस्तात्संवत्सरं मभ्यादध्यात् स ह तं  
काम माप्नुयात् तस्माद् तन्नाद्रियेत † ॥ ५ ॥

तद् होवाच भ्रातृवेयः § । यथा वा ऽअन्यन्त-  
करिष्यन्त्सोऽन्यत् कुर्याद्यथान्यर्वादिष्यन्त्सोऽन्यद्वन्द्व-  
यान्येन पृथैष्यन्त्सोऽन्येन प्रतिपद्येतैवं तद्य एतं चातु-  
ष्पाश्व मोदनं पुचेदुपराद्विरेव सेति न हि तदव-  
कल्पते यस्मिन्नग्नावृचा वा साम्ना वा यजुषा वा  
समिधं वाभ्यादध्यादाहुतिं वा जुहुयाद्यत्तं दक्षिणा  
वा हरेयुरुनु वा गमयेयुर्दक्षिणा वा ह्येनं हरन्त्य-  
न्वाहार्यपचनो भविष्यतीत्यनु वा गमयन्ति ॥ ६ ॥

अथ जायति जायति देवाः ¶ । तद्देवानेवेतदुपा-

\*, † 'तं नाद्रियेत'— इति ख, डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'सर्पिं'— इति च दृष्टो वे० ।

§ 'भ्रातृवेयो'— इति क, ड ।

¶ 'देवाः'— इति ग, घ ।

॥ 'देवा । स्तु'— इति क, ड ।

वर्त्तते स सदेवतरः \* खान्ततरस्तपस्वितरोऽग्नी  
 ऽआधत्ते तदपि काम मेव स्वप्यान्नो ह्यनाहितानेर्ध्वं त-  
 चर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद् भवति यावदनाहि-  
 तान्निस्तस्मादपि काम मेव स्वप्यात् ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽनुदिते मथित्वा † । त मुदिते प्राञ्च मुञ्च-  
 रन्ति तदु तदुभे ऽअहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोदानयो-  
 र्मनसश्च व्याचक्ष पर्याप्ता ऽइति व्वदन्तस्तदु तथा न  
 कुर्यादुभौ हैवाख्य तथानुदित ऽआहितौ भवतो-  
 ऽनुदिते हि मथित्वा त मुदिते प्राञ्च मुञ्चरन्ति स  
 य उदित ऽआहवनीयं मन्येत् स ह तत्पर्याप्नु-  
 यात् ॥ ८ ॥

अहव्यैः देवाः ‡ । अनपहतपाप्मानः पितरो न  
 पाप्मान मपहते मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते  
 योऽनुदिते मन्यत्यपहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानं  
 हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशस्ति सर्व मायुरेति  
 श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह भवति य  
 एवं विद्वानुदिते मन्यति ॥ ९ ॥

\* 'सदेवतरः'—इति ग, घ ।

† 'मथित्वा'—इति ग, घ ।

‡ 'देवाः'—इति ग, घ ।

तदाहुः । यन्नऽर्चान् साम्ना न यजुषाम्नि-  
राधीयतेऽथ केनाधीयत इति ब्रह्मणो ह्येवैष ब्रह्मा-  
णाधीयते व्याग्वै ब्रह्मा तस्यै व्याचः सत्य मेव ब्रह्मा ता  
वा एताः सत्य मेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य  
सत्येनैवाधीयते ॥ १० ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । इमा \* मजनयत भुव  
इत्यन्तरिक्षं स्वरिति दिव मेतावदा इदं सर्वं  
यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥ ११ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । ब्रह्मा†जनयत भुव  
इति क्षत्रं स्वरिति विश्व मेतावदा इदं सर्वं  
यावद् ब्रह्मा क्षत्रं विट् सर्वेणैवाधीयते ॥ १२ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मान‡ मजनयत  
भुव इति प्रजां स्वरिति पशुनेतावदा इदं सर्वं  
यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वेणैवाधीयते ॥ १३ ॥

स वै भूर्भुव इति । एताऽवतैव गार्हपत्य माद-  
धायथ यत्सर्व्वैरादध्यात्केनाहवनीय मादध्याद् द्वे

\* 'प्रजापति । रिमा'— इति क, छ ।

† 'प्रजापति । ब्रह्मा'— इति क, छ ।

‡ 'प्रजापति । आत्मान'— इति क, छ । § 'इत्ये । ता'— इति छ ।

ऽअक्षरे परिशिनष्टि तेनो ऽएतान्युयातयामानि  
भवन्ति तैः स्रुवैः पञ्चभिराहवनीय मादधाति भूर्भुवः  
स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि सम्पद्यन्ते ऽष्टाक्षरा वै  
गायत्री गायत्र मग्नेऽश्विनः स्वेनैवैन मेतच्छन्दसा-  
धत्ते ॥ १४ ॥

देवान्ह वा ऽअग्नी ऽआधास्यमानान् । तान\*-  
सुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जरिष्यते नाग्नी आधा-  
स्यध्व ऽइति तद्यदुरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि ॥ १५ ॥

ततो देवा एतं वृज्जं ददृशुः । यदृश्वं† तं पुर-  
स्तादुदश्वयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्मा-  
द्युवाग्निं मन्थिष्यन्त्यात्तदृश्व मानेतवै ब्रूयात् स  
पूर्व्वेणोपतिष्ठते वृज्ज मेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेऽनाष्ट्रे  
निवातेऽग्निर्जायते ॥ १६ ॥

स वै पूर्व्वं ग्राह् स्यात् । स ह्यपरिमितं वीर्य्यं  
मभिवर्द्धते‡ यदि पूर्व्वं ग्राहं न विन्देदपि य एव कश्चाश्व  
स्याद्यश्वं न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादेष ह्येवानङ्गो  
वन्धुः ॥ १७ ॥

\* 'मानां । स्तान्'—इति क, ड ।

† 'ददृशुः । र्यदृश्वं'—इति क, ड ।

‡ 'वर्द्धते'—इति ड ।

तं यत्र प्राञ्चः हरन्ति । तत्पुस्तादुश्वं नयन्ति  
तत्पुस्तादेवैतन्नाष्ट्रा रुचास्त्रपन्ननेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण  
हरन्ति ॥ १८ ॥

तं वै तथैव हरेयुः । यथैन \* मेष प्रत्यङ्दुपाचरे-  
देष वै यज्ञो यदग्निः प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रविशति तं  
क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङ्  
हैवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरे-  
त्पराङ्स्माद्यज्ञोऽभूद्वितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥ १९ ॥

एष उ वै प्राणः † । तं ‡ वै § तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेष प्रत्यङ्दुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ यस्मात् पराङ् भवति पराङ् हैवास्मात् प्राणो  
भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत् पराङ्स्मात्  
प्राणोऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तदैव स्यात् ॥ २० ॥

अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । यं वै तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेष प्रत्यङ्दुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रवि

\* 'हरेयुः' । 'यथैन'— इति ख, ड ।

† 'प्राणः'— इति ग, घ ।

‡ 'प्राण । स्त'— इति क, ड ।

§ 'वि'— इति च इत्यो डा०-वेवरेण ।

शति तं क्षिप्ते यज्ञ उ॒पनमत्यथ य॒स्मात् परा॒ङ् भुवति  
परा॒ङ् हैवा॒स्माद् य॒ज्ञो भवति स यो हैनं त॒त्रानुव्या-  
हरेत्परा॒ङ्स्माद् य॒ज्ञोऽभूदि॒तीश्वरो ह यत् तथैव  
स्यात् ॥ २१ ॥

एष उ वे प्राणः । तं \* वै † तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ य॒स्मात् परा॒ङ् भवति परा॒ङ् हैवा॒स्मात् प्रा॒णो  
भवति स यो हैनं त॒त्रानुव्याहरेत्परा॒ङ्स्मात् प्रा॒णो-  
ऽभूदि॒तीश्वरो ह यत् तथैव स्यात्तस्माद् तथैव  
हरेयुः ॥ २२ ॥

अथाश्व माक्रमयति । त॒ माक्रम॒य्य प्रा॒ञ्च भु॒न्न-  
यति तं पुनरावर्त्तयति त मुदञ्चं प्रमुञ्चति व्वीर्यं  
वा ऽअश्वो नेदस्मादिदं परा॒ग्वीर्यं मसदिति त॒स्मात्  
पुनरावर्त्तयति ॥ २३ ॥

त मश्वस्य पद ऽआधत्ते । व्वीर्यं वा ऽअश्वो  
व्वीर्यं ऽएवैन मेतदाधत्ते त॒स्मादु॒श्वस्य पद ऽआ-  
धत्ते ॥ २४ ॥

\* 'प्राण । स्त'—इति क. ड ; प्राणः । ते—इति ग, घ ।

† 'वै' इति च ङीष् डा० वेवरेण ।



स वै तूष्णीं मेवाय ऽउपस्पृशति । अथोद्यच्छत्य-  
थोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति  
त्रयो वा ऽइमे लोकान्तदिमानेवैतल्लोकानाप्नोत्ये-  
तन्त्वेकम् \* ॥ २५ ॥

अथेदं द्वितीयम् । तूष्णीं मेवाय ऽउपस्पृशत्यथो-  
द्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति यो वा  
ऽअस्या मुप्रतिष्ठितो भार मुद्यच्छति नैनं शक्नोत्यु-  
द्यन्तुं सः नैनं शृणाति ॥ २६ ॥

स यत्तूष्णीं मुपस्पृशति । तदस्यां प्रतिष्ठायां  
प्रतिष्ठितो सोऽस्यां प्रतिष्ठित आधत्ते तथा न  
व्यथते तदु हैतत्पञ्चैव दध्निर ऽआसुरिः पाश्चिर्मा-  
धुकिः सूर्वा वा ऽअन्यदियसित मिव प्रथमेनैवोद्यत्या-  
दध्याद् भूर्भुवः स्वरिति तदेवानियसित मित्यतो  
यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ २७ ॥

अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्द्धं मुल्लुकानां  
मभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव व्वरिम्णेति  
यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भुयास मित्येवैतदाह  
यदाह द्यौरिव भूमेति पृथिवीव व्वरिम्णेति यथेयं

पृथिव्यु र्येवमुर्भूयास मित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवि  
 देवयजनि पृष्ठ ऽइत्यस्यै ह्येनं पृष्ठ ऽआधत्तेऽग्नि  
 मन्नाद् मन्नाद्यायादध ऽइत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयास  
 मित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जपेदे-  
 तद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥ २८ ॥

अथ सर्पराज्ञा \* ऋग्भिरुपतिष्ठते । आर्यं गोः  
 पृथ्वीरक्रमीदुसदन्मातरं पुरः † । पितरं च प्रयुन्तस्वः ।  
 अन्तश्चरति रोचनाय प्राणादपानती । व्यव्यन्म-  
 हिषो दिवम् ॥ त्रिंशद्दाम विराजति व्वाक्पतङ्गाय  
 धीयते । प्रति वसोरुह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र  
 सम्भारैर्वा नक्षत्रैर्वर्तुभिर्विधानेन वानाप्तं भवति  
 तदेवास्त्येन सूर्वा माप्तं भवति तस्मात् सर्पराज्ञा  
 ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥ २९ ॥

तदाहुः । नु सर्पराज्ञा ऋग्भिरुपतिष्ठतेतीयं  
 वै पृथिवी सर्पराज्ञो स यदेवास्या माधत्ते तत्  
 सूर्वान् कामानाप्नोति तस्मात् सर्पराज्ञा ऋग्भ-  
 र्पतिष्ठतेति ॥ ३० ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [ १. ४. ] ॥

\* 'सर्पराज्ञा'—इति ऊ , एव मिहोत्तरत्रापि सर्वत्र । † 'पुरः'—इति क, ख ।

अग्न्याधेयदिवसात् पूर्वस्मिन् उपवसथदिवसे कर्त्तव्यं व्रतमुपदिशति— “यदहरस्येति । ‘दिवैव’-इत्येवकारेण रात्रावशनं व्यावर्त्तते । “मनो ह वै देवाः”—इत्यादि दर्शपूर्णमासिकप्रस्तावे प्रागेव व्याख्यातम् \* ॥ १ ॥

दिवैव भोजनं न रात्राविति प्रतिपाद्य पञ्चान्तरमाह— “तन्वेवेति । “तदपीति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘कामं’ यथोक्तं रात्रावपि ‘अग्नीयात्’ । तत्र कारणमाह— “नो ह्यनाहिताग्नेरिति । ‘न’ खलु ‘अनाहिताग्नेः’ व्रतचरणम् ‘अस्ति’; तस्येतरपुरुषवन्मानुषत्वात्; आहिताग्निर्हि संस्कारेण देवभावं प्राप्नोति व्रतचरणमर्हतीति भावः ॥ २ ॥

“तद्वैक इति । “अजमुपवध्नतीति । उपवसथदिवसस्य रात्रौ गार्हपत्यागारे कस्यचिदजस्य बन्धनं कार्यमित्येकेषां मतम् । तेषामभिप्रायमाह— “आग्नेयोऽज इति । अग्निना सह प्रजापतिमुखजातत्वात् ‘अजः आग्नेयः’ †; अतोऽजस्य सम्वन्धमाधीयमानस्य ‘अग्नेः’ ‘सर्वत्वाय’ कात्स्न्यायसम्पद्यते, ‘इति’ इममभिप्रायं वदन्त इत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति— “तदुतथा नेति । कथं तर्हि कार्यमिति, तदाह— “यदीति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अजः’ विद्यते चेत्, ‘एनम्’ अजम् ‘प्रह्वः’ आधानदक्षिणाकाले ‘अग्नीधे’ आग्नीध्राय ‘दद्यात्’ । तथाच

\* १. १. १. ७, ८ (१भा० २३८०) ।

† “प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स मुखतस्त्रिवृतं निर्मिमीत तमग्निर्देवतामन्वह्यन्त, गायत्रीच्छन्दो रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनाम् । तस्मात् ते मुख्या मुखतो ह्यह्यन्त”— इति तै० सं० ७. १. १. ६ ।

कात्यायनः— “गार्हपत्यागारेऽजं बध्नाति न वा, विद्यमानं प्रात-  
रग्नीध्रे दद्यात्”—इति \* । तेनैवेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मोदनपाकविधिं मतमेदकथनेनोक्तं प्रतिपादयति— “अथ  
चातुःप्राश्य मोदन मिति । चतुर्भिः अध्वर्युब्रह्मादिभिर्ऋत्विग्भिः  
प्राशितव्य मित्यर्थः । “हृन्दांस्यनेनेति । ‘अनेन’ ब्रह्मोदन-  
पाकेन गायत्रीतिष्ठुब्जगत्याख्यानि हृन्दांसि ‘प्रीणीमः’ तर्पयाम  
इत्यभिप्रायः । अस्योदनस्य चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशनं युक्त  
मिति दृष्टान्तेनोपपादयति— “यथेति । ‘येन वाहनेन’ अश्व-  
दिना ‘स्यन्त्यन्’ यास्यन् ‘स्यात्’, ‘तद्’ वाहनं ‘सुहितं’ सुष्टमं  
कर्तुं यथा ब्रूयात्, ‘एव मेतत्’; आदौ ऋत्विजां कर्मापयुक्तानां  
प्राशनं युक्त मित्यर्थः । स्यन्त्यन्निति “स्यन्दू अवणे †”—इत्य-  
स्मात्तटः सत्प्रदेशः ।

इमं प्राशनपचं निषिध्योपपादयति—“तद् तथेति । ‘ऋत्वि-  
जश्च अतृत्विजश्च ब्राह्मणाः’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘कुले वसन्ति’  
इति ‘यत्’, ‘तेनैव’ वाचेन ‘तं काम माप्नोति’, यः कामः प्राशन-  
निमित्तकः प्रागुक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

‘अथ पक्वस्योदनस्य कसृर्ह्युपयोग इत्याह— “तस्य सर्पि-  
रासेचन मिति । सर्पिरासिच्यतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेचनम्, घृत-  
धारणार्थं मोदनं निम्नं ‘कृत्वा’ इत्यर्थः । “सर्पिरासिचे-  
त्यादि स्पष्टम् । “समिहतीभिर्घृतवतीभिरिति । समिच्छद्-  
युक्ताभिर्घृतशब्दयुक्ताभिश्चेत्यर्थः । ताश्च कात्यायन उदाजहार—  
“आश्वत्थीस्तिस्त्रः समिधो घृताक्ता आदधाति समिधानि मिति

प्रत्युच मिति”—इति \* । समिदाधानं कुर्वता मभिप्राय माह— “शमीगर्भं मिति । शमीगर्भो योऽख्यः, तत्रस्थो योऽग्निः, तम्, ‘एतत्’ एतेनाख्यसमिदाधानेन ‘आप्नुमः’ ‘इति’ ब्रुवाण इत्यर्थः । तस्य च समिदाधानस्य कालविशेष माह— “स य इति । अग्न्याधानस्य ‘पुरस्तात्’ ‘यः’ यजमानः समिधः ‘अभ्यादध्यात्’, ‘सः’ खलु ‘तं कामम्’ प्राप्नुयात् । ‘तस्मात्’ समिदाधानार्थ एव ‘तत्’ प्राशनं नादरणीय मिति । निगमयति— “तस्मादिति ॥ ५ ॥

अस्मिन्नर्थे संवादं दर्शयति— “तद् होवाच भाल्लवेय इति । ‘तत्’ तत्र विषये इन्द्रद्युम्नः ‘भाल्लवेयः’ उक्तवान्† । कथं मिति ; तदाह— “यथा वा इत्यादि । ‘यथा’ ‘अन्यत्’ चिकीर्षतः ; तदनुपयुक्तस्यान्यस्य कारणं यथा व्यधिकरणत्वादसङ्गतम्, तथा अग्नीनाधिक्षताग्नावेव किञ्चित् कर्तव्यम् ‘एतत्’ चातुष्प्राश्यकरणं मसङ्गतम् ; अतोऽसमृद्धिर्क एव तथा-विधौदनपाक इति भाल्लवेयाभिप्रायः ॥

त मिसं दोषं परिहृत्य प्राशनपक्षमेव निगमयति— “न हि तदित्यादिना । ऋक्सामादिमन्त्रैर्यस्मिन्नग्नी समिध माहुतिं च प्रक्षिपेत्, तस्याग्नेर्दक्षिणाहरणं मनुगमनं च यदि स्यात्, सोऽग्निरन्वाहार्यपचनः । अन्वाहार्यः ओदनः, तस्य पाकहेतुर्भविष्यति । अतो दक्षिणाहरणं मनुगमनं वाहुतिसंस्कृतस्याग्ने-

\* का० श्रौ० सू० ४. ८. ५ ।

† इहैव पुनरुपरिष्ठादग्निस्त्यजे “इन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयः”— इति (१०. ६. १. १.) । अन्यत्र च— छा० उप० ५. ११. १ ।

नान्वकल्पते । अतः पक्षतण्डुलो न होमार्थः, किन्तु प्राशनार्थ इत्यभिप्रायः । गत मन्यत् ॥ ६ ॥

तस्यां रात्रौ यजमानस्य जागरणं विधत्ते— “अथ जाग्रतीति । व्यत्ययेन बहुवचनम्, जागर्तीत्यर्थः । “जाग्रति देवा इत्यादि । श्वः करिष्यमाणेष्वधाधानादिकर्मस्वङ्गभूता ये देवा उपवसथेऽहनि यजमानगृह मागताः, ते खल्वस्यां रात्रौ ‘जाग्रति’ जागरणं कुर्वन्ति । तेषु च जाग्रत्सु यजमानस्य स्वापो न युक्त इति तेन जागरणेन यजमानो ‘देवानिव’ जाग्रतः ‘उपावर्त्तते’ उपगता भवन्ति । ‘सः’ च यजमानः ‘सदेवतरः’ अतिशयेन देवसहितः । निद्राभावादिना अतिशयितं अम मासः । अन्याधानयोग्यतां जागरणवशात् प्राप्नोतीत्यर्थः । अथ स्वाप मप्यनुजानाति—“तदपीति ॥ ७ ॥

एवं रात्रौ नीताया माधास्यमानस्याग्नेर्मन्यनविषय मेकीयं मत मुपन्यस्यति— “तद्वैक इति । ‘अनुदिते’ सूर्योदयात् प्रागेवोषाकाले मन्यनं कार्यम् । सूर्यं चोदिते आहवनीयायं तस्य प्रागुद्गरणम् । एवं वदता मभिप्राय माह— “तदिति । तेन मन्यनोद्गरणयोः अहोरात्रसम्बन्धित्वेन, अत एव ‘अहोरात्रे’ ‘परिगृह्णीमः’ कर्माङ्गतया स्वीकुर्मः । तस्यापि प्रयोजन माह— “प्राणोदानयोरिति । अहोरात्रे परिग्रहस्य तद्रूपयोः ‘प्राणोदानयोः’ वाङ्मनसयोश्च ‘पर्याप्तिः’ प्रयोजन मित्येवं प्रतिपादयन्त इत्यर्थः । त मिमं पक्षं निषेधति— “न कुर्यादिति । तत्र दोष माह— “उभौ हैवेति । गार्हपत्याहवनीयो ‘उभौ’ अपि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अनुदिते’ रात्रावेव ‘आहिती’ भवतः । कथं मुभयोरनुदिते आधान मिति, तच्चाह— ‘अनुदिते हीति ।

‘अनुदिते’ मयितो योऽग्निः, स एवाहवनीयत्वेन स्थाप्यत इति तस्यापि रात्रिसम्बन्धो दुर्निवारः । तस्मात् ‘उदिते’ एव ‘आहवनीयम्’ अग्निं ‘मथ्येत्’ ॥ ८ ॥      ॥ ९ ॥

रात्रौ मय्यनस्य दोषाभिधानसाधनत्वं विधातुं प्रसूति—  
“तदाहुरिति । ऋक्सामयजुरात्मकास्त्रिविधामन्वाः, तैः ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्निः न आधीयते’, केन तर्हि स आधेय इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । तस्योत्तरम्— “ब्रह्मणो हेति । ब्रह्मणः सम्बन्धि यद् ब्रह्म, तेनाधानं कार्यम् । किमिति, तदुभयं दर्शयति— “वाग्वा इति । षष्ठ्यन्तेन निर्दिष्टं यद् ब्रह्म, तद् वागात्मकम् ; तस्या वाचः सम्बन्धि यद् वाक्यम्, ‘सत्यम्’ विद्यमानार्थप्रतिपादि, तत् ‘एव’ ‘ब्रह्म’ । तत्र वाचः सत्यं किमिति, तद् दर्शयति— “ता वा एता इति । ‘ताः’ एताः भूरादिव्याहृतयो यदुदीरितसत्यरूपाः, ‘तत्’ तस्मात् ‘अस्य’ यजमानस्य व्याहृतिभिरग्न्याधाने ‘सत्येनैव’ सोऽग्निराहितो भवति ॥ १० ॥

व्याहृतीनां सत्यरूपत्वं सुपपादयंस्तत्कारणक माधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । सृष्टिसमये प्रजापतिः ‘भूरिति’ अनया व्याहृत्या ‘इमां’ भूमिम् ‘अजनयत्’ । “भुव इत्यन्तरिक्षं मित्यादावप्येवं योजना । “इमे त्रयो लोका इति । यावदस्ति, एतावदेव हीदं सर्वं जगदतो भूरादिलोकहेतुभिराधीयमानोऽग्निरग्नेन ‘सर्वेणैव’ जगता आहितो भवति ॥ ११ ॥

ब्रह्मक्षत्रादिवर्णत्रयोत्पत्तिहेतुत्वेन तत्कारणक माधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः, ‘क्षत्रं’ क्षत्रियजातिः ॥ १२

आत्मप्रजापशुसर्जनहेतुत्वेन तत् प्रशंसति— “भूरिति वा

इति । “एतावद्वा इति । ‘इदं सर्वं’ सर्वजगत् ‘एतावद् वै’ एतावदेव । ‘यावत्’ स्वरूपेणावस्थितं स्वात्मभोगसम्पादनहेतवः ‘प्रजाः’ ‘पशवः’ चेति एतत्तितयान्तर्गतं मेव सर्वं जगत्, अनेन ‘सर्वेण’ सोऽग्निराहितो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं साधारण्येन व्याहृतीनां माधानसाधनत्वं प्रतिपाद्य, गार्हपत्याधाने विशेष माह— “स वा इति । हाभ्या मेव व्याहृतिभ्यां ‘गार्हपत्यम्’ ‘आदधाति’ । तिसृभिरपि व्याहृतिभिः गार्हपत्याधाने आहवनीयाधानस्य मन्त्रो न स्यात्, अतः सुवरिति ‘हे अक्षरे’ परिशेषयेत् । ‘तेन’ कारणेन परिशिष्टाक्षरद्वयसहितानि भूराव्यक्षराणि ‘अयातयामानि’ अगतसाराणि ‘भवन्ति’ । आहवनीयाधाने तिसृणां व्याहृतीनां विनियोग माह— सर्वैरिति । “तान्यष्टाक्षराणि”—इत्यादि निगदसिद्धम् । “गायत्र मन्त्रेऽष्टन्द इति । उभयोः प्रजापतिमुखजातत्वात् \* ॥ १४ ॥

अग्निमन्यनसमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारणं विधित्पुरिति-  
हासं दर्शयति— “देवानिति । ‘अग्नौ’ गार्हपत्याहवनीयौ । ‘ररक्षुः’ निरुद्धवन्त इत्यर्थः । निरोधप्रकार माह— “नाग्निरिति ॥ १५ ॥

देवैः कृतं परिहारं दर्शयति— “ततो देवा इति । अश्वा-  
ख्यं यं ‘तं’ मन्यनदेशस्य ‘पुरस्तात्’ ‘उदश्रयन्’ उच्छ्रित मस्था-  
पयन् । ‘तस्य’ वज्रस्य सम्बन्धिनि, ‘अभये’ भयरहिते, ‘अनाद्रे’  
रक्षःप्रभृतिनाशकरहिते, ‘निवाते’ वातरहिते एवम्भूते स्थाने  
मन्यनाद् ‘अग्निः’ उदपद्यतेत्यर्थः । एव मितिहास मुपन्यस्य



प्रकृते योजयति— “तस्मादिति । ‘आनेतवै’ आनेतु मित्यर्थः । तुमर्थे तवैप्रत्ययः \* । “स पूर्वेणेत्यादि उक्तप्रायम् ॥ १६ ॥

स चाश्वः पूर्ववयस्क एवानेतव्य इत्याह— “स वै पूर्ववा-  
डिति । पूर्वे वयसि वहतीति पूर्ववाट् । ‘वहश्च’-इति  
खिः † । तस्यालाभे पक्षान्तर माह— “अपि य एवेति ।  
निगदसिद्ध मन्यत् । “एष ह्येवेति । अश्वविधेयः स्तावको-  
ऽर्थवादः, अनडुहिधेरपि एष एव स्तावक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

आह्वनीयदेशं प्रत्यग्नेर्हरणं समाप्याश्वस्यापि पुरस्तात् नयनं  
विधत्ते— “त मिति । तस्य प्रयोजन माह— “तत्पुरस्ता-  
दिति । स चाश्वोऽग्नेः पुरस्तात् गमनमार्गे विद्यमानं रत्नः-  
प्रभृतिकम् ‘अपन्नन्’ हिंसन् ‘एति’ गच्छति । तथा च भयादि-  
रहितेन मार्गेण तस्याग्नेर्हरणं सिध्यतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मिन् हरणे विशेष माह— “तं वा इति । ‘यथा’ ‘एनं’  
यजमानम् ‘एषः’ अग्निः ‘प्रत्यङ्’ ‘उपाचरेत्’ अभिमुख मुपा-  
वर्त्तत, ‘तम्’ अग्निम् ‘अवहरेयुः’ आह्वनीयायतनस्य पूर्वभागं .  
प्रापयेयुरित्यर्थः । तस्य प्रयोजन माह— “एष वा इति ।  
‘एषः’ ‘वै’ खलु अग्निः ‘यज्ञः’ तन्निष्पादकत्वाद् । तस्य प्रत्य-  
गावर्त्तनेन ‘एनं’ यजमानं ‘यज्ञः’ एव प्रत्यङ् प्रविशति’ अभि-  
मुख आवर्त्तते । तथा च ‘तं’ यजमानं ‘क्षिप्रे’ अल्पकाले  
एव, शीघ्रं यज्ञः उपगच्छति । एतद् व्यतिरेकमुखेनोपपाद-  
यति—“अथ यस्मादिति । सः अग्निः ‘यस्मात्’ बहुयजमानात्  
‘पराङ्’ पराङ्मुखः भवति, तर्हि ‘अस्मात्’ ‘यज्ञः’ अपि पराङ्मुखो

‘भषति’ । ‘तत्र’ तथा सति ‘यः’ कश्चिद् द्वेष्टः ‘एनं’ यजमानम् ‘अनुव्याहरेत्’ । किमिति— ‘यज्ञोऽस्मात् पराङ् अभूत्’—इति । स यजमानः ‘तथैव’ भवितुम् ‘ईश्वरः’ ‘स्यात्’ ॥ १९ ॥

एव मग्नेर्यज्ञरूपत्वेन प्रत्यगावर्त्तनं प्रतिपाद्य प्राणात्मकत्वादपि तत् प्रतिपादयति— “एष उ वा इति । ‘एषः’ खल्वग्निः ‘प्राणः’ । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २० ॥

अथैनं यज्ञात्मक मग्निं वायुतादात्म्येन स्तौति— “अग्रं वा इति । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २१ ॥

वाह्यात्मक मग्निं प्राणरूपतया स्तौति— “एष उ वा इति । अन्यत् पूर्ववत् ॥ २२ ॥

एव मग्नेर्हरणप्रकारं प्रतिपाद्य तदनन्तरकर्त्तव्यता माह— “अथाश्व मिति । आहवनीयायतने सम्भारान् निधाय दक्षिण-पूर्वपादेन ‘अश्व माक्रमयति’ । एवम् ‘आक्रमय्य’ ‘प्राञ्चं’ नीत्वा ‘तम्’ अश्वम् ‘पुनरावर्त्तयति’ आहत्य स्थापयति । अनन्तर मश्वम् ‘उदञ्चम्’ उदङ्मुखं प्रमुञ्चति । सूत्रयते हि कात्यायनेन— “सम्भारानधिष्ठाप्य दक्षिणपूर्वपादेन प्राञ्चं नीत्वावर्त्त्य स्थापयति”— इति \* । पुनरावर्त्तनस्य प्रयोजन माह— “वीर्यं वेत्यादि । अश्वलक्षणं यत् ‘इदं’ वीर्यम्, तत् ‘नेत्’ नैव ‘अस्मात्’ ‘पराङ्’—भूतम् भवेदित्यनेनाभिप्रायेण तस्याश्वस्य पुनरावर्त्तनं कार्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आहूतस्यानेराधानं विधत्ते— “त मश्वस्येति । आहवनीयायतने यदश्वस्य पदम्, तस्मिन् ‘तम्’ अग्निं मन्त्रेण स्थापयेत् । तदेतत् प्रशंसति— “वीर्यं वा इति ॥ २४ ॥

तत्र विशेष माह — “स वा इति । ‘अग्ने’ प्रथमम् अश्वस्य पदं मग्निना ‘तूष्णीम्’ ‘उपसृशति’ । तं मग्निं मुद्यस्य पुनरपि ‘उपसृशति’ । एवं द्विरुपसृश्य द्वितीयेनोपसृशनेन व्याहृतिभिः तं मग्निं तस्मिन् पदे स्थापयति । व्याहृतिगतं त्रित्वं प्रशंसति — “त्रयो वा इति । इमं पक्षं निगमयति — “एतदिति । ‘एतत्’ खल्वहवनीयाधानस्य ‘एकं’ विधानमित्यर्थः ॥ २५ ॥

पक्षान्तरं मपि वक्तुं प्रतिजानीते — “अथेदं द्वितीयं मिति । “तूष्णीं मेवेत्यादि । अश्वपदं ‘तूष्णीं’ सकृदेवाग्निनोपसृश्य, तं मुद्यस्य द्वितीयेनोपसृशति । न व्याहृतिभिः तत्र स्थापयेदित्यर्थः । एतस्योपसृशनेन प्रयोजनं माह — “यो वा अस्यामिति । ‘अस्यां’ भूम्यां दृढं मनवस्थितः सन् ‘यः’ वोढा ‘भारम्’ उद्यच्छति’, सः ‘एनं’ भारम् ‘उद्यन्तु’ ‘न शक्नोति’ ; प्रत्युत निपततोऽस्योपरि निपतन् भार एव ‘एनं’ पुरुषं हिनस्ति ॥ २६ ॥

“स यत् तूष्णीं उपसृशतीति । यस्तु भूम्यां प्रतिष्ठाय भारमुद्यच्छति, स भारं वोढुं शक्नोतीति । तत्समानं मेवेतद् भूमेः सकृदुपसृशनेनम् । तथा च तेन स्पर्शनेन भूम्यां प्रतिष्ठित एवाग्निराहितो भवति, ‘न व्यथते’ न चलते । “व्यथं भयश्चलनयोः” — इति \* धातुः । पक्षान्तरं वक्तुं मन्यस्मिन् पक्षे दोषं माह — “तदु हैतदिति । आसुरिप्रभृतयस्त्रयो मुनयः तदेतदुपसृश्योद्भूतं द्वितीयस्पर्शनेनाधानं ‘पञ्चैव’ पञ्चाङ्गूतं मिव ‘दध्निरे’ अधारयन् । एतावता को दोष इति । अग्निनोप-

सृष्ट्य पुनस्तस्योद्यमनेन तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मायतनस्थं सम्भारा-  
दिकम् 'इयसितम्' इयत्तया परिच्छिन्नं व्यक्तं मिव भवति ।  
अतोऽग्निं मुद्यम्य प्रथमेनैवोद्यमनेन व्याहृतिभिः 'आदध्यात्' ।  
तथा एवं सति 'अनियसितम्' \* अव्यक्तं मेव सर्वं भवति ।

उक्तानां पक्षाणां मिच्छया विकल्प माह — “यतमयेति ।  
एतत् पक्षत्रयं मपि सूत्रितं कात्यायनेन — “अग्निना पदं  
द्विरुपसृष्ट्य तृतीयेनादधाति, द्वितीयेन प्रथमेन वा भूर्भुवः-  
स्वरिति”—इति † ॥ २७ ॥

आहितस्यान्तेः पूर्वभागस्य मूलमुक्तं मन्वारभ्य मन्त्रस्य  
जपं विधत्ते — “अथ पुरस्तादिति ‡ । मन्त्रतात्पर्यं माह —  
“यथासाविति । बहुभिः 'नक्षत्रैः' 'यथासौ द्यौः' 'बह्वी' बहु-  
त्वोपेता, 'एवम्' अहं मपि पुत्रपौत्रादिबहुत्वेन 'बहुः भूया-  
सम्' इति, “द्यौरिव भून्ना” — इत्यस्य भागस्य अर्थः । पृथि-  
वीत्यादिकं मनूय तात्पर्यं माह — “यथा इयं पृथिवी' 'उर्वी'  
विस्तीर्णा, 'एवम्' अहं मपि 'वरिष्णा' उरुत्वेन सुविस्तीर्णा  
भूयास मिति । भागान्तरं मनूय व्याचष्टे — “तस्यास्त  
इति । उरुत्वं प्रति उपमानभूतायाः 'तस्याः' 'ते' तव 'पृष्ठे'  
उपरि भागे “अग्निम् आदधे”—इत्युरत्तत्र सम्बन्धः । “अस्यै  
ह्येति । अस्याः एव खलु पृथिव्याः 'पृष्ठे' उपरि आधत्ते, अतो  
युक्तं तस्यास्ते इति वाक्यं मिति भावः । अन्तिमं भागं मनूय  
व्याचष्टे — “अग्निं मन्नाद मिति । आहवनीयादिरूपेण हवि-

\* पूर्वस्मिन् काण्डे ( ६१० प्र० ५ पं० ) “इयसितं” द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. १६ ; मन्त्रस्त्वेषः वा० सं० ३. ५. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १७ । मन्त्रस्तु — वा० सं० ३. ५. २ ।

( १ अ० ४ ब्रा० )      ॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

लक्ष्मम्, तद्विलक्षणं च सर्वं मन्त्र मतीत्य 'अन्नादोऽग्निः' ।  
एव मन्त्रादशब्देनानेर्विशेषणादहं मप्यन्नादो भूयास मिति  
तात्पर्यगम्योऽर्थः । "सैषाशीरित्यादि । 'एषा' मन्त्रात्मिका  
ऋक् 'आशीः' फलप्रार्थन मेव ; अतः सत्यां कामनायां तस्य  
मन्त्रस्य जपः ; तदभावे तु जपोऽपि न कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ तस्याग्नेः सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं विधत्ते — "अथ सर्प-  
राज्ञा इति \* । सर्पणशीलानां प्राणिनां राज्ञी 'सर्पराज्ञी',  
तत्सम्बन्धिनीभिर्ऋग्भिरग्निं मुप्रतिष्ठते । "का पुनस्ता इति तिस्र-  
ऋचः पठति — "आयं गौरिति प्रथमा †, "अन्तश्चरति रोच-  
नेति द्वितीया ‡, त्रिंशद्वामेति तृतीया § । अस्योपस्थानस्य  
प्रयोजन माह — "तद् यदेवेति । 'अस्य' यजमानस्य 'अतः'  
अस्मिन्नाधाने सभारादिभिर्विकल्पनिमित्तेन यत् 'अनासम्'  
अप्राप्तं भवति, 'एतेन' उपस्थानेन 'अस्य' तत् 'सर्वम्' आप्यते  
सर्पराज्ञाः सर्वाधिष्ठानभूतत्वात् । अत एव तन्नामनिर्वचन  
मन्यत्राम्नातम् — "इयं वै सर्पराज्ञी, देवा वै सर्पाः, तेषां मित्रं  
राज्ञीति ¶ ॥ २९ ॥

तेषां पृथिव्या माधानादेव सभारादीनां सर्वेषां मवाप्तत्वात्,

\* ता० श्रौ० सू० ४. ६. १८ ।

†, ‡, § वा० सं० ३. ६, ७, ८ ।

¶ "इयं वै सर्पराज्ञी" — इत्यादि ऐ० ब्रा० ५. ४. ४ । अत्र 'सर्पराज्ञी'-  
शब्देन काचिद् ब्रह्मवादिनो गम्यते । "इयं वै सर्पतो राज्ञी" — इति तै०  
ब्रा० १. ४. ६. ६ । "देवा वै सर्पास्तेषां मित्रं राज्ञी" — इत्यादि च तै०  
ब्रा० २. २. ६. १ । ता० ब्रा० ६. ८. ७ (ब्रह्मवादिनी) । आर्षे० ब्रा० ३.  
२६ (सर्पाणाम्) । ऋ० सं० १०, १८६ सा० भा० (ऋषिः) ।

तदवासये सर्पराशौभिरुपस्थानं न कार्यं मिति पक्षान्तर माह —  
“तदाहुरिति ॥ ३० ॥ ४ [ १. १. ] ॥

इति त्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्मम्,  
सप्ताब्दीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यश्याणीदिश्वक्क्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तां घटश्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभंव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
प्राज्योत्थं प्राज्यजन्मा \* लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाव्यो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसात्विङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक—

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

( अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति । तद्यत्पू-  
र्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं व्या ऽएतु मात्मनो जनयते\*  
यदग्निं† तस्मा ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति यथा कुमा-  
राय जाताय व्वत्साय वा स्तन मपिदध्यादेव मस्मा  
ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति ॥ १ ॥

स एतेनान्नेन शान्तः । उत्तराणि हवींषि‡  
अप्यमागान्युपरमति अश्वइ वा ऽअध्वयुं वा यज-  
मानं वा प्रवहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदग्निन्नेता  
माहुतिं न जुहुयात् तस्माद्वा ऽएता माहुतिं  
जुहोति ॥ २ ॥

तां व्वै पूर्णां जुहोति । सर्व्वं वै पूर्णं सर्व्वेणै-  
वैन मेतच्छमयति स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै  
स्वाहाकारः सर्व्वं वा ऽअनिरुक्तं सर्व्वेणैवैन मेत-  
च्छमयति ॥ ३ ॥

यां व्वै प्रजापतिः । प्रथमा माहुति मजुहोत्

\* 'जनयते'— इति क, ख, ग ।

† 'यदग्निं'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

‡ 'हवींषि'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

स्वाहेति वै तां मज्जुहोत्सो खिदेषा निदानेन तस्मात्  
स्वाहेति जुहोति तस्यां व्यरं ददाति सर्व्वं वै व्यरः  
सर्व्वेणैवैन मेतच्छमयति ॥ ४ ॥

तदाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वाथोत्तराणि  
हवींषि नाद्रियेतैतयैव तं काम माप्नोति य मभि-  
काम मुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति ॥ ५ ॥

स वा ऽअग्नये प्रवमानाय निर्व्वपति । प्राणो  
वै प्रवमानः प्राण मेवास्मिन्नेतद्दधाति तदेतयैवास्मिं-  
स्तद्दधात्यन्नं हि प्राणोऽन्न मेवाहुतिः ॥ ६ ॥

अथाग्नये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै  
पावक मन्न मेवास्मिन्नेतद्दधाति तदेतयैवास्मिंस्तद्दधा-  
त्येषा ह्येव पत्यन्न मन्न माहुतिः ॥ ७ ॥

अथाग्नये शुचये निर्व्वपति । वीर्य्यं वै शुचि  
यदा ऽअस्यैतदुज्ज्वलत्येतदस्य वीर्य्यं शुचि वीर्य्य  
मेवास्मिन्नेतद्दधाति तदेतयैवास्मिंस्तद्दधाति यदा ह्ये-  
वास्मिन्नेता माहुतिं जुहोत्यथास्यैतद् वीर्य्यं शुच्यु-  
ज्ज्वलति\* ॥ ८ ॥

तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वाथोत्तराणि



हवींषि नाद्रियेतैतयैव \* तं काम माप्नोति य मभि-  
काम मुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति तदु निर्व्वपे-  
देवोत्तराणि हवींषि परोऽक्ष मिव वा ऽएतद्युद्ध-  
स्तदिद मिति ॥ ८ ॥

सु यदग्नेये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणा वै  
पवमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन् न  
जायते मातुर्व्वैव तावत् प्राण मनु प्राणिति यथा  
वा तुज्जातु ऽएवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति ॥ १० ॥

अथ यदग्नेये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै  
पावकं तुज्जातु ऽएवास्मिन्नेतदन्न दधाति ॥ ११ ॥

अथ यदग्नेये शुचये निर्व्वपति । व्वीर्य्यं वै  
शुचि यदा वा ऽअन्नेन व्वर्द्धतेऽथ व्वीर्य्यं तदन्नेनैवैन  
मेतद् वर्द्धयित्वाथास्मिन्नेतद् व्वीर्य्यं शुचि दधाति  
तस्मादग्नेये शुचये ॥ १२ ॥

तद्देतदेव सुद्विपर्य्यस्त मिव । अग्निर्ह यत्र  
देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपाववर्त्त तद्देत्ताञ्चक्रे मैव सर्व्वे-  
णैवात्मना मनुष्यानभ्युपावृत मिति ॥ १३ ॥

स एतास्मिन्नुत्तनूरेषु लोकेषु व्विन्यधत्त ।

\* 'ततयेव'— इति च दृष्टो डा० वेवरेण ।

यदस्य पवमानं रूपमासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यध-  
त्ताथ यत् पावकं तदन्तरिक्षेऽथ यच्छुचि तद् दिवि  
तदा ऽऋषयः प्रतिबुबुधिरे य ऽउ तर्ह्यृषय आसुर-  
सर्वे ण वै न आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति \* तस्मा ऽए-  
तानि हवींषि निरवपन् ॥ १४ ॥

स यदग्नेये पवमानाय निर्व्वपति । यदेवा-  
स्यास्यां पृथिव्यां रूपं तदेवास्मैतेनाप्नोत्यथ यद-  
ग्नेये पावकाय निर्व्वपति यदेवास्यान्तरिक्षे रूपं तदे-  
वास्मैतेनाप्नोत्यथ यदग्नेये शुचये निर्व्वपति यदे-  
वास्मै दिवि रूपं तदेवास्मैतेनाप्नोत्येवमु क्तस्म मेवाग्नि  
मनपनिहित माधत्ते तस्मादु† निर्व्वपेदेवोत्तराणि  
हवींषि ॥ १५ ॥

केवलबर्हिः‡ प्रथमं हविर्भूवति । समान-  
बर्हिषी ऽउत्तरे ऽअयं वै लोकः प्रथमं हविर्येद्  
मन्तरिक्षं द्वितीयं द्यौरेव तृतीयं बहुलेव वा ऽइयं  
पृथिवी लेलुयेवान्तरिक्षं लेलुयेवासी द्यौरुभे

\* 'वृत्तदिति'— इति ख ।

† 'तस्मादु'— इति च दृश्यो डा०-नेवरेण

‡ अत्रैव द्वेदचिह्नः (।) क-पुस्तके ।

चिदेनां प्रत्युद्यामिनी\* स्ता मिति तस्मात् समान-  
वर्हिषि ॥ १६ ॥

अष्टाकपालाः सुर्वे पुरोडाशा भवन्ति । अष्टा-  
क्षरा वै गायत्री गायत्र मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेतच्छुन्द-  
साधत्ते तानि सुर्वाणि चतुर्विंशतिः कपालानि  
सम्पद्यन्ते चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री गायत्र  
मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेतच्छुन्दसाधत्ते गायत्रो याज्या-  
नुवाक्या भवन्ति गायत्र मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेत-  
च्छुन्दसाधत्ते† ॥ १७ ॥

अथादित्यै चरुं निर्व्वपति । प्रच्यवत ऽइव  
वा ऽएषोऽस्माल्लोकाद्य एतानि हवींषि निर्व्वपती-  
मान् हि लोकान्त्समारोहन्नेति ॥ १८ ॥

स यदुदित्यै चरुं निर्व्वपति । इयं वै पृथिव्यु-  
दितिः सेयं प्रतिष्ठा तुदद्या मेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रति-  
तिष्ठति तस्मादुदित्यै चरुं निर्व्वपति ॥ १९ ॥

तुल्यै विराजौ संयुज्ये स्याता मित्याहुः । विरा-

\* 'प्रत्युद्यामिनी'— इति च ।

† "गायत्रो०—०साधत्ते"— इत्येष ग्रन्थभागे च-पुस्तके नास्ति

द्वीय\* मित्यथो त्रिष्टुभौ त्रिष्टुब्भीय मित्यथो जुगत्थौ  
जुगती द्वीय मिति विराजावित्वेव† छाताम् ॥ २० ॥

तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव वा ऽद्वयं मनु-  
ष्येभ्यः सुर्वान् कामान् दुहे माता धेनुर्मतिव वा  
ऽद्वयं मनुष्यान् विभर्त्ति तस्माद् धेनुर्दक्षिणैतन्वे कः  
मयनम् ॥ २१ ॥

अथेदं द्वितीयम् । आग्नेयं मेवाष्टाकपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति परोऽक्षं मिव वा ऽएतद्युदग्नये  
पवमानायाग्नये पावकायाग्नये शुचय ऽद्वितीवा-  
थाञ्जसैवैन मेतत् प्रत्यक्षं साधत्ते तस्मादग्नयेऽथादित्यै  
चक्रं निर्व्वपति स यु एव चरोर्व्वभ्युः स बभ्रुः ॥ २२ ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [२.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त मच्चं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

आदित आरभ्यैतावत्पर्यन्तं तात्पर्यार्थाभिधानविनियोगादि-  
प्रदर्शनपुरस्सरं वाक्ययोजनं कृतम् ; उपरितनाध्यायमतानि §

\* 'द्वितीय'— इति क, ख, ग । † 'वित्वेव'— इति क, ख, ग ।

‡ 'तन्वेक'— इति क, ग ; 'तं न्वेक'— इति ख ।

§ 'तत्राध्यायगतानि'— इति च ।

यानि वाक्यानि, तानि समानन्यायतया \* पूर्ववदेव योजयितुं शक्यानीति ग्रन्थविस्तरभयात् केवलं प्रकटार्थकथनं विषमपद-विवरणं च क्रियते ।

एवं गार्हपत्याग्निषु स्वरूपेण सिद्धेषु क्षुधितस्याग्नेः शमनाय पूर्णाहुतिं विधत्ते — “उद्धृत्याहवनीय मित्यादिना †” ॥ १ ॥

“स एतेनाग्नेन शान्त इति । “शश्वद् वा अध्वर्युः मिति । अगस्त्यो खल्वग्निः ‘शश्वत्’ ध्रुवम् अध्वर्युयजमानयोरन्यतरं प्रदहेत् ; ‘तौ’ खलु ‘अस्य’ अग्नेः ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमम्, समीपे सञ्चरेते इत्यर्थः । “अन्तिकवाटयोर्नेदसाधौ”—इती-  
ष्ठानि अन्तिकस्य नेदादेशः ‡ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

मन्त्ररहितेन स्वाहाकारमात्रेण होम मुपपादयति— “यं वा इति । पुरा खलु प्रजापतिः पुरुषाश्वादिः—सर्वजगत्-सर्जनहेतुभूतां ‘प्रथमा माहुतिं’ स्वाहाकारेणैव ‘अजुहोत्’, ‘एषा’ अपि पूर्णाहुतिः तथा क्रियमाणा ‘निदादेन’ ( निदान-भूतेन ¶ ) कारणेन ‘सो स्वित्’ सैव, प्रजापतिना हुता प्रथमा-हुतिः खल्वित्यर्थः ॥ ॥ ४ ॥

पूर्णाहुतेः सकलकामावाप्तिहेतुत्वं माह — तदाहुतिरिति । ‘यं’ ‘कामम्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘उत्तराणि’ पवमानादीनि ‘हवींषि’

\* ‘सोमानं घायतया ( ? )’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. ५ क । “उद्धरेति यजमानो ब्रूयात् साय-  
म्यातरग्निहोत्रे । गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणं मनस्तमितानुदितयोः”—  
इति च का० श्रौ० सू० ४. १२. १, २ । ‡ पा० सू० ५. ३. ६३ ।

§ ‘पश्वादिः’— इति च । ¶ नास्थितत्पदं च पुस्तकादन्यत्र ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १०. ५ ख ।

निरूप्यन्ते । 'तं' कामम् 'एतयैव' पूर्णाहुत्या प्राप्नोती-  
त्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्प्राप्तिकारणमाह— “स वा इत्यादिना \* । पवमान-  
हविर्भिर्जातेऽग्नौ प्राणान्नवीर्या यथाक्रमं स्थाप्यन्ते । 'तत्'  
सर्वम् 'एतयैव' पूर्णाहुत्या ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

तस्मादाहुरिति । भक्ष मेव सिद्धान्तयति— “उत्तरा-  
णीति । आधानान्तरभावीनि अग्नये—पवमानाय—इत्यादीनि विधे-  
यानीत्यर्थः । “परोक्ष मिव वेति । 'यदहः' † प्राणान्नवीर्य-  
धारणं पूर्णाहुत्याग्नौ क्रियते, 'एतत्' 'परोक्ष मिव', पवमाने-  
ष्टिभिः 'तत् ‡ इदम् इति इव' प्रत्यक्षत एव क्रियते ; पवमान-  
पावकशुचिशब्दैः प्राणान्नवीर्याणां प्रतिपादनात् । अतस्मा  
इष्टयो नियमेन कर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ता इष्टीर्विधाय प्रशंसति— “स यदित्यादिना । “प्राणा वै  
पवमान इति । पवनक्रिया हि वायुधर्मः, प्राणश्च वाय्वात्मक  
इति पवमानशब्देन तत्प्रतिपादनम् । एतेन चाग्निं विशिष्यन्  
प्राणमेवास्मिन् जातेऽग्नौ स्थापितवान् भवति । जननात् पूर्वन्तु  
मातुर्गर्भावस्थस्य तु प्राणो मातुः प्राणादभिन्न इति न तत्र  
पृथक् तद्धारणापेक्षेत्यर्थः ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

“अथ यदग्नये शुचय इति । “यदा वा अग्नेनेति । लौकिक-  
दृष्टान्तकथनम् । “अग्नेनैवैन मिति । पावकेष्टिरूपेणाग्नेनाग्निं  
'वर्द्धयित्वा' अनन्तरमेव 'अस्मिन्' अग्नौ अनया तृतीयेष्ट्या 'शुचि'  
दीप्यमानं 'वीर्यं' च धारयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

\* का० श्रौ० सू० ४, १०, ८, ६ ।

† 'यदहः'— इति च ।

‡ 'तत्'— इति च ।

“तद्वेतदिति । ‘तदेतत्’ सर्वं पूर्णाहुतिपक्षे ‘सत्’ विद्यमानमपि ‘विपर्यस्तमिव’ भवति । अतो नासौ पक्षो युक्त इत्यर्थः । न केवलमेतावदेवेष्टीनां \* प्रयोजनम्, अपि तु मनुष्यैराधीयमानस्याग्नेः कार्त्स्न्यं मय्याभिः सम्पद्यत इत्याख्यायिकापुरस्सरमाह — “अग्निर्हं यत्रेति । “अभ्युपाहतमिति । अभ्युपागममित्यर्थः । हतेर्लुङि उत्तमैकवचने द्युतादिवात् च्लेरङ् ॥ १३ ॥

“स एतास्तिस्र इति ‡ । ‘सः’ अग्निर्हि मनुष्यान् प्रत्यागमनसमये ‘एताः’ पवमानपावकशुच्याख्याः ‘तिस्रः’ आत्मीयाः ‘तनूः’ पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु यथाक्रमं निधाय ‘न’ ‘सर्वेण’ कृत्स्नैनैव ‘आत्मना’ स्वरूपेण अस्मान् ‘अभि’-लब्ध ‘उपाहतत्’ उपागमत् । ‘इति’ इममर्थम् ‘ऋषयः’ अबुध्यन्त । ‘तस्मै’ आगये कार्त्स्न्यसम्पादनाय पवमानहवींषि निरवपन्नित्यर्थः ॥ १४ ॥

“स यदग्नये पवमानायेत्यादि, स्पष्टम् । “अनपनिहितमाधत्त इति । यत् पृथिव्यादिष्वग्निना निक्षिप्तमात्मीयं रूपम्, तद् अभिः पवमानेष्टिभिः खौकृत्य ‘कृत्स्नमेव’ तम् ‘अग्निम्’ आहितवान् भवतीत्यर्थः । “तस्मादिति, निर्वोपपन्ननिगमनम् । कात्यायनोऽपि “द्वादशाहान्ते तनूहवींषि निर्वपति”—इति § तनुरूपपवमानेष्टिनिर्वापं प्रक्रम्य “सद्यो वा न वा”—इत्यकरणपक्षमपि ¶ सूत्रयामास ॥ १५ ॥

\* ‘मेतावदेष्टीनां’—इति च ।

† पा० सू० ३. १. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. ११ । § का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ क ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ ग ।

“केवलबर्हिर्इति । अग्नये पवमानायैतत् यत् ‘प्रथमं हविः’, तत् ‘केवलबर्हिः’ यजनम्, न साधारणं तन्मयुक्तं कर्त्तव्यम्; हविरन्तरेण न समुच्चित्यानुष्ठेयमित्यर्थः । “समानबर्हिषी इति । ‘उत्तरे’ तु हविषी समानतन्त्रे कार्ये इत्यर्थः । तदेतद् द्वयमुपपादयति — “अयं वा इत्यादिना । “लेख्ये-वान्तरिक्षमिति । लीनमिव ह्यन्तरिक्षं नीरूपत्वात् । तथा ‘द्यौ’ अपि विप्रकृष्टत्वात् लीयमानैव भवति । अत एते ‘उभे’ अपि ‘एनां’ पृथिवीं ‘प्रति’ ‘उद्यामिनो स्ताम्’ बाधितुमुद्युक्ते भवेताम् । अतः प्रथमं हविः पृथक्त्वं कार्यम्, उत्तरे तु समानतन्त्रे कार्ये इति । निगमयति — “तस्मादिति । १६ ॥

“अष्टाकपालाः सर्वे इत्यादि, स्पष्टम् । “गायत्री याज्या-नुवाक्या भवन्तीति । यागान्तरेषु \* हि पुरोनुवाक्या गायत्री, याज्या त्रिष्टुप्; अत्र तु पुरोनुरावाक्या याज्याः सर्वा गायत्र्याः कर्त्तव्याः । अतएवाश्वलायनेन तथैव सूत्रितम् — “अग्न आर्यंषि पवसेऽग्ने पवस्व स्वपाः ० — ० स नः पावक दीदिवोऽग्ने पावक रोचिषाग्निः शुचित्रततम उद्यदग्ने शुचय-स्तवेति † ॥ १७ ॥

“अथादित्यै चरुमिति ‡ । “इमान् हि लोकात्ममारोह-न्तेतीति । पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मकानि पवमानहवींषि क्रमेण निर्वयंस्तद्वारा इमानेव पृथिव्यादिलोकान् सोपानक्रमेण सम्य-गारोहन्नाल्लोकात् ‘प्रच्यवते’ । अतस्तत्परिहारायादित्येष्टिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ १८, १९ ॥

\* ‘यागान्तरेष्ठा’ — इति च । † आश्व० श्रौ० सू० २. १. २० — २५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. १० ।



“तस्यै विराजी संयान्ये इति । “प्रेहो अग्नेः”-“इमो अग्नेः”<sup>†</sup>  
इत्येते स्विष्टकृती यान्यानुवाक्ये ‘स्याताम्’ इत्यर्थः । “विरा-  
जाविस्त्वेवेति, तु-शब्देन त्रिष्टुब्जगतीपक्षौ व्यावर्त्येते ॥ २० ॥

“तस्यै धेनुरिति ‡ । “एतन्वेक मथन मिति । पव-  
मानिष्टियजताम् ‘एतत् तु एकम्’ अनुष्ठानस्य विधानम् ॥ २१ ॥

अन्यदप्यस्तीत्याह— “अथेद मिति । “आग्नेय मेवेति ।  
न तु पवमानादिविशेषण मादरणीय मित्येवकारार्थः । “परोक्ष  
मिव वा इति । पवमानादिविशेषणैर्विशेष्यमाणोऽग्निस्तत्र  
वैशिष्ट्यद्वारा पारोक्ष्य मापद्यते ; अतस्तत्परिहारेण ‘अञ्जसा’  
ऋजुनैव मार्गेण केवलाग्नये निर्वपन् तं प्रत्यक्षत एव स्वीकरो-  
तीत्यर्थः । अस्मिन्नपि पक्षे अदित्ययागः कर्तव्य इत्याह—  
“अथादित्या इति । “स य एवेति । प्रागुक्तब्राह्मणाति-  
देशः ॥ २२ ॥ ५ [ २. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

घ्नन्ति वा ऽएतद्यज्ञं । युदेनं तन्वते युन्वेवऽ

\* ऋ० सं० ७. १. ३ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

† ऋ० सं० ७. १. १८ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. १४ ।

§ ‘यन्वेव’— इति क, ग ; ‘युं न्वेव’— इति ख ।

राजान मभिषुखन्ति तत्तुं\* घ्नन्ति युत् पशुं सञ्जुप-  
यन्ति विश्वासति तत्तुं† घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृष-  
दुपलाभ्यां हविर्यज्ञं‡ घ्नन्ति ॥ १ ॥

सु एषु यज्ञो हतो नृ ददत्ते । तं देवा दक्षि-  
णाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा  
नाम तद्यदेवाव यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्तैत-  
द्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्  
दक्षिणा ददाति ॥ २ ॥

ता वै षड्§ दद्यात्॥ । षड् वा ऽऋतुवः संव-  
त्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो  
यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ३ ॥

द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य  
संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो याव-  
त्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ४ ॥

चतुर्विंशतिं दद्यात् । चतुर्विंशतिर्वै संव-  
त्सराद्ध मासाः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः यावानेव

\* † 'तत्तुं'— इति क ।

† 'ज्ञं'— इति क । "हविर्यज्ञं"— इति च दृष्टोऽङ्गो- वेवरेण ।

§ 'षट्'— इति क ।

¶ 'दद्यात्'— इति ग ।

यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयत्येषा मात्रा  
दक्षिणानां दद्यात् त्वेव\* यथाश्वहं भूयसीक्षद्यदक्षिणा  
ददाति ॥ ५ ॥

इया व्वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः अश्ववा०सीऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां  
देवा† विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा  
मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुषा मनूचानाना  
माहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्य-  
देवान् ब्राह्मणाञ्कुश्रुषोऽनूचानांस्तु ऽएन मुभये  
देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥ ६ ॥

तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् । एव मेवैतद्व-  
त्विजो यजमानं लोके दधति तद्यदेभ्य एतद्  
ददाति ये मेदुः सम्प्रापिपन्निति नु दक्षिणा-  
नाम् ॥ ७ ॥

देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः  
पस्पृधिरे तु ऽउभय ऽएवानात्मान आसुर्मर्त्या ह्यासु-  
रनात्मा हि मर्त्यस्तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत

\* 'दद्यान्वैव'— इति च दृश्यो डा०-तेबरेण ।

† 'देधा'— इति घ, ङ ।

आस त्ं ह स्नाभयेऽमृत मुपजीवन्ति स य्ं ह  
स्नैषां\* घ्नन्ति तद्ध स्नैव† सु भवति ॥ ८ ॥

तुतो देवाः । तनीयात्स इव परिशिशिषिरे  
तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेकुरुतासुरान्त्सपत्नान् मुर्त्या-  
नभिभवेमेति त् एतदमृत मग्न्याधेयं ददृशुः ॥ ९ ॥

ते होचुः । हुन्तेद् ममृत मन्तरात्मन्नादधा-  
महे त् इद् ममृत मन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वा-  
स्तर्य्या भूत्वा स्तर्य्यान्त्सपत्नान्मुर्त्यानभिभविष्याम  
इति ॥ १० ॥

ते होचुः । उभयेषु वै नोऽय मग्निः प्रत्वे वा-  
सुरेभ्यो ब्रवामेति ॥ ११ ॥

ते होचुः । आ‡ वै व्यय मग्नी धास्यामहेऽय  
यूयं किं करिष्यथेति ॥ १२ ॥

ते होचुः । अथैनं व्ययं न्येव§ धास्यामहेऽत्र

\* 'स्नैष' इति क, ग ; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'स्न वै'— इति घ, ङ ।

‡ 'होचु । रा'— इति ग । तत्पुस्तके त्वेव मेव विच्छेदेऽपि सन्धि-  
रूपं सर्वत्र ( पूर्वत्र च परत्र च ) दृश्यते ।

§ 'नेव'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तृणानि दहन् दाह्णि दहावौदनं पचात्र मांसं  
पचेति स यं त मसुरा न्यदधत तेनाग्नेन मनुष्या  
भुञ्जते ॥ १३ ॥

अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत त उद्गम  
ममृत मन्तरात्मन्नाधायामृता भुत्वाऽस्तुर्या भूत्वा  
स्तुर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यान्भ्यभवंस्तथो ऽएवैष एतदमृत  
मन्तरात्मन्नाधत्ते नामृतत्वस्याशास्ति सर्वं मायु-  
रेत्यस्तुर्यो हैव भवति न हैनं सपत्नस्तुतूर्पमाण-  
श्च न स्तृणुते तस्माद् यदाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च  
स्पृष्टेते ऽआहिताग्निरेवाभिभवत्यस्तुर्यो हि खलु स  
तर्हि भवत्यमृतः ॥ १४ ॥

तद्युचैन मदो मन्यन्ति । तज्जातु मभि-  
प्राणिति प्राणो वा ऽअग्निर्जातु मेवैन मेतत्सन्तं  
जनयति स पुनरुपानिति तदेन मन्तरात्मन्नाधत्ते  
सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १५ ॥

तु मुद्दीप्य समिधे । इह यक्ष्य ऽइह सुकृतं  
करिष्यामीत्येवैन मेतत् समिधे योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
न्नग्निराहितो भवति ॥ १६ ॥

अन्तरेणागाद् व्यवृत्तदिति । न ह वा ऽअस्यैतं

कश्चनान्तरेणैति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
न्नग्निराहितो भवति तस्माद् तन्नाद्रियेत यदनु-  
गच्छेन्न ह वा ऽस्यैषोऽनुगच्छति यावज्जीवति  
योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १७ ॥

ते वा ऽएते प्राणा एव यदग्नयः । प्राणो-  
दानुवेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्य-  
पचनः ॥ १८ ॥

तस्य वा ऽएतस्याग्न्याधेयस्य । सत्य मेवो-  
पचारः स युः सत्यं वृद्धति यथाग्निं सुमिद्धं तं  
घृतेनाभिषिञ्चेदेवुं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो  
भूय एव तेजो भवति श्वः-श्वः श्वेयान् भवत्यथ यो-  
ऽनृतं वृद्धति यथाग्निं सुमिद्धं तं मुदकेनाभिषिञ्चे-  
देवुं स जासयति तस्य कनीयः-कनीय एव तेजो  
भवति श्वः-श्वः पापीयान् भवति तस्माद् सत्य  
मेव वदेत् ॥ १९ ॥

तदु\* ह्याप्यरुण† मौपवेशि‡ ज्ञातय ऊचुः ।

\* 'तदु'— इति घ, ङ ।

† 'ह्याप्यरुण'— इति घ, ङ ।

‡ 'मौपवेशि'— इति ग ; क-ख-ग-पुस्तकेष्वित उत्तर मेव द्वेदः (।) ।

स्युविरो\* वा ऽअथग्नी ऽआधत्स्वेति सु होवाच ते मैतुद्  
ब्रूथ व्वाचंयम् एवैधि न वा ऽआहिताग्निनानृतं  
व्वदितुयं न वुदञ्जातु† नानृतं व्वदेत्तावत् सत्य मेवो-  
पचार इति ॥ २० ॥ ६ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [ २. २. ] ॥

षड्द्वादशादिदक्षिणा आधानस्य विधास्यन् तन्नाम निर्वक्तुं  
प्रसीति — “घ्नन्तीति । “यदेनं तन्वत इति । समान्येनोक्तं  
विभजति — “यन्वेवेति । यज्ञे सोमाभिषवपशुसञ्ज्ञपनाव-  
हननादिकरणात् तद्वारा तत्सम्बन्धो यज्ञ एव हतो भवती-  
त्यर्थः ॥ १ ॥

“स एष यज्ञ इति । “न ददक्ष इति । फलं जनयितुं  
न शशाकेत्यर्थः । ‘अदक्षयन्’ दक्षं समर्थं भुक्वन् । ‘तद्येन  
मित्यादि, दक्षिणानामनिर्वचनम् । एवं पुराहृतं सुपन्यस्य  
प्रकृते योजयति — “तद्यदिति ॥ २ ॥

“ता वा इति, दक्षिणादानविधिः । द्वादशचतु-  
विंशतिपक्षावत्र वैकल्पिकी द्रष्टव्यौ । अतएवोक्तं सूत्रकृता—  
“षट् दक्षिणाः प्रविभज्य ददाति, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा”—  
इति ‡ । आपस्तम्बोऽप्याह स्म — “षड् देया द्वादश देया-

\* ‘ऊचु स्युविरो’— इति क, ख, ग ।

† ‘वुदन् जातु’— इति घ, ङ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १०, १२ ।

अतुर्विंशतिर्देया इति ता विकल्पन्ते”—इति \* । “एषा मात्रेति । एतद् दक्षिणानां परिमाण मित्यर्थः । इतोऽधिक मपि यथाविभव मिच्छानुसारेण देय मिति विधत्ते— “दद्यात् त्वेवेति † ॥ ३, ४, ५ ॥

“हया वा इति । द्वैविध्य मेव दर्शयति— “देवा अह्वे-  
वेति । अग्न्यादिदेवरूपा एव देवाः केचित्, अपरे तु ब्राह्मण-  
रूपाः । देवा विगिष्यन्ते— “शशुवांस इत्यादिना । “शशु-  
वांसः’ बहुश्रुताः, ‘अनूचानाः’ साङ्गवेदाध्ययनेन ज्ञातार्थानुष्ठान-  
पराः । एते मनुष्यरूपा देवाः । अत एव तैत्तिरीयकम्—  
“एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः”—इति ‡ । यथा आहुति-  
भिरग्न्यादिदेवानां प्रीतिर्यज्ञे, एवं मनुष्यदेवान् प्रीणयितुं दक्षिणा-  
दान मित्यर्थः ॥ ६ ॥

“तद्यथा योनाविति । यथा गर्भाशये सिक्तं रेतो गर्भ-  
रूपेण परिणमति, न व्यर्थं भवति ; एव मेवर्त्विजो यज्ञ-  
मानं कर्मफले स्वर्गलोके स्थापयन्तीत्यर्थः । “ये मेद मिति ।  
‘ये’ खलु ऋत्विजो ‘मा’ माम् ‘इदं’ कर्मफलं ‘सम्प्रापिपन्’  
सम्यक् प्रापितवन्तः ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणैभ्यो दक्षिणा देये-  
त्यर्थः ॥ ७ ॥

अथाधानस्य भ्रातृव्यजयहेतुत्वं वक्तु माख्यायिका माह—  
“देवाश्चेति । “अनात्मन आसुरिति । आत्मज्ञानरहिता  
अविवेकिनो जाताः । अनात्मत्वादेव ‘मर्त्याः’ मरणधर्माश्च

\* आप० श्रौ० सू० ५. २०. १३, १४ ।

† ‘भूयसीच्च यथाश्रद्धम्’— इति का० श्रौ० सू० ४. १०. १३ ।

‡ तै० सं० १. ७. ३. २ ।



सञ्ज्ञाताः । 'तेषु' भूतेषु देवासुरेषु 'मर्त्येषु' सत्सु 'अग्निरेव' अमरणशीलः 'आस' । "यं ह स्मैषा मिति । 'एषां' देवानां मध्ये 'यम्' एव असुराः 'घ्नन्ति', 'तत्' तत्र सर्वहृत् \* एव 'भवति' ॥ ८ ॥

"ततो देवा इति । एवं क्रमिणासुरैर्हतेषु देवाः अल्पीयांस एव परिशिष्टा बभूवुः । 'ते' देवाः 'अर्चन्तः' तपस्यन्तः, 'आम्यन्तः' अमं प्राप्नुवन्तः 'चेत्' । त एतदित्यादि, स्पष्टम् ॥ ९ ॥

"ते होचुरिति । "अमृत मन्तरात्मनिति । मरणरहित मग्निम् 'आत्मनि' हृदये आधाय वय मप्यमृता भूताः, अत एव 'अमर्त्याः' अहिं स्याच्च भूता इत्यर्थः ॥ १० ॥

"ते होचुरिति । "उभयेषु वा इति । देवासुरेषु 'उभयेषु' अस्मासु स्थितः, 'अय मग्निः' अतः 'असुरेभ्यः' निवेद्यैवास्माभिः स आधातव्य इति विचारितवन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥

"ते होचुरित्यादि, निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ते होचुरिति । "न्येव धास्यामहे इति । यदि यूयं देवा अग्निं धास्यध्वम्, तर्हि वय मपि त मेवाग्निं धास्यामहे । "हृणानि दह"—इत्याद्यसुरवाक्यम् । हे अग्ने ! पृथिव्यां हृणानि दह, दारुणि दहेत्येव मग्निं प्रेषयन्तो भूमौ त मस्थापयत् ॥ १३ ॥

"अथैन मित्यादि । 'देवाः' तु 'एनम्' अग्निम् 'आत्मन्' आत्मनि, 'अन्तः' हृदयमध्ये 'आधाय' यथासङ्कल्प मक्षतेत्यर्थः ।

आख्यायिकासिद्ध मर्थं प्रकृते योजयति — "यथो एवैष

इति । “अस्तुर्यो हीति । अमृतरूपाग्निधारणेन यस्मात्  
आहितान्गिरहिंस्यः, तस्माद् विवदमानोऽभावनाहितान्गि मभि-  
भवितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वग्निर्गार्हपत्याद्यायतने बहिराधीयते, कथं तस्यान्त-  
र्द्वारेण मिति, तत्राह — “तद्यत्रेति । “अभिप्राणितोति । मन्थ-  
नात् ‘जातं’ ‘तम्’ अग्निम् ‘अभि’ उपरि प्राणनं करोति । “स  
पुनरपानितोति । अग्नेर्हीपरि श्वासं मुत्सृज्य, तमेव श्वासं  
पुनरन्तर्नयेत् । तेन सार्द्धं मग्निरपि अन्तः प्रविशन्  
यजमानस्य हृदये आहितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

नियतस्यावाह्यस्याग्नेरुद्दीपनं समिन्धनं विधत्ते — “त मिति ।  
उद्दीपनं काष्ठप्रक्षेपः, समिन्धनं सम्यक् प्रज्वलनम्, तदुभय मन्त-  
रग्नौ \* दर्शयति — “इहेति । ‘इह’ अस्मिन् बाह्येग्नौ ‘यक्ष्ये’  
यागं कारिष्ये, तत्फलञ्च सम्पादयिष्यामीति यो मनोव्यापारी  
सङ्कल्पो, ते एवान्तराहितस्याग्नेरुद्दीपनसमिन्धने इत्यर्थः । “यो-  
ऽस्यैषोऽन्तरात्मवग्निराहितो भवतीत्युपसंहारः ॥ १६ ॥

एव मन्तरग्निं मादधानस्य व्यवायादिदोषोऽपि नास्तीति  
प्रतिपादयति — “अन्तरेणेत्यादिना । अग्नियजमानयोर्मध्ये  
देवदत्तादेरागतेन च व्यवायादिभिः ‘व्यवृत्तत्’ व्यावृत्तो विमुखो-  
ऽभूदिति यो दोषः, सोऽप्यत्र नास्ति । तत्र हेतु माह — “न  
ह वा इति । न खलु हृदयमध्ये स्थापितस्य अग्नेर्यजमानस्य  
च मध्ये कोऽपि गच्छति यावज्जीवम् ; अतो वृथा शङ्का न  
कार्येति । एवंविदुषोऽन्यनुगमनशङ्कापि न कार्येत्याह — “तस्मा-  
दिति । न ह वा अस्येति बाह्यस्याग्नेरनुगमेऽपि अन्तराहित-

\* ‘मान्तराग्नौ’ — इति च ।

स्याग्नेर्यावज्जीव मवस्थानात्, न खल्वस्य यजमानस्यैषोऽग्नि-  
रनुगच्छत्युपशाम्यति ॥ १७ ॥

नन्वन्तर्गार्हपत्याद्यग्नयो न सन्ति, कथं तेषां मनुगम इत्यत  
आह — “ते वा इति । गार्हपत्यादीनां प्राणोदानव्यानात्मना-  
वस्थितत्वात् नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आहिताग्निना सत्य मेव वदितव्यम्, न कदाचिदप्यनृत  
मित्युभयं प्रतिपादयति — “तस्य वेत्यादिना \* ॥ १९ ॥

एतत्सत्यवदनस्याग्निसमिन्धनहेतुत्वं सृषिवाक्यसम्बन्धेन द्रष्ट-  
यति — “तद् हेति । ‘तत्’ तत्रोक्तविषयेऽपि खल्वेवं पूर्व-  
वृत्तान्तः सञ्जातः । उपवेशो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रम् ‘अरु-  
णम्’ तदीयाः ‘ज्ञातयः’ उक्तवन्तः । किमिति— हे अरुण !  
‘स्थविरः’ वृद्धः ‘असि’ अत आसुष्मिक-सिद्धये अग्न्याधानं  
कुर्विति । स चैवं प्रत्युक्तवान् । कथं मिति— “मैतद् ब्रूयेति  
तद्वचनम् । ‘वाच्यम् एवैवि’ वाग्यत एव भवति । कुत एवं  
प्रार्थ्यते ? तत्राह — ‘न वा इति । आहिताग्निना हि  
अनृतं न वदितव्यम् । वाग्व्यवहारं कुर्वतस्तु अनृतवदननिषेधो

\* एतस्याः कण्डिकाया व्याख्यानं मेव मकारि हरिश्चाभिना— “तस्य वा  
एतस्येति । वाह्याभ्यन्तरस्याग्न्याधेयस्य ; तेषां माहितानां मग्नीनां वाह्या-  
भ्यन्तराणां मित्यर्थः । ‘सत्य मेव’ नानृतम्, उपधायाचरणं मुपचारः ; सत्येनैव  
पूतवचनेन ते अग्नी यज्ञे आधीयन्तेत्यर्थः । कथम् ? यः सत्यं वदति आहि-  
ताग्निः, स एव मग्नि माहितं मन्तर्वह्निश्च घृतेनाभिषिञ्चति; अनृतवादी तूद-  
केनाभिषिञ्चन् ‘जासयति’ । “जासु हिंसायाम्” । हिनस्ति क्षययति ।  
तस्य चाधातुरनेन कारणेनैव तेजसो वृद्धिदानीं भवतः । तस्मादाहिताग्नेः  
रक्षणाय सत्यविधिः— इति ।

न सम्भवति । यस्मादेव सृषिणीकृतम् -- “न वदन् जातु”-इत्यादि,  
तस्मात् सत्यवचन मेवामन्याधेयस्याङ्गमित्यर्थः\* ॥ २० ॥ ६ [२. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः † ॥

---

\* “अमृतातिथ्यापनोदपूतिदावाधानवीसपक्वमायुदकानि वर्जयेत्”—इति  
का० श्रौ० सू० ४. १०. १५ । “यजमानः आधानानन्तरं मेतानि यावज्जीवं  
वर्जयेत्”—इत्यादि च तत्र या० दे० ।

† “कण्डिकासङ्ख्या ११४”—इति क, ख, घ, ङ । “काण्डी ११४”—इति  
ग । तत्र १ ब्रा० १४ क०, २ ब्रा० १६ क०, ३ ब्रा० ६ क०, ४ ब्रा० ३० क०  
५ ब्रा० २२ क०, ६ ब्रा० २० क० ; सङ्कलनया ११४ इति सिद्धम् ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

व्वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे । स राज्यं मग-  
च्छत्तस्माद्यश्च व्वेद यश्च न व्वरुणो राजेत्येवाहुः  
सोमो यशस्कामः स यशोऽभवत्तस्माद्यश्च सोमे  
लुभते यश्च नोभावेवागच्छतो यश एवैतद् द्रष्टु माग-  
च्छन्ति यशो ह भवति राज्यं गच्छति यु एवं व्विडा-  
नाधत्ते\* ॥ १ ॥

अग्नौ ह वै देवाः† । सर्वाणि रूपाणि निद-

\* 'धत्ते'—इति घ, ङ ।

† 'वाः'—इति घ, ङ ।

धिरे यानि च ग्राम्याणि यानि चारण्यानि व्विजयं  
वोपमैष्यन्तः कामचारुख वा कामायायं नो गोपिष्ठो  
गोपायदिति वा ॥ २ ॥

तान्यु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्यत्तून्  
प्रविवेश पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतं  
तेषां हेयसेवास किमिह कर्त्तव्यं केह प्रज्ञेति  
वा \* ॥ ३ ॥

तुत एतत् त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श । तदादधे  
तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम सोऽस्मा ऽउभयानि  
रूपाणि प्रतिनिःससर्ज यानि च ग्राम्याणि यानि  
चारण्यानि तस्मादाहुस्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति  
त्वष्टुर्ह्येव सर्वं रूपमुप ह त्वेवान्याः प्रजा यावत्सो  
यावत्स † इव तिष्ठन्ते ‡ ॥ ४ ॥

तस्मै कं पुनराधेयमादधीत । एवमु ह्यैवान्तेः  
प्रियं धामोपगच्छति सोऽस्मा ऽउभयानि रूपाणि  
प्रतिनिःसृजति यानि च ग्राम्याणि यानि चार-

\* 'प्रज्ञेतीव'— इति क, ख, ग ।

† 'यावच्छो यावच्छ'— इति क, ख, ग ; डा०-वेबरेण च दृष्टः ।

‡ 'उपतिष्ठन्ते'— इति सा०-सम्मत इति डा०-वेबरः ।

गुणानि तस्मिन्नेतान्यभयानि रूपाणि दृश्यन्ते पर-  
मता वै सा स्पृहयन्त्यु हास्यै तथा पुष्यति लोक्य-  
स्वेवापि ॥ ५ ॥

आग्नेयोऽयं यज्ञः\* । ज्योतिरग्निः पाप्मनो  
दग्धा सोऽस्य पाप्मानं दहति सु इह ज्योतिरेव  
श्रिया युशसा भवति ज्योतिरमुत्र पुण्यलोकत्वै-  
तन्नु तद्यस्मादादधीत ॥ ६ ॥

स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्वऽऋ-  
तवो वर्षा हि वै सर्वऽऋतवोऽथादो वर्षं मकुर्मादो†  
वर्षं मकुर्मेति संवत्सराङ्गस्य श्यन्ति वर्षा ह‡ त्वेव  
सर्वेषा मृतूनां८ रूपं मृतं हि तद्वर्षासु भवति यदाहु-  
र्ग्रीष्मऽइव वा८ अद्येत्युतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः  
शिशिरऽइव वा८ अद्येति वर्षादिद्वर्षाः § ॥ ७ ॥

अथैतदेव परोऽक्षं९ रूपम् । यदेव पुरस्तादाति

\* 'यज्ञः'— इति घ, ङ ।

† 'यो'— इति ग ।

‡ 'हि'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

§ 'वर्षा'— इति घ, ङ ।

९ 'पम्'— इति घ, ङ ।

तद्वसन्तस्य रूपं यत् स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य यदुर्षति  
तद् वर्षाणां यद् विद्योतते तच्छरदो यद् वृष्टोद्-  
गच्छाति तद्धिमन्तस्य वर्षाः सर्व्व ऽऋतव ऋतून्  
प्राविशदुभ्य एवैन मेतन्निर्म्मिमीते ॥ ८ ॥

आदित्यस्त्वेव सर्व्व ऽऋतवः । यदैवोदेत्यथ  
वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ  
वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद्यदैवास्त मेत्यथ हिमन्त-  
स्तस्माद् मध्यन्दिन ऽएवादधीत तर्हि ह्येषोऽस्य  
लोकस्य नेदिष्ठं भवति तन्ने दिष्टादेवैन मेतन्मुध्या-  
न्निर्म्मिमीते ॥ ९ ॥

काययेव वा ऽअयं पुरुषः । पाप्मनानुषक्तः  
सोऽस्यात्र कुनिष्ठो भवत्यधस्पद् मिवेयस्यते तत् कुनिष्ठ  
मेवैतत्पाप्मान मवबाधते तस्माद् मध्यन्दिन ऽएवा-  
दधीत ॥ १० ॥

तं वै दभैरुद्धरति । दारुभिर्व्वै पूर्व्वं मुद्धरति  
दारुभिः पूर्व्वं दारुभिरुपरं जामि कुर्यात्समुदं  
कुर्यादापो दर्भा आपो वर्षा ऋतून् प्राविशदङ्घ्रि-  
रेवैन मेतदङ्गो निर्म्मिमीते तस्माद्दभैरुद्धरति ॥ ११ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । व्रीहिमुय मपूपं कृत्वा यत्



गार्हपत्य माधास्यन् भवति तन्निदधाति तद्-  
गार्हपत्य मादधाति ॥ १२ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । यत्रमयमपूपं कृत्वा युत्रा-  
हवनीय माधास्यन् भवति तन्निदधाति तदाहवनीय  
मादधाति पूर्व्व्वाभ्या मेवैनावेतदग्निभ्या मन्तुर्दध  
इति व्वदन्तस्तुद तथा न कुर्व्याद्रान्निभिर्ह्येवान्तर्हिती  
भवतः ॥ १३ ॥

आग्नेय मेव पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
तस्य पञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति  
पञ्च वा ऽऋतव ऋतून् प्रविशदतुभ्य एवैन मेतन्निर्मि-  
मीते ॥ १४ ॥

सुर्व्व आग्नेयो भवति । एव् हि त्वष्टाग्नेः  
प्रियं धामोपागच्छत् तस्मात् सुर्व्व आग्नेयो  
भवति ॥ १५ ॥

तेनोपांशु चरन्ति । यद्वै ज्ञातये वा सुख्ये वा  
निष्केवल्यं चिकीर्षति तिरुद्रव वैतेन\* बोभवद्वैश्वदेवो-  
ऽन्यो यज्ञोऽथैष निष्केवल्य आग्नेयो यद्वै तिरु द्रव  
तदुपांशु तस्मादुपांशु चरन्ति ॥ १६ ॥

उच्चैरुत्तम मनुयाजं यजति । कृतकर्मैव हि  
स तर्हि भवति सर्व्वो हि कृत मनुबुध्यते ॥ १७ ॥

स आश्राव्याह । समिधो यजेति तदाग्नेयं  
रूपं परोऽक्षं त्वग्नीन्यजेति त्वेव ब्रूयात्तदेव प्रत्यक्ष  
माग्नेयं रूपम् \* ॥ १८ ॥

स यजति । अग्न आज्यस्य व्यन्तु व्वौभ-  
गग्निमाज्यस्य वेतु व्वौभगग्निनाज्यस्य व्यन्तु व्वौभ-  
गग्निराज्यस्य वेतु व्वौभगिति ॥ १९ ॥

अथ स्वाहाग्नि मित्याह । आग्नेय माज्यभागं  
स्वाहाग्निं पवमान मिति यदि पवमानाय धिये-  
रन्तस्वाहाग्नि मिन्दुमन्त मिति यद्यग्नयः ऽइन्दुमते  
धियेरन्तस्वाहाग्निं स्वाहाग्नीनाज्यपाञ्चुषाणो †  
ऽअग्निराज्यस्य वेत्विति यजति ॥ २० ॥

अथाहाग्नेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-  
भागं सोऽन्वाहाग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो  
ऽअमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधदिति स्वपितीव  
खलु वा ऽएतद्यदुद्वासितो भवति सम्प्रबोधयत्येवैन

\* 'रूपम्'— इति क, घ, ङ ॥

† 'पाञ्चुषाणो'— इति घ, ङ ।

मेतत्समुदीर्ययति\* जुषाणो ऽअग्निराज्यस्य वेत्विति  
यजति ॥ २१ ॥

अथ यद्यग्नये पवमानाय ध्रियेरन् । अग्नये  
पवमानायानुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहग्न ऽआयूष्मि  
पवस ऽआसुवोर्ज्ज मिषं च नः । आरे बाधस्व  
दुक्कुना मिति तथाहाम्नेयो भवति सोमो वै पव-  
मानस्तदु सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणो ऽअग्निः  
पवमान आज्यस्य वेत्विति यजति ॥ २२ ॥

अथ यद्यग्नय ऽइन्दुमते ध्रियेरन् । अग्नय  
ऽइन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहेह्य ऽषु ब्रवाणि  
तेऽग्न ऽइत्येतरा गिरः । एभिर्चर्द्धास † ऽइन्दुभिरिति  
तथा हाम्नेयो भवति सोमो वा ऽइन्दुस्तदु सौम्या-  
दाज्यभागान्नयन्ति जुषाणो ऽअग्निरिन्दुमानाज्यस्य  
वेत्विति यजत्येव मु सव्यं मानेयं करोति ॥ २३ ॥

अथाहाम्नयेऽनुब्रूहीति हविषः । अग्निं यजा-  
म्ये स्विष्टकृतेऽनुब्रूह्यग्निं स्विष्टकृतं यजेत्यथ यद्  
देवान् यजेत्यग्नीन् यजेत्येवैतदाह ॥ २४ ॥

\* 'दीर्घयति'— इति क ; 'दीर्घयति'— इति ख, ग ।

† 'चर्द्धम'— इति घ, ङ ।

सु यजति । अग्नेर्व्वसुवने व्वसुधेयस्य व्वेतु  
व्वौभगम्ना ऽउ व्वसुवने \* व्वसुधेयस्य व्वेतु व्वौभग्  
देवो ऽअग्निः स्विष्टकृदिति स्वयु माग्नेयस्मृतीय एव  
स्वान्मेयाननुयाजान् करोति ॥ २५ ॥

ता वा ऽएताः† । षड् विभक्तीर्य्यजति चतुस्त्रः  
प्रयाजेषु द्वे ऽअनुयाजेषु षड् वा ऽऋतव ऋतून्  
प्राविशदुभ्य एवैन मेतन्निर्मिमीते ॥ २६ ॥

द्वादश वा त्रयोदश व्वाक्षराणि भवन्ति । द्वादश  
वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सर  
स्मृतून् प्राविशदुभ्य एवैन मेतत् संवत्सरान्निर्मि-  
मीते न द्वे चन सहजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्  
द्वे चित् सह स्यातां व्यन्तु व्वेत्वित्येव प्रयाजानां  
रूपं व्वसुवने व्वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम् ॥ २७ ॥

तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वा ऽएष  
यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा-  
नड्गान्वा स हि व्वहेनाग्नेयोऽग्निदग्ध मिव ह्यस्य  
व्वहं भवति देवानां इव्यवाहनीऽग्निरिति

\* 'व्वसुवने'— इति ख ।

† 'ताः'— इति घ, ङ ।

व्वहति वा ऽएषु मनुष्येभ्यस्तस्मादनङ्गान् दक्षिणा  
॥ २८ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२.३.] ॥

अथ पुनराधेयं \* विधित्सुः स्वपक्षातिभूतं मुक्तं मग्न्याधेयं  
प्रकृतिरूपार्थवादेन † राज्ययशोहेतुत्वेन प्रशंसति — “वरुण इति ।  
“सोमो यशस्काम इति । आदध इत्यनुपङ्गः । उक्तं मर्थं प्रकृते  
योजयति — “यशो हेति । ‘यशः’ यशस्वी भवतीत्यर्थः ‡ ॥ १ ॥

पुनराधेयं विधातुं मास्थायिकया प्रकृति — “अग्नी हेति ।  
निधाने कारणानि वैकल्पिकानि लीङ्युपन्यस्यति — “विजयं  
वेति । असुरान् विजेतुं सुपगमनसमये पूर्वसिद्धाग्न्याधान-  
स्यार्थं मर्थनिधानं मिल्येकः पक्षः । ‘कामचारस्य’ कामाय  
यथेच्छं क्रोडितुं सञ्चरणस्य यः कामः, तदर्थं वा तन्निधानं मिति  
द्वितीयः । गृहे एव स्थितानां ‘नः’ अस्माकं देवानां मध्ये  
अयं मग्निः ‘गोपिष्ठः’ गोपायित्तमो रक्षणकुशलोऽस्मदीयं धनं  
गोपायितुं § रक्षितुं शक्नोतीत्यनेनाभिप्रायेण वा तन्निधानं मिति  
तृतीयः पक्षः ॥ २ ॥

\* “पुनराधेय माधानाप्रतिज्ञातस्य” — इति का० श्रौ० सू० ४.१०.१ ।

† ‘प्रकृतिरूपार्थवादेन’ — इति छ ।

‡ ‘राज्ययशस्कामस्य वा’ — इति का० श्रौ० सू० ४.१०.२ ।

§ ‘गोपायतु’ — इति च ।

“ताभ्यु हेत्यादि । ‘तानि’ देवेर्निहितानि ‘आम्यारण्यानि’  
रूपाणि सः ‘अग्निः’ नितरां कामितवान्, अह मेवैतत् सर्वं सुप-  
भोक्ष्ये इति । ‘तैः’ निक्षेपैः सह विद्यमानं सर्वं सङ्गृह्य  
वसन्ताद्यान् ‘ऋतून्’ चोरादिः पर्वत मिव प्रविष्टवान् (अन्तर्दधेः) ।  
देवा अपि अस्मदीयं स्थानं ‘पुनः’ आगच्छामः ‘इति’ अनेनाभि-  
प्रायेण तं ‘तिरोभूतम्’ ‘अग्निम्’ आगच्छन् । पूर्वं यस्मिन्  
स्थानी सोऽग्निः स्थितः, तत्र त मपश्यतां ‘तेषां’ देवानां  
‘इयसा इव आस’ विहीनाः स्थानां प्राप ॥ अग्निरस्मदीयं सर्वं  
धन मपहृत्य गतः, ‘इह’ अस्मिन् विषये ‘किम्’ अस्माभिः  
‘कर्त्तव्यम्’, ‘का वा’ बुद्धिः ? ‘इति’ ॥ ३ ॥

“तत एतदिति । एवं विचारयतां मध्ये ‘ततः’ अनन्तर  
मेव ‘त्वष्टा’ ‘एतद्’ वक्ष्यमाणं ‘पुनराधेय’ ‘ददर्श’ । “तदादध  
इत्यादि, निगदसिद्धम् । “उप ह त्वेवेति । ‘उप ह तु एव’ ।  
‘यावच्छः’ ‡ यावत्प्रकारविशिष्टं त्वाङ्गं रूपम् ‘अन्याः प्रजाः’  
‘उपतिष्ठन्ते’, तावत्यो जायन्ते इत्यर्थः । वीष्मा तु सर्व-  
सङ्गृहार्था ॥ ४ ॥

“तस्मा, इति, पुनराधेयविधिः । यदाख्यायिकया प्रति-

\* नास्तीतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

† इयसा=चिन्ता, इत्याह हरिस्वामी । प्रथमकाण्डेऽप्युक्तं तेन—  
‘इयस्-शब्दोऽवसानवचनः कण्ठादिषु पठ्यत इति (१ भा० ६१० पृ०) । तत्त्व-  
तस्तु इयस्यते, इयसा, इयसित मिति त्रीण्यपि रूपाण्येकधातुजानि  
समानार्थानि । इहैवोत्तरत्र (१० क०) ‘इयस्यते’— इति च विवेच्यम् ।

‡ ‘यावच्छो यावच्छ इव । यावच्छब्दोऽल्पवचनः, अल्प रूपा  
मित्यर्थः’— इति हरिस्वामी ।

पक्षं प्रयोजनम्, अग्निप्रियधामोपगमनादिलक्षणम्, तदर्थं पुनराधानं कुर्यादित्यर्थः । प्रथमाहितस्याग्नेः \* विधानान्तरेण पुनस्तेष्वायतनेषु स्थापनं पुनराधेयम् । “एवं हेत्यादि, निगदसिद्धम् । “परमता वै चेति । येयं ग्रामारण्योभयप्राप्तिः ‘सा’ ‘परमता’ परमत्वं सर्वोक्तृष्टत्वम् । किञ्च ‘अस्मै’ पुनराधेयं कृतवते सर्वे जनाः ‘स्पृहयन्ति’ आद्रियन्ते । “स्पृहेरोप्सितः”— इति † सम्प्रदानसञ्ज्ञा ‡ । तथा अयं मयि ‘लोक्यम्’ लोकनीयम् उक्तं प्राप्य ‘पुष्यति’ प्रवृद्धो भवति ॥ ५ ॥

विहितं पुनराधेयं मग्निसम्बन्धोपजीवनेन प्रशंसति— “आग्नेयोऽयं यज्ञ इति । ज्योतिरात्मको ह्यग्निः ‘पाप्मनः’ ‘दग्धा’ दाहकः । अतः ‘सः’ अग्निः स्वसम्बन्धि-यज्ञं कुर्वतः ‘अस्य’ पापं निर्दहति । “एतन्नु तदिति । यस्मै फलाय आदधीत, ‘एतत्’ उक्तविधिफलं खलु ‘तत्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषं विधत्ते— “स वा इति । ऋत्वन्तरं परित्यज्य वर्षर्तुविधाने कारणमाह— “वर्षा वा इति § । एतदुपपादयति— “वर्षा हि वा इत्यादिना । यस्मादेवं वर्षर्तुः सर्वात्मकः, तस्मात् समुदायात्मकं संवत्सरं वर्षशब्देन लोको व्यवहरतीति दर्शयति— “अथेति । सर्वर्तुरूपा वर्षा इति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते— “वर्षा ह त्वेवेति । एतदुपपादयति— “तदिति । ग्रीष्म-

\* “प्रथम माहितस्याग्नेः”— इति च ।

† पा० सू० १. ४. ३६ ।

‡ ‘स्पृहेरोप्सिततम मिति सम्प्रदानसञ्ज्ञा’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ क ।

शिशिरधर्मयोः प्रकाशयैत्ययोः वर्षासु सङ्गावात्, वर्षयोगाच्च \*  
वर्षर्त्तोऽस्मावदुभयात्मकत्वम् । तत्र † ग्रीष्मे वसन्तस्य, वर्षासु  
शरदः, शिशिरे हेमन्तस्य, समानधर्मतयान्तर्भावात् सर्वर्त्तु-  
रूपत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं प्रत्यक्षविषयं प्रकाशादिधर्मयोगेन सर्वत्र मभिधाय  
परोक्षधर्मवशादपि तत् प्रतिपादयति— “अथैतदिति । पुरो-  
वातादयो ‡ हि वसन्तादीनां परोक्षभूता धर्माः । तेषां च  
सर्वेषां वर्षासु सङ्गावात् सर्वर्त्तुरूपतेत्यर्थः । “ऋतून् प्राविशदि-  
त्यादि । यस्मादग्निः प्रागुक्तरीत्या ऋतून् प्राविशत्, तस्मादेनं  
वर्षास्वाधानस्तेभ्य एवर्त्तुभ्यः पुनरुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

तच्च पुनराधानं महर्त्तु मध्यन्दिने कार्यं मिति § विधित्सु-  
स्तदर्थं मादित्यस्य सर्वर्त्तुरूपता माह— “आदित्यस्त्वेवेति ।  
प्रातः-सङ्गव-मध्याह्न-पराह्ण-सायङ्कालात्मकाः अङ्गोऽवयवाः सूर्य-  
सम्बन्धिनः पञ्चर्त्तवः ; तत्र वर्षास्वाधानस्य विहितत्वात् तदात्मके  
मध्यन्दिने एव तत् कुर्यादित्यर्थः । तदेतन्मध्यन्दिनाधानं प्रशं-  
सति— “तर्हीति । ‘तर्हि’ तस्मिन् मध्यन्दिने समये ‘एषः’  
आदित्यः ‘अस्य लोकस्य’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमो ‘भवति’ ।  
सिद्धं मन्यत् ॥ ९ ॥

प्रकारान्तरेण तन्मध्यन्दिनाधानं प्रशंसति— “ह्याययेवेति ।  
“सोऽस्येति । ‘अस्य’ पुरुषस्य ह्यारूपः ‘सः’ पाप्मा ‘अत्र’

\* ‘वृथियोगाच्च (?)’— इति च ।

† ‘ततः’— इति च ।

‡ ‘पुरोवात इत्यादयो’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४, ११, ६ ख ।



अस्मिन् मध्यन्दिने 'कनिष्ठः' अल्पतमः 'भवति' । स च  
( पाप्मा \* ) पुरुषस्य † पादयोरधस्तादिव 'इयस्यते' प्राप्नोति ‡ ।  
“इण् गती”-इति धातुः § । “तत् कनिष्ठ मित्यादि सुग-  
मम् ॥ १० ॥

तस्य पुनराधिक्षितस्यानेदं भेदे बोद्धव्यं कार्यमिति ¶ विधत्ते—  
“तं वा इति । आधानवत् पुनराधानेऽपि दारुभिरुद्धरणे दोष  
माह — “दारुभिः पूर्वं मिति ॥ । उभयोरैकरूप्ये जामिता-  
दोषः स्यात् । तथा 'समदं' दारुविषयं परस्परं तयोः कलह  
मपि जनयेदित्यर्थः । विहितं दर्भैरुद्धरणं प्रशंसति — ‘आप  
इति । दर्भाणां मल्लिकारत्वं प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम्— “ता  
उपर्युपर्यतिपुष्पविरैऽत इमे दर्भाः”-इति \*\* ॥ ११ ॥

व्रीहियवमययोरूपयोरर्कपर्णद्वयसङ्गृहीतयोर्गार्हपत्याहवनी-  
यायतनयोर्निधानं विधत्ते — “अर्कपलाशाभ्या मित्यादिना ।  
अतएवोक्तं कात्यायनेन — “वर्षासु मध्यन्दिने वा कुशैराधानं

\* नाख्येतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘पुरुषरूपस्य’- इति च ।

‡ ‘प्रदोति’- इति च ।

§ अदा० प० १४ धा० । हरिस्वामिमते तु कण्ठादेरियण्शब्जघातो-  
मेवेदं रूपम् ; अतएवेह ‘इयस्यते = अवसीदति’- इति व्याख्यानं  
तेन । १ भा० ६१० पृ० ५ पं० “इयमितं” द्रष्टव्यम्, द्रष्टव्यस्येहापि  
पुरस्तात् तृतीयकाण्ड्याम् ( ८४ पृ० ) ‘इयसा’-पदव्याख्यानम् ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. ११. ७ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ; “नेभि न”-इति च तत्र ४. ६. ११ ।

\*\* १ भा० ६०, ६५ पृ० ( १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ) द्रष्टव्यम् ।

व्रीह्यपूप मर्कपलाययोः पक्कं गार्हपत्यस्य स्थाने निदधत्येव  
माहवनीयस्य याव मिति \* ॥

अपूपनिधानस्य प्रयोजन माह — “पूर्वाभ्या मिति । पूर्व  
माहिती यौ गार्हपत्याहवनीयौ ताभ्या मित्यर्थः । तदेतन्निषे-  
धति — “तदु तथेति । “रात्रिभिर्द्धेवेति । अनुगतयोः रात्रिभि-  
रेव व्यवधानात् नापूपव्यवधानेन प्रयोजन मित्यर्थः ॥ १२, १३ ॥

‘आग्नेय मेवेति । यदग्न्याधेयपवमानेष्टिकार्यम् †, तदा-  
ग्नेय एवकपालः करोतीति न पृथक्तया कर्त्तव्या इत्येवका-  
रार्थः ॥ १४ ॥

“सर्वं आग्नेयो भवतीति । अस्यां पञ्चकपालेष्टी आज्य-  
भागादिः सर्वोऽपि यागोऽग्निदेवस्यः कार्य इत्यर्थः ‡ ॥ १५ ॥

“तेनोपांशु चरन्तीति § । विहित सुपांशुत्व सुपपाद-  
यति — “ज्ञातये वेति । ‘यद्’ हुतं ‘निष्कवत्यम्’ इतरेभ्यो  
निष्कृथ केवलम्, तदेकभागं ‘चिकीर्षति’ कर्त्तुं मिच्छति,  
‘एतेन’ ‘तिर इव’ ‘बोभवद्’ भवति, तिरोहितं परोक्ष मेव तत्  
प्रदीयत इत्यर्थः । “यद्दे तिर इवेति । ‘यत्’ खलु तिरोहित-  
वत् ‘उपांशु’ भवति, उपांशुचार्यमाणस्यापि परश्चोचयाह्यत्वा-  
भावेन तिरोहितत्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“उच्चैरुत्तम मनुयाजं करोतीति ¶ । यावत् ‘उत्तमः’

\* का० श्रौ० सू० ४. ११. ६-८ । “सद्यश्चेत्”—इति सूत्रशेषः ।  
‘चेद्वदि सद्योऽग्नय उत्सृष्टास्तदायं विशेषः’— इति तट्टीकायां या० दे० ।

† ‘यदग्न्याधेये पवमानादि कार्यम्’— इति ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ क ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ ख । ¶ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ ग ।

तृतीयः अनुयाजः, तावत्पर्यन्तं मुपांशुस्वरः, तत ऊर्ध्वं मुखे-  
रेव सत्र प्रयोग इत्यर्थः \* । तत्र कारणं माह— “कृतकर्म-  
वेति ॥ १७ ॥

प्रयाजादिषु सर्वान्वेयकरणं प्रतिपादयति— “स आश्राव्ये-  
त्यादिना । प्रथमप्रयाजे यत् “समिधो यज”—इति प्राकृतं  
वचनम् †, ‘तत् आग्नेयं रूपम्’; समिध्वनप्रत्यभिज्ञानात् ; किन्तु  
तत् ‘परोक्षम्’ । अतः समिध इत्येतस्य स्थाने “अग्नीन् यज”—  
‘इत्येव’ ‘सूयात्’ ॥ १८ ॥

प्रयाजयाज्यास्वपि क्रमेणाग्निविभक्तिं योजयति ‡— “स  
यजतीति । प्रकृतिषु याज्यासु आज्यशब्दात् पूर्वं यथाक्रमम्  
‘अग्ने’, ‘अग्निम्’, ‘अग्निना’, ‘अग्निः’— एताश्चतस्रो विभक्तीः  
विहिताः § ; एताभिर्यजेदित्यर्थः ¶ ॥ १९ ॥

पञ्चमप्रयाजानुयाजयोः ॥ विशेषं माह— “अथ स्वाहेति ।  
प्रकृतिवत् प्रथमाज्यभागदेवतां सङ्कीर्त्य द्वितीयाज्यभागदेवतायाः  
सोमस्य स्थाने अग्निः पवमानोऽग्निरिन्दुमान् वा अध्वर्युप्रयो-  
गानुसारेण विकल्पेन निर्द्देष्टव्य इत्यर्थः । स्वाहा देवानाज्य-

\* यावदित्यादीनां स्थाने “उत्तमं तृतीयम्”—इत्येतन्मात्रमेव च-पुस्तके ।

† ‘बन्धनम्’— इति च ।

‡ ‘०विभक्तियोजनं प्रतिपादयति’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ११, १२ ।

¶ अत्र मूले यद् बौध्गिल्यसकृदास्मात्, तस्य व्याख्यानं मिह नाकारि  
भाष्यकारेण कथं निति चिन्तनीयमेव ; पूर्वन्तु बौध्गिल्यस्य व्याख्यानं कृतं  
मेवेति तद् द्रष्टव्यम् ( १ भा० ४६० पृ० ३ पं० ) ।

॥ ‘पञ्चमप्रयाजानुयाज्यायां’— इति च ।

पानिति \* प्रयाजदेवतानिर्हंशेऽपि “स्वाहाग्नीनाज्यपान्”—  
इति प्रयोक्तव्यम् ॥ २० ॥

“अथाहानय इति । प्रथमाज्यभागस्य “अग्निं स्तीमेन  
बोधय”—इति † बुधिधातुयुक्ता मनुवाक्यां दर्शयित्वा तस्याः  
पुनराधेयानुकल्प माह — “स्वपितीवेति । ‘समुदीर्ययति’  
समुद्रमयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

द्वितीयाज्यभागस्य प्रागुक्तपक्षद्वयेऽपि ‡ याज्यानुवाक्ये दर्श-  
यति— “अथ यदीत्यादिना । निगदसिद्धोऽर्थः ॥ २२ ॥

“अथ यद्यग्नय इति । “एव सु सर्व मिति । उक्तरीत्या  
प्रयाजानां माज्यभागयोश्चाग्निसम्बन्धकरणात् तत् सर्व मानेयं  
भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आधानस्विष्टकृतोऽस्त्वग्निसम्बन्ध § इति दर्शयति— “अथा  
हानय इति । प्रथमप्रयाजवत् प्रथमानुयाजेऽपि “देवान् यज”—  
इत्यस्य स्थाने “अग्नीन् यज”—इत्यग्निविभक्तिः कार्या ¶ ॥ २४ ॥

तथा द्वितीयेऽप्यनुयाजे “अग्नाउ”—इति विभक्तिः प्रयोक्त-  
व्येति प्रतिपादयति— “स यजतीत्यादिना । “स्वय मानेय  
इति । ‘तृतीयः’ त्वनुयाजः ‘स्वय मानेयः’ स्वय मेवाग्निशब्द-  
वानिति न पृथक् तच्चाग्निविभक्तिः प्रक्षेप्तव्येत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं प्रयाजानुयाजेषु प्रक्षिप्ताः सम्भूयानूद्य प्रशंसति— “ता  
वा इति ॥ २६ ॥

\* ‘देवां आज्यपानिति’— इति च । † ऋ० सं० ५. १४. १ ।

‡ ‘प्रागुक्तपक्षद्वयाय’— इति च ।

§ ‘अधुना स्विष्टकृतोऽप्यग्निसम्बन्ध’— इति च ।

¶ का० श्रौ० सं० ४. ११. ११ ।

( २५० ३ब्रा० )      ॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

तासां विभक्तीना मच्चरसङ्ख्या मुपजीव्य प्रशंसति — “द्वादश वेति । ‘अग्नाउ’-इत्यत्रान्तिमाच्चरत्यागे सति द्वावशाचराणि भवन्ति, तेन सह त्रयोदश भवन्तीत्यर्थः । “न हे चनेति । चनशब्दोऽप्यर्थः \* । ‘हे’ अपि वक्ष्यमाणे ‘न’ ‘सह’ प्रयुञ्जीत, किमर्थम् ? ‘अजामितायै’ जामितादोषराहित्याय । व्यतिरेके तत्सङ्गाव माह — “जामि हेति । के पुनस्ते हे ? इति, ते विभज्य दर्शयति — “व्यन्तु वेत्वित्यादिना ॥ २७ ॥

पुनराधेयस्य दक्षिणां विधत्ते — “तस्येति । “स हि वहेनेति । ‘सः’ खलु अनड्वान् ‘वहेन’ स्तम्भेन अग्निसम्बद्धो भवति † । तस्योपपातम् — “अग्निदग्ध मिवेति ‡ । अनड्वश्च साम्य माह — “देवाना मिति । अतो वह्नं स्यात् । पुनराधीयमानस्याग्नेः ‘अनड्वान् दक्षिणा’ § उक्तृष्टतरा इत्यर्थः ॥ २८ ॥ १ [ २. ३. ] ॥

इति त्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* “असाकल्ये तु चिच्चन” — इति अम० को० ३. ४. ३ ।

†, ‡ पूर्वस्मिन् काण्डे १ प्र० १ ब्रा० ६ कण्ठीम्, तद् व्याख्यानञ्च पश्यतु

§ का० श्री० मू० ३. ११. १३ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽद्भुतं मय ऽएक एवास । सु  
ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत  
सोऽग्नि मेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे तद्यदेनं मुखादु-  
जनयत तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैव मेत मग्नि  
मन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥ १ ॥

तद्वा ऽएन मेतद्ये देवाना मजनयत । तस्मा-  
दग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति सु जातः पूर्वः  
प्रेयाय यो वै पूर्व एत्यग्र ऽएतीति वै तु माहुः  
सो ऽएवास्त्राग्निता ॥ २ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं वा ऽद्भुतं मात्म-  
नोऽजीजने यदग्निं न वा ऽद्भुतं मुदन्यदुन्न मस्ति  
यं वा ऽअयं नाद्यादिति काल्वालीकृता हैव तर्हि  
पृथिव्यास नौषधय आसुर्न व्वनस्पतयस्तुदेवास्त  
मनस्यास ॥ ३ ॥

अथैन मग्निर्व्यात्तेनोपपर्याववर्त्त । तस्य भीतस्य  
स्वो महिमापचक्राम व्वाग्वा ऽअस्य स्वो महिमा  
व्वागस्यापचक्राम सु आत्मन्येवाहुति\* मीषे स उदमृष्ट

\* 'आत्मनेवाहुति'— इति घ, ङ ।

तद्यदुदुमृष्ट तस्मादिदं चालोमक मिदं च तत्र  
विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं वोभयं ह त्वेव  
तत्पय एव \* ॥ ४ ॥

सा हैनं नाभिराधयाञ्चकार । केशमिश्रेव  
हास तां वौक्षदोषं धयेति तत ओषधयः सम-  
भवंस्तस्मादोषधयो नाम स द्वितीय मुदुमृष्ट तत्रा-  
परा माहुतिं विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं  
वोभयं ह त्वेव तत्पय एव † ॥ ५ ॥

सा हैन मभिराधयाञ्चकार । स व्यचिकित्-  
सज्जुह्वानी३ मा हौषा३ मिति तं स्त्रो महि-  
माभ्यवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विदाञ्चकार  
स्त्रो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्मादु  
स्वाहेत्येव ह्वयते तत एष उदियाय य एष तपति  
ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते‡ तत एवाग्निः पुराड्  
पर्याववर्त्त§ ॥ ६ ॥

स हुत्वा प्रजापतिः । प्र चाजायतात्स्यतुश्चा-

\* † 'एव'— इति घ, ङ ।

‡ 'पवते'— इति च दृष्टो डा० वेबरेण ।

§ 'पर्यावर्त्तत'— इति ग ।

ग्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स यो हैवं विद्वानग्नि-  
होत्रं जुहोत्येतां हैव प्रजातिं प्रजायते यः प्रजा-  
पतिः प्राजायतैव मु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं  
त्रायते ॥ ७ ॥

स युत्र म्रियते । युत्रैन मग्नावभ्यादधति  
तदेष्टो\*ऽग्नेरुधिजायतेऽथास्य शुरीर मेवाग्निर्दहति  
तद्यथा पितुर्व्या मातुर्व्या जायेतैव मेष्टोऽग्नेरुधिजायते  
शुश्रुव वा ऽएष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न  
जुहोति तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ ८ ॥

तद्वा एतत् । एव विचिकित्सायै जन्म युत्  
प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्य विचिकित्सञ्क्षेयस्यधियत यः  
प्र चाजायतात्स्यतश्चान्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स  
यो हैव मेतद्विचिकित्सायै जन्म व्वेद यद्वा किञ्च  
विचिकित्सति श्रेयसि हैव ध्रियते ॥ ९ ॥

स हुत्वा न्यमृष्ट । ततो विकङ्कतः समभव-  
त्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षस्त एते देवानां  
वीरा अजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः स यो हैव



मेतान् देवानां वीरान् वेदाहास्य वीरो  
जायते ॥ १० ॥

तु ऽउ हैतु ऽऊचुः । व्यं वै प्रजापतिं पितर  
मनु स्मो हन्त व्यं तत् सजामहै यदस्मानन्वस-  
दिति ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिङ्कारेण तुष्टुविर  
तद्यत्पर्य्यश्रयन्त्सु समुद्रोऽथेय मेव पृथिव्या स्तावः \*  
॥ ११ ॥

ते सुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति  
देवा एङ्गाः सम्भूताः सा हैनानुदीच्य हिञ्चकार  
ते देवा व्विदाञ्चकुरेष साम्नो हिङ्कार इत्यपहि-  
ङ्कारः हैव पुरा ततः सामास स एष गवि साम्नो  
हिङ्कारस्तस्मादेषोपजीवनीयोपजीवनीयो ह वै† भवति  
य एव मेतं गवि साम्नो हिङ्कारं वेद ॥ १२ ॥

\* ते होचुः । भद्रं वा ऽद्भद् मजीजनामहि ये  
गा मजीजनामहि यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यज्ञ-  
स्तायतेऽन्ः ह्येवेयं यज्ञि किञ्चान्नं गौरेव  
तदिति ॥ १३ ॥

७ 'पृथिव्यास्तावः'— इति घ, ङ ।

† 'हैव'— इति ग ।

तद्वा ऽएतदेवैतासां नाम । एतद्यज्ञस्य तस्मा-  
देतत्परिहरेत्साधु पुण्य मिति ब्रह्मो ह वा अखैता  
भवन्त्युपनामुक् एनं यज्ञो भवति य एवं विद्वाने-  
तत्परिहरति साधु पुण्य मिति ॥ १४ ॥

ता मु हाग्निरभिदध्यौ । मिथुन्यनया स्वा  
मिति तां सुम्बभूव तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्तत्प्रयो-  
ऽभवत्तस्मादेतदामायां गवि सत्यां शृत मग्नेर्हि  
रेतस्तस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्यां शुक्ल  
मेव भवत्यग्निसङ्काश मग्नेर्हि रेतस्तस्मात् प्रथम-  
दग्ध मुष्णं भवत्यग्नेर्हि रेतः ॥ १५ ॥

ते होचुः । हन्तेदं जुह्वामहा ऽइति कुक्षौ  
न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति मुह्य मिति हैवाग्नि-  
रुवाच मुह्य मिति योऽयं पवते मुह्य मिति  
सूर्यस्ते न सम्पादयाञ्चवक्रस्ते हासम्पाद्योचुः  
प्रजापति मेव पितरं प्रत्ययाम स युक्षौ न इदं प्रथ-  
माय होतव्य वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्य-  
न्तीति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः कुक्षौ न इदं  
प्रथमाय होष्यन्तीति ॥ १६ ॥

स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्ठा स्वा रेतः

|                                                                                                                                                                    |     |     |     |    |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----|----|
| Padumawati, Fasc. 1-4 @ 1/4                                                                                                                                        | ... | Rs. | 8   | 0  |
| Paricigta Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/4 each                                                                                                                      | ... | ... | 1   | 14 |
| Prāk ta-Paingalam, Fasc. 1-7 @ 1/4 each                                                                                                                            | ... | ... | 2   | 10 |
| Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/4 each                                                                                                             | ... | ... | 1   | 14 |
| Ditto (English) Part II, Fasc. 1                                                                                                                                   | ... | ... | ... | 12 |
| Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1                                                                                                                                   | ... | ... | 1   | 8  |
| Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/4 each                                                                       | ... | ... | 7   | 8  |
| Parācara, Institutes of (English)                                                                                                                                  | ... | ... | 0   | 12 |
| Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each                                                                                                                | ... | ... | 2   | 4  |
| *Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/4 each Fasc.                                                                | ... | ... | 12  | 6  |
| Sāṅkhyā Sūtra V. tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/4                                                                                                                       | ... | ... | 1   | 8  |
| Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each                                                                                                                             | ... | ... | 2   | 4  |
| Sraddha Kriyā Kaumudī, Fasc. 1-6                                                                                                                                   | ... | ... | 2   | 4  |
| Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 1/12/                                                                                                                            | ... | ... | 0   | 12 |
| Suddhi Kaumudī, Fasc. 1-3                                                                                                                                          | ... | ... | 1   | 2  |
| *Taittēreya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/4 each                                                                                                                 | ... | ... | 9   | 0  |
| Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/4 each                                                                                                                      | ... | ... | 7   | 2  |
| Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/12/                                                                                                                         | ... | ... | 3   | 0  |
| Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. 1, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/4 each | ... | ... | 14  | 4  |
| Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3                                                                                                                                | ... | ... | 1   | 2  |
| Trikāṇḍa-Mandanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/4                                                                                                                          | ... | ... | 1   | 2  |
| Upamitā-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/4 each                                                                                                          | ... | ... | 3   | 0  |
| Uvāsagadasāo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/12/                                                                                                                 | ... | ... | 4   | 8  |
| Vallala Carita, Fasc. 1                                                                                                                                            | ... | ... | 0   | 6  |
| Varsa K. yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/4                                                                                                                               | ... | ... | 2   | 4  |
| *Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/4 each                                                                                             | ... | ... | 4   | 8  |
| Vidhano Parigata, Fasc. 1-7                                                                                                                                        | ... | ... | 2   | 10 |
| Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/4 each                                                                                                                       | ... | ... | 2   | 10 |
| Vihāṭ Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6                                                                                                                                   | ... | ... | 2   | 4  |

*Tibetan Series.*

|                                                                                              |     |     |    |   |
|----------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|----|---|
| Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/4 each                                                        | ... | ... | 4  | 0 |
| Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/4 each            | ... | ... | 14 | 0 |
| Rtogs brjed dpag khkharī Śiñ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/4 each | ... | ... | 10 | 0 |

*Arabic and Persian Series.*

|                                                                                                                                                                                       |     |     |    |    |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|----|----|
| *Ālamgīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/4 each                                                                                                                               | ... | ... | 4  | 14 |
| Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/12/                                                                                                                                     | ... | ... | 2  | 4  |
| Āl-i-Akbari, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/4 each                                                                                                                                             | ... | ... | 22 | 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each                                                                                              | ... | ... | 29 | 12 |
| Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/4 each                                                                                                                                  | ... | ... | 37 | 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/4 each                                                                                                                          | ... | ... | 9  | 0  |
| Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger                                                                                                                                               | ... | ... | 0  | 6  |
| Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/4 each                                                                                                                                | ... | ... | 7  | 2  |
| Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2                                                                                                                                         | ... | ... | 2  | 0  |
| Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/4 each                                                                  | ... | ... | 3  | 0  |
| Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/4 each                                                                                                             | ... | ... | 21 | 0  |
| Farhang-i-Rashidī, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/4 each                                                                                                                                       | ... | ... | 14 | 0  |
| Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/12/ each                                                                                                        | ... | ... | 3  | 0  |
| Futūh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/4 each                                                                                                                                 | ... | ... | 3  | 6  |
| Ditto of Āzādī, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/4 each                                                                                                                                           | ... | ... | 1  | 8  |
| Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī. (Text) Fasc. 1                                                                                                                            | ... | ... | 0  | 12 |
| History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each                                                                                                                              | ... | ... | 4  | 8  |
| Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/4 each                                                                                                                                  | ... | ... | 1  | 2  |
| Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/12/ each                                                                                                                                 | ... | ... | 38 | 4  |
| Maḡir-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6/ each | ... | ... | 13 | 2  |
| Maḡhāzi of-Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each                                                                                                                                       | ... | ... | 1  | 14 |

The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

|                                                                                                                         |     |    |    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|----|----|
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ / / each ...                                                                 | Rs  | 5  | 10 |
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes ; Vol. III, Fasc. 1 @ /12/ each ... | ... | 12 | 0  |
| Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ / / each ...                                                                    | ... | 7  | 2  |
| Ma'āsir-i-Ā'lamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ / / each ...                                                                    | ... | 2  | 4  |
| Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1 ...                                                                                     | ... | 0  | 6  |
| Nizāmī's -Khirdnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ /12/ each ...                                                      | ... | 1  | 8  |
| Riyāzu-s-Salātīn, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                       | ... | 1  | 14 |
| Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5 ...                                                                                     | ... | 3  | 12 |
| Tabaqāt-i-Nāsirī, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                       | ... | 1  | 14 |
| Ditto (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each ...                                                                              | ... | 10 | 8  |
| Ditto Index ...                                                                                                         | ... | 1  | 0  |
| Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ / / each ...                                               | ... | 2  | 10 |
| Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                              | ... | 2  | 4  |
| Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1/8/ each ...                                                                     | ... | 3  | 0  |
| Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1 ...                                                                                | ... | 0  | 12 |
| Wis o Kāmīn, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                            | ... | 1  | 14 |
| Zafarnāmāh, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ / / each ...                                                        | ... | 6  | 6  |

### ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each ... 20 0
  2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ / / per No. ; and from 1870 to date @ 1/8/ per No.
  3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1895 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. 1, No. 1, 1905, @ 1/8/ per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members. ... 3 0
  5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0  
A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., *J.A.S.B.*, 1878) ... 4 0  
Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., *J.A.S.B.*, 1853) ... 2 0  
Catalogue of Mammals and Birds of Burma, by E. Blyth (Extra No., *J.A.S.B.*, 1875) ... 4 0
  6. Anis-ul-Musharrabin ... 3 0
  7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 0
  8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
  9. Ināyah, a Commentary on the Hidayah, Vols. II and IV, @ 10/ each ... 32 0
  10. Jawāmlu-l-ilm ir-riyyāzi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
  11. Khizānatu-l-ilm ... 4 0
  12. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each ... 40 0
  13. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I-III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
  14. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
  15. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös ... 10 0
  16. Ditto Grammar ... 8 0
  17. Kacmīracadbām ta, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
  18. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
  19. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0  
Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0  
*N.B.*—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

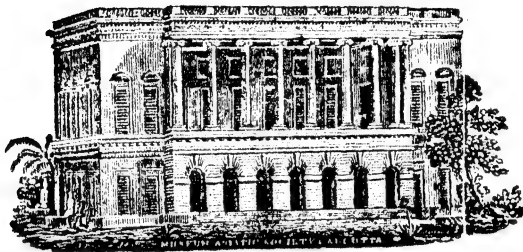
7-9-05.

BOOKS ARE SUPPLIED BY V. P. P.

BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1132.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMANA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,  
WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCĀRYA.

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS II.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,

1905.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No. 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM
THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,
15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk * cannot be supplied—some
of the Fasciculi being out of stock.*

BIBLIOTHECA INDICA.

Sanskrit Series.

Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6/ each	Rs.	1	8
Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2	...	0	12
* Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/5/ each	...	4	2
Aitārēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5; Vol. IV, Fasc. 1-5 @ 1/5/	...	7	8
Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. I	...	0	12
Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6/ each	...	2	4
Acvavāidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each	...	1	14
Avadāna Kālpalātā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	...	9	0
Bāla Bhaṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2	...	0	12
Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/5/ each	...	1	2
Bhāṭṭa Dipikā Vol. I, Fasc. 1-5	...	1	14
Bṛhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/5/ each	...	1	8
Bṛhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/5/ each	...	2	4
Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3	...	1	2
Çatadusani, Fasc. 1-2	...	0	12
Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each	...	8	0
Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7...	...	6	6
Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ 1/5/ each	...	3	12
* Çaturvarga Çintāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III. Part I, Fasc. 1-18 Part II, Fasc. 1-10 @ 1/5/ each; Vol. IV, Fasc. 1-4	...	21	6
Çlokavartika, (English) Fasc. 1-5	...	3	12
* Çrāuta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/6/ each	...	4	8
Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/6/ each; Vol. 4, Fasc. 1	...	6	0
Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/5/ each	...	1	2
Dan Kriya Kaumudī, Fasc. 1-2	...	0	12
Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...	...	2	10
Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...	...	0	6
Kāla Mādhyama, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6/ each	...	1	8
Kāla Viveka, Fasc. 1-6	...	2	4
Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each	...	4	8
Kāthā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12/ each	...	10	8
Kārma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/6/ each	...	3	6
Lalitā-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each	...	2	4
Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/6/ each...	...	4	2
Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ 1/6/ each	...	9	0
Manuṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/7/ each	...	1	2
Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12/ each	...	6	12
* Mīmāṃsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/6/ each	...	4	14
* Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/5/	...	2	4
* Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/6/ each	...	3	9
Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/5/	...	2	10
Nityacarapradīph, Fasc. 1-6	...	2	4
Nyāyabinduṭikā, (Text)	0	10
Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/5/ each	...	3	6

प्रजनिष्यते तथा प्रजनिष्यध्व ऽइत्यथ तुभ्य मिति
सूर्य्य मथ यदेव ह्यमानस्य व्यश्रुते तदेवैतस्य योऽयं
पवत ऽइति तदेभ्य इद मप्येतर्हि तथैव जुह्वत्य-
ग्नय ऽएव सायं सूर्याय प्रातरथ यदेव ह्यमानस्य
व्यश्रुते तदेवैतस्य योऽयं पवते ॥ १७ ॥

ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं प्राजायन्तु
येषा मियं प्रजातिरिमां विजितिं व्यजयन्तु येय मेषां
विजितिरिम मेव लोक मग्निरजयदन्तरिक्षं वायु-
र्दिव मेव सूर्यः स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्ये-
तां हैव प्रजातिं प्रजायते या मेतु ऽएतत् प्राजा-
यन्तैतां विजितिं विजयते या मेतु ऽएतद्व्यजयन्तैतैरु
हैव सलोको भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ १८ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२.४.] ॥

एव माधानपुनराधाने विधाय तन्निष्पन्नाना मग्नीनां
फलवत्कर्मार्थत्वात् तत्साध्यं सायम्प्रातरनुष्ठेय मग्निहोत्राख्यं *
कर्म विधिक्षुस्तदर्थं माख्यायिका माह— “प्रजापतिर्ह वा
इत्यादिना ॥ १ ॥

* ‘तत्साधनचतुष्टय मग्निहोत्राख्यं’—इति च ।

“तद्वा इति । अग्ने जातत्वात् अग्निः ; स एवाग्निरिति पारोक्ष्येणोच्यत इति नामनिर्वचनं कृत्वा प्रकारान्तरेणापि निर्व्रूयात् । “स जात इति । ‘अग्ने’ ‘एति’ गच्छतीति अग्निः । ‘अस्य’ अग्नेः साधिका ‘अग्निता’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साय मग्निहोत्रदेवताया अनेरुत्पत्ति मभिधाय, होम इत्यस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति — “स ऐक्षतेत्यादिना । “अजीजन इति । अजनय मित्यर्थः । मया सृष्टोऽग्निरथवाद्, तस्य चाग्नेर्न भवितव्यम् । न च सतोऽन्यदन्न मिह विद्यते, यदन्न मसावद्यादित्यर्थः । ननु भूम्या मोषधयो विद्यन्ते, तदेव तस्यान्नं भविष्यतीत्यत आह — “कल्बलीकृतेति * । ‘तर्हि’ तस्मिन् समये, यदहन्येव पृथिवी बभूव, तत ओषधिवनस्पतयः । एवं सति ‘तत्’ वक्ष्यमाण मन्नम् ‘एव’ ‘अस्य’ प्रजापतिः ‘मनसि’ बभूव ॥ ३ ॥

“अथैन मिति । ‘अथ’ अस्मिन्नवसरे ‘अग्निः’ ‘एनम्’ ‘व्यात्तेन’ प्रजापतिविवृतेन † मुखेन भक्षयितुं पर्यावृत्तो बभूव । तस्माद् ‘भीतस्य’ प्रजापतेः । “सो महिमेत्यादि, स्पष्टम् । “स आत्मन्येवेति । ‘सः’ प्रजापतिः ‘आत्मनि’ स्वशरीरे ‘एव’ आहुतिद्रव्यं सम्पादयितुं मिच्छां कृतवान् । कृत्वा च ‘सः’ ‘उदमृष्ट’ हस्ताभ्यां स्वाङ्गस्योन्मार्जनं कृतवान् । (यस्मादेवं ‡) तस्मादेव कारणात् ‘इदञ्च इदञ्च’ उभय मपि पाणितलम् ‘अलो-

* “अपनीतवालाः काल्वालाः” — इत्यादि हरिस्वामी । तदेवं खल्लाः खल्लाटाः काल्वाला इति समानार्थाः ।

† ‘व्यात्तेन=विवृतेन’—इति च ।

‡ नास्त्येतत् पदद्वयं च पुस्तके ।

मन्त्रं' रोमरहितं दृश्यते । उन्मार्जनेन 'तत्ताहुति' 'विवेद' लेभे । तां विशिनष्टि — “घृताहुति मिति । “उभयं हेति । यदेतत् षष्ठीघृतसाध्य माहुतिद्वयम् 'तत् उभयम्' अपि 'पय एव' ; घृतस्य पयोविकारत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

“सा हैन मित्यादि । 'नाभिराधयाञ्चकार' अभिराधं तप्तं न चकारेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—“वेश मित्येवेति । कीटादि-द्रूषिता आहुतिर्न दृष्टिम्, प्रत्युत बीभत्सा मेव जनयति । एवं प्रजापतिशरीरजं द्रव्य माहुतियोग्यं नासौदित्यर्थः । 'तां' आहुतिं तस्मिन्नग्नौ 'व्यीक्षत्' अत्यजत् । इदं माहुतिद्रव्यम् 'ओषं' पक्वं कृत्वा 'धय' पिव 'इति' । एव मग्नी प्रक्षिप्तात् तस्मात् 'ओषधयः' पृथिव्यां समभवन् । एव मोषधिरूपस्य द्रव्यस्योत्पत्तिं मुक्ता प्रातराहुतिदेवतायाः सूर्यस्योत्पत्तिं माह — “स द्वितीय मिति । पूर्ववद् योज्यम् ॥ ५ ॥

“सा हैन मित्यादि । “स व्यचिकित्सदिति । अस्यां द्विती-यस्या माहुतौ स प्रजापतिः विचिकित्सां कृतवान्, — किं मिदं मदङ्गाज्जातं द्रव्यं जुह्वानि, किं वा नेति । एवं संशयापन्ने अग्निमयात् प्राङ् निर्गतो वायूपः स्वकीयो 'महिमा' 'अभ्युवाद' अभिलक्ष्योक्तवान्, — 'संशयं मा कार्षीः होमं कुरु' इति । “स्वो वा इति । तस्मात् 'स्वो महिमा आह', तस्मात् सः' प्रजापतिः 'स्वाहेत्येव' 'तत्' द्रव्यम् 'अजुहोत्' । “तत एष इति । तस्मा-द्धोमात् 'एषः' सूर्यः उदितः, उत्पन्नी बभूव । पवमानो वायुरपि तत एवोत्पन्नः । एव मनयोरुत्पन्नयोः सतीः रुः 'अग्निः' (अपि *)

प्रजापतिसकाशात् भक्षणात् उपरतः पराङ्मुखः पर्यावृत्तो
बभूवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

“स ह्रुत्वेत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिराहुत्या सूर्यादिलक्षणां
प्रजा मुत्पादयत् ‘अज्यतः’ भक्षणं करिष्यतः ‘अग्नेः’ ‘आत्मानम्’
‘अत्रायत’ । तस्माद् विदुषोऽप्येवं भवतीत्याह — “स य इति ॥ ७

“स यत्र म्रियत इति । अग्निहोत्रहोमं कुर्वन्, देहावसाने
‘अग्नी’ प्रक्षिप्तः मातापितृशरीरादिवत् तस्मादग्नेः सकाशात्
दिश्यशरीरोऽभिनव उत्पद्यते । यस्त्वग्निहोत्रं न जुहोति, स त्वेवं
नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

“तद्वा एतदित्यादि । विचिकित्सापुरस्सर माहुत्यनुष्ठानेन
प्रजापतेः श्रेयःप्राप्तिर्जाता, ‘एवञ्चिद्’ इदानीन्तनोऽपि यजमानो
विमर्शपूर्वकानुष्ठानेन श्रेयः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अग्निहोत्रहवणी सुक् विकङ्कतवृक्षेण निर्मातव्येत्यभिप्रेत्य *
तस्यात्पत्ति माह — “स ह्रुत्वेति । प्रागुक्त मग्निवायुसूर्याणां जन्म
अनुद्य, तद्देदनफल माह — “तत एत इति । ‘देवानां’ मध्ये
‘वीराः’ प्रवन्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ ‘होमद्रव्यस्य पयस उत्पत्तिं वक्तुं प्रयमतो गौरुत्पत्ति
माह — “त उ इति । यथास्मदीयः पिता प्रजापतिः अस्मान्
सृष्टवान् ‘वयं’ तम् ‘अनु’ ‘स्मः’ भवामः । ‘यत्’ यत्र ‘अस्मान्’ ‘अनु’
अनन्तरम् ‘असद्’ भवेत्, जायेत, ‘तद् वयं सृजामहे’ । एवं
प्रतिज्ञाय गां संसृजन्तः हिङ्गारवर्जितेन गायत्रिसाम्ना बहिष्पव-

* १ भा० १० पृ० २२ क०, ५६ पृ० १ टीप्पनी च द्रष्टव्या । ततः का०
श्रौ० ४, १४, ७ सू० द्रष्टव्यम् ।

† ‘वक्ष्यन्’ — इति च ।

मानेन 'तृष्टुर्विरे' सुवन्तः । 'तस्य' स्तोत्रदेशस्य 'यत्' परिश्रयणं
'स समुद्रः' अभवत् । यच्च 'स्तावः' स्तोत्रदेशः, सा 'पृथिवी'
जातेत्यर्थः ॥ ११ ॥

["ते सुत्वेति ।] "पुनरेम इति । पुनरागच्छाम इति ।
स्तोत्रदेशात् प्रागुक्तस्य * तस्मात् स्तोत्रात् 'सम्भूतां' 'गां' 'ते' 'देवाः'
प्राप्नुवन्नित्यर्थः । "सा हैनानित्यादि । निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ते होचुरित्यादि । 'भद्रम्' उत्कृष्टं खलु 'इदम्' 'अजी-
जनामहि' अजनयाम । तदेतद् भद्रत्वं माह — "यज्ञो हीति ।
यस्माद् गोव्यतिरेके सा शरष्टतादिहविषोऽभावात् यज्ञो न
विस्तीर्यते, तत इयं गौः यज्ञात्मिका । अन्नरूपत्वेनापि स्तौति —
"अन्नं हीति ॥ १३ ॥

तासां गवां यज्ञस्य च साधारणं मेकं नामोपदिश्य प्रशंसति-
"तद्वा इति । गां यज्ञं च एतदुभयं मुत्कृष्टं पुण्यरूपं मिति
अनेनाभिप्रायेण 'परिहरेत्' रक्षेत् । तस्य परिहरणस्य फलं
माह — "ब्रह्मणे हेति । 'उपनामुकः' उपनमनशीलः, यज्ञ एव
मुपगतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

पयस उत्पत्तिं माह — "ता मु हेति । 'अभिदध्यौ' अभिधानं
कृतवान् । कथं मिति — 'एतया' गवा 'मिथुनौ' भवानीति ।
"तां सम्बभूवेत्यादि, स्पष्टम् ॥ १५ ॥

एवं पयोरूपस्य हविष उत्पत्तिं मभिधाय, अग्निसूर्यवायूनां
मध्ये कस्मै प्रथमं देयं कस्मै चानन्तरं मियेतद् विभजति — "ते
होचुरिति । 'ते' देवाः 'जुहुः' अस्मदीयः पिता प्रजापतिः यथा
अजुहोत्, एव मित् वयं 'जुह्वामहे' । किञ्चेमे यजमानाः 'नः'

अस्माकं मध्ये 'कलौ' 'प्रथमाय' 'होष्यन्ति ?' 'इति' उक्तवन्तः ।
 'मह्य मित्यादि, निगदसिद्धम् । "तेन सम्पादयाञ्चकुरिति ।
 'ते' देवाः परस्परं सम्पन्नाः ऐकमत्यं गता न बभूवुरित्यर्थः ॥ १६

"स होवाचेति । "अग्निरनुष्ठेति । एवं विवदमानेषु
 आगतेषु स प्रजापतिरेव मुक्तवान्— 'अग्नेः प्रथमं होतव्यम्' ।
 'अग्निहि' 'अनुष्ठया' अनुष्ठानेन प्रयत्नेन स्वकोयं 'रेतः' गवि
 पयोरूपेण निर्वर्त्तयन् * ; 'तथा' यूयमपि । तस्मादग्नेरनन्तरं मेव
 'प्रजनिष्यध्वे' प्रजाता भवथ । तस्मादग्नय एव प्रथमं होतव्य
 मित्युक्त्वा, प्रजापतिः 'अथ' अनन्तरं 'तुभ्यं' होतव्यम् 'इति'
 'सूर्यम्' प्रति उक्तवान् । ह्यमानस्य च पयसः 'यदु' 'व्यश्रुति'
 विशुद्धमाप्नोति † , स एव वायोर्भाग इति वायुं प्रत्यब्रवीत् ।
 'तदेभ्य इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिनोक्तम्, तस्मादेव कारणात्
 तत् पय एव ‡ 'अग्नये सायं जुह्वति', 'प्रातः सूर्याय' इति
 विभागः सम्पन्नः ॥ १७ ॥

* 'निर्वर्त्तयति'—इति च ।

† 'मेति'—इति च ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन "क्षीरक्षोमी"—इति श्रौ० सू० ४. १०. १६ ।
 'वाग्यतो दोहप्रश्रुत्या क्षोमात् क्षीरक्षोमा चित्"—इति च तत्रैव ४. १४.
 ६१ सूत्रम् । दोहप्रकारत्वे तत्पूर्वं मेवोपदिष्टः (१ सू०) । "पयसा स्वर्ग-
 कामः पशुकामो वा, यवाग्रा ग्रामकामः, तण्डुलैर्बलकामः, दध्नेन्द्रियकामः,
 अश्वधिश्रयणं च श्रुतिसामर्थ्याभ्याम्, घृतेन तेजस्कामः, संवत्सरं
 जुहुयादेतेषा मेकैकेन कामसंयोगे"—इति च तत्रैव कान्यकर्मसु त्रय-
 विधायक सूत्राणि (४. १५, २१—२७) ।

“ते हुत्वा देवा इति । ‘ते’ च ‘देवाः’ एवं ‘हुत्वा’ प्रजात्यादि
फलं प्राप्नुवन् । एतत् ज्ञात्वा इदानीन्तनोऽपि यजमानो ‘यः’
‘अग्निहोत्रं जुहोति’, सः ‘एवाम्’ अग्निसूर्यादिभिः प्राप्तां प्रजा-
तिम् । इतः रुग्मम् ॥

एतावता अग्निहोत्राख्यय कर्मणः पथो द्रव्यम्, तच्च साय-
म्यातःकालशोरनुष्ठेयम् * । तत्र सायङ्कालीनस्य अग्निर्देवता † ,
प्रातःकालीनस्य सूर्यः ‡ , इत्येतत् प्रतिपादितं भवति ॥ १८ ॥
३ [२. ४.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
समाव्यीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।
रत्नोत्सां रुक्मशजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,
व्याघ्राणीद्विष्वक्क्रां प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

* तच्चोक्तम् का० श्रौ० सू० ४. १३. २ द्रष्टव्यम् । काम्यकालविधयस्तु
उपरिष्ठात् पञ्चमकण्ठी-टीप्पन्यां द्रष्टव्याः ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. ६ ।

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रेण शार्करं चार्कतेजाः,
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिमक्तत मुदा पातसात्तिह्वणार्यः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचितं माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

— — —

* इह त्वपाठभेदास्तु पुरस्ताद् द्रष्टव्याः ।

[अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्.]

सूर्यो ह वा ऽग्निहोचम् * । तद्यदेतस्या अग्न
 ऽचाहुते ऽदेत्तस्मात्सूर्योऽग्निहोचम् † ॥ १ ॥

स यत्प्रातः सप्तमिह जुहोति । य इदं तस्मि-
 न्हि सति जुह्वानोत्यथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति
 य इदं तस्मिन्हि सति जुह्वानीति तस्माद्वै सूर्यो
 ऽग्निहोच मित्याहुः ॥ २ ॥

अथ यदस्तमेति । तदग्नावेव योनौ गर्भो
 भूत्वा प्रविशति तं गर्भं भवन्त मिमाः सूर्वाः
 प्रजा अनु गर्भा भवन्तीलिता हि श्रे सञ्जानाना
 अथ यद्रात्रिस्तिर एवैतत्करोति तिर इव हि
 गर्भाः ॥ ३ ॥

स यत्प्रातः सप्तमिह जुहोति । गर्भं मेवैत् सन्त
 मभिजुहोति गर्भं सन्त मभिकरोति स यद्गर्भं
 सन्त मभिजुहोति तस्मादिमे गर्भा अनश्रन्तो
 जीवन्ति ॥ ४ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । प्रजनयत्येवैन
 मेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभाजमान उदेति शश्वद्व वै

* 'त्रि'—इति ग, घ । † 'त्रि'—इति ग, घ ।

नीदियाद्यदस्मिन्नेता माहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वा ऽएता
माहुतिं जुहोति ॥ ५ ॥

स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत । एवञ्च राचेः
पाप्मनो निर्मुच्यते यथा ह वा ऽअहिस्त्वचो निर्मु-
च्येतैवञ्च सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वा-
नग्निहोत्रं जुहोति तदेतस्यैवानु प्रजाति मिमाः सर्वाः
प्रजा अनु प्रजायन्ते वि हि सृज्यन्ते यथार्थम् * ॥ ६ ॥

स युः पुरादित्यस्मास्तमयात् । आहवनीय मु-
हुरत्येते वै विश्वे देवा रश्मयो यो ऽथ यत्परं भाः प्रजा-
पतिर्वा स इन्द्रो वै तदु ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं
जुहोती गृहानागच्छन्ति स यस्यानुद्धृत मागच्छन्ति
तस्माद् देवा अपप्रयन्ति तद्वा ऽअसौ तद् व्यृध्यते
यस्माद् देवा अपप्रयन्ति तस्यानु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च
नानुद्धृत मभ्यस्त मगादित्याहुः ॥ ७ ॥

अथ युः पुरादित्यस्मास्तमयात् । आहवनीय
मुहुरति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपकृप्तेनोपा-
सीतैवं तत्स यस्यानुद्धृत मागच्छन्ति तस्माहवनीयं प्रवि-
शन्ति तस्माहवनीये निविशन्ते ॥ ८ ॥

स युत्साय मस्तमिते जुहोति । अग्नावेवैभ्य
एतत्पुविष्टेभ्यो जुहोत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोत्यग्ने-
तेभ्य एवैभ्य एतज्जुहोति तस्मादुदितहोमिनां
व्विच्छिन्न मग्निहोचं मन्यामह ऽइति ह स्माह्मासुरि-
र्यथा शून्य मावसथ माहुरेदेवं तदिति ॥ ८ ॥

इयं वा ऽइदं जीवनम् । मूलि चैवामूलं च त-
दुभयं देवानां सन्मनुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला
ओषधयो मूलिन्यस्ते पशवो मूला ओषधीर्मूलिनी-
र्जरध्वापः पीत्वा तत एष रुसः सुम्भवति ॥ १० ॥

स युत्सायमस्तमिते जुहोति । अथ रसस्य जी-
वनस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सदुपजीवाम
इति स यत्ततो रात्र्याश्नाति हुतोक्छिष्ट मेव तन्नि-
रुवत्तबल्यश्नाति हुतोक्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोचं जुह्वद-
शिता * ॥ ११ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । अथ रसस्य जीव-
नस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सदुपजीवाम
इति स यत्ततोऽह्नाश्नाति हुतोक्छिष्ट मेव तन्निरु-

वत्तबल्यन्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुहुद-
शिता * ॥ १२ ॥

तदाहुः । सु मेवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्ते ऽग्निहोत्रं मेव
न सन्तिष्ठते ऽपि द्वादशसंवत्सरं मन्त्रवदेवायैतदेवानन्तः
मायुं हि हुत्वा वेदं प्रातर्होष्यामीति प्रातर्हुत्वा वेदं
पुनः मायुं होष्यामीति तदेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं
तस्यानुपस्थितिं मन्त्रनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्ते
ऽनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एव
मेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं वेद ॥ १३ ॥

तद्गुग्ध्वाधिश्रयति । शृतं मसदिति तदाहुर्यद्ध्यु-
दन्तं तर्हि जुहुयादिति तद्वै नोदन्तं कुर्यादुप ह
दहेद्यदुदन्तं कुर्यादुप्रजङ्घि वै रेत उपदग्धं तस्मा-
न्नोदन्तं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्त्रे † वैतदग्ने रेतस्तेन
न्वेव शृतं युजेनदग्नावधिश्रयन्ति तेनो ऽएव शृतं तस्मा-
दधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥ १५ ॥

तद्वज्रज्योतयति । शृतं वेदानील्यथापुः प्रत्या-

* 'ता'—इति ग, घ ।

† 'यन्त्रे'—इति क, ग ; डा०-वेत्तरेणापि डष्टः ।

नयति शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्व्वत्वायेदं हि
 यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा
 तत एष रसः सम्भवति तस्माद् रसस्यो चैव सर्व्व-
 त्वाय तस्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुद-
 स्लोक माञ्चोतयितवै ब्रूयाच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव
 सर्व्वत्वाय * ॥ १६ ॥

अथ चतुरुन्नयति । चतुर्धाव्विहितुं होदं पयो-
 ऽथ समिध मादायोदाद्रवति समिद्धोमायैव सोऽनुप-
 साद्य पूर्वा माहुतिं जुहोति स यदुपसादयेद्यथा
 यस्माऽअशन माहरिष्यन्त्यात्तदन्तरा निदध्यादेवं तदथ
 यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशन माहुरेत्तस्मा
 ऽआहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तदुपसाद्योत्तरं नानाव्वीर्यै
 ऽएवैने ऽएतत् करोति मनश्च ह वै व्वाक्
 चैते ऽआहुती तन्मनश्चैवैतदाचं च व्यावर्तयति
 तस्मादिदं मनश्च व्वाक् च समान मेव
 सन्नानेव ॥ १७ ॥

स वै द्विरग्नौ जुहोति । द्विरुपमाष्टिं द्विः
 प्राप्नोति चतुरुन्नयति तद्विश दशाक्षरा वै विराड्विराड्

वै यज्ञस्तुदिराज मेवैतद्यज्ञ मभि सम्पादयति ॥ १८ ॥

स यदग्नी जुहोति । तद्वेषु जुहोति तस्मा-
द्देवाः सन्त्यथ यदुपमाष्टिं तत्पितृषु चौपधीषु च
जुहोति तस्मात्पितरश्चौपधयश्च सन्त्यथ यदुत्वा
प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः
सन्ति ॥ १९ ॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै
ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्तु यज्ञमुख
ऽआभजति तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ता यन्मनुष्यानुनु
पशवः ॥ २० ॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । न वै यज्ञ इव मन्तवै
पाकयज्ञ इव वा ऽद्रुतोदं हि यदन्यस्मिन्यज्ञे सुच्यव-
द्यति सृज्यं तदग्नी जुहोत्यथैतदग्नी हुत्वोत्सृज्याचामति
निर्लेष्टि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति तदस्य तत्पशव्यं रूपं
पशव्यो हि पाकयज्ञः * ॥ २१ ॥

सैषैकाहुतिरेवाग्रे । या मेवामुं प्रजापतिरुजुही-
दथ यदेतुऽएतत्पञ्चेवाध्रियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तु-
स्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥ २२ ॥

सा या पू॒र्वाहु॒तिः । साग्नि॒होत्र॒स्य दे॒वता॒ त॒स्मा-
त्त॒स्यै जु॒होत्यथ॒ यो॒त्तरा॒ स्वि॒ष्टकृ॒द्वा॒जन॒ मे॒व सा
त॒स्मात्ता॒ मु॒त्तरा॒र्क्षे जु॒होत्येषा॒ हि दिक् स्वि॒ष्टकृ॒त-
स्तन्मि॒थुना॒यैवैषा॒ द्वितीया॒हुति॒र्हूय॒ते द॒न्द्वा॒ हि मि॒थुनं
प्र॒जनन॑म् ॥ २३ ॥

तद् इ॒य मे॒वैतै ऽ॒आहु॒ती । भू॒तं चै॒व भ॒विष्य॑च्च
जा॒तं च ज॒निष्य॑माणं चा॒गतं चा॒शाद् चा॒यु च श्व॑श्च
तद् इ॒य मे॒वानु॑ * ॥ २४ ॥

आ॒त्मैव॑ भू॒तम् । अ॒ज्ञा हि त॒द्य॒द्भू॒त॒मु॒ञ्चो त॒द्य॒दा॒त्मा
प्र॒जैव॑ भ॒विष्य॑द्भ॒न॒ज्ञा हि त॒द्य॒द्भ॒विष्य॑द्भ॒न॒ज्ञो त॒द्य॒त्
प्र॒जा † ॥ २५ ॥

आ॒त्मैव॑ जा॒तम् । अ॒ज्ञा हि त॒द्य॒ज्जा॒त॒मु॒ञ्चो त॒द्य॒-
दा॒त्मा प्र॒जैव॑ ज॒निष्य॑माण॒ मन॒ज्ञा हि त॒द्य॒ज्ज॒निष्य॑-
मा॒ण॒मन॒ज्ञो त॒द्य॒त् प्र॒जा ‡ ॥ २६ ॥

आ॒त्मैवा॒गत॑म् । अ॒ज्ञा हि त॒द्य॒दा॒गत॑मु॒ञ्चो त॒द्य॒-
दा॒त्मा प्र॒जैवा॒शान॑ज्ञा॒ हि त॒द्य॒दा॒शान॑ज्ञो त॒द्य॒त्
प्र॒जा § ॥ २७ ॥

आ॒त्मैवा॒द्य । अ॒ज्ञा हि त॒द्य॒द॒द्या॒ज्ञो त॒द्य॒दा॒त्मा

प्रजैव प्रोऽनद्धा हि तद्यच्छोऽनद्धो तद्यत्
प्रजा * ॥ २८ ॥

सा या पूर्वाहुतिः । सात्मानमाथे हूयते तां
मुन्नेण जुहोत्यद्वा हि तद्यन्मुन्तोऽद्धो तद्यदात्मा-
ऽथ योत्तरा सा प्रजा मभि हूयते तां तूष्णीं जुहोत्य-
नद्धा हि तद्यत्तूष्णीं मनद्धो तद्यत् प्रजाः † ॥ २९ ॥

स जुहोति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे-
त्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्स्व-
त्येनैव हूयते यदा ह्येव सूर्याऽस्त मेत्यथाग्निर्ज्योति-
र्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्यातिर्यदै सत्येन हूयते तद्
देवान् गच्छति ॥ ३० ॥

तदु हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसुकामाय तत्तानू-
वाचाग्निर्व्वर्चो ज्योतिर्व्वर्चः सूर्यो व्वर्चो ज्योतिर्व्वर्च
इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवति य एवं विद्वानग्नि-
होत्रं जुहोति ॥ ३१ ॥

तदस्येव प्रजननस्येव रूपम् । अग्निर्ज्योति-
र्ज्योतिरग्निः स्त्रोइति तदुभयतो ज्योती रेतो
देवतया परिगृह्णात्युभयतः परिगृहीतं वै रेतः

प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति ॥ ३२ ॥

अथः प्रातः । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः
स्वाहेति तदुभयतो ज्योति रेतो देवतया परिगृह्णात्यु-
भयतः परिगृह्योतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवै-
तत्परिगृह्य प्रजनयति तत् प्रजननस्य रूपम् * ॥ ३३ ॥

तदु होवाच जीवलञ्चैलकिः । गर्भं मेवारुणिः
करोति न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं
जुह्यात् ॥ ३४ ॥

अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः
स्वाहेति तद् बहिर्द्धा † ज्योती रेतो देवतया करोति
बहिर्द्धा ‡ वै रेतः प्रजातं भवति तदेनत् प्रज-
नयति ॥ ३५ ॥

तदाहुः । अग्नावैतत्सायं सूर्यं जुहोति §
सूर्यं प्रातरग्नि मिति तद्वै तदुदितहोमिना मेव
यदा ह्येव सूर्योऽस्त मेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य
उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्ति सा परिचक्षय मेव
परिचक्षा यत्तस्यै नाद्या देवतायै ह्ययते याग्नि-

* 'रूपम्'—इति घ, ङ । †, ‡ 'बहिर्द्धा'—इति घ, ङ ।

§ 'जुहोति'—इति घ, ङ ।

होत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति
तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्या ज्योतिर्ज्योतिः
सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति ॥ ३६ ॥

अनेनैव जुहुयात् । सजूर्देवेन सवित्रेति
तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्रेन्द्रवत्येति तद्रात्र्या
मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य
देवता जुषाणो ऽअग्निर्व्वेतु स्वाहेति तदग्नये प्रत्यक्षं
जुहोति ॥ ३७ ॥

अथ प्रातः । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृ-
मत्प्रसवाय सजूरुपमेन्द्रवत्येत्यङ्गेति वा तदङ्गा
वोषसा * वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि
यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्या वेतु स्वाहेति तत्सू-
र्याय प्रत्यक्षं जुहोति तस्मादेव मेव जुहुयात् ॥ ३८ ॥

ते होचुः । को न इदं होष्यतीति ब्राह्मण
एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो
भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स यत् स्रुचि परि-
शिनुष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टं मय यत् स्याल्यां यथा
परीणुहो निर्व्वपेदेवं तत् तस्मात्तद्य एव कश्च पिबेत्

तद्वै नृब्राह्मणः पिबेदग्नौ ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्ब्राह्मणः
पिबेत् ॥ ३६ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यां वेदेभ्योऽस्विलं जगत् ।

निश्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सायम्प्रातर्होमयोः * कालविशेषं विधित्सुरग्निहोत्रम् सूर्या-
त्मना प्रशंसति— “सूर्यो हेति । तदुपपादयति— “एतस्या
इति । प्रजापतिना प्रथमं हुताया इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेण सूर्यात्मकतां ब्रुवन् सायम्प्रातर्होमयोः काल-
विशेषं विधत्ते— “स यदिति । ‘यः’ यजमानः ‘इह’ अस्मी
‘तस्मिन्’ सूर्यो ‘सति’ ‘इदं’ हविः ‘जुह्वानि इति’ मन्यते, सः
साय मग्निहोत्रं मस्तमिते † कुर्व्यात्, प्रातर्होमञ्चाबुदिते ‡ ।
अनुदितो हि सूर्योऽग्निनेकीभूतो वर्त्तते ; “अग्निर्वादित्यः
सायम् प्रविशति”—इति § श्रुतेः । यस्मादेवं अग्निहोत्रं सूर्य-
सम्बद्धम्, तस्मात् तादात्म्येन स्तुतिः ॥ २ ॥

रात्रौ सूर्यस्नान्यवस्थानं प्रतिपादयति— “अथ यदिति ।
सूर्यस्य गर्भभाव मनु रात्रौ ‘सर्व्वः प्रजाः’ ‘गर्भाः’ एव ‘भवन्ति’ ।

* “उद्धरेति यजमानो ब्रूयान् सायम्प्रातयोरग्निहोत्रं”—इति का०
श्रौ० सू० ४.१३.१ ।

† “अस्तमिते जुहोति”—इति का० श्रौ० सू० ४.१४.६ ।

‡ “पानर्जुहोत्यनुदिते”—इति का० श्रौ० सू० ४.१५.१ ।

§ तै० ब्रा० २.१.३.६ ।

तासां गर्भसास्य माह—“ईलिता हीति । रात्रौ हि सर्वाः प्रजाः ‘सञ्ज्ञानानाः’ समान मेकविधं ज्ञानं प्राप्ताः ‘ईलिताः’ सुता हृष्टाः ‘शिरते’ । “लोपस्त आत्मनेपदेषु”—इति * त-लोपः । पुनरपि गर्भसास्य माह—“अथ यदिति । गर्भरूपेणाग्नाववस्थितं सूर्यं ‘रात्रिः’ ‘तिर एव’ तिरोहित माच्छादितं करोति । यस्मादेवं तस्मात् असौ ‘गर्भः’ ‘तिर इव हि’ । लौकिकगर्भस्य प्रसिद्धिर्हि-शब्देनोक्ता ॥ ३ ॥

एवं गर्भरूपत्वं प्रतिपाद्य अस्तमिते होम सुपपादयति—“स यत्साय मिति । “गर्भं सन्त मिति । अस्तमयात् पूर्वं हि सूर्यस्याकाशेऽवस्थानात् गर्भभावो नास्ति, तदूर्ध्वन्तु अग्नी गर्भरूपेण प्रविशन्तम् ‘अभि’ होमं कुर्वन् परस्मिन् दिवसे पुनर्जनयितुं वर्धयति । “यद् गर्भं मित्यादि । यस्माद् गर्भभूतस्य सूर्यस्य रात्रावग्निहोत्रहविषा वर्धनम्, तस्मादेवञ्चातीया इतरे गर्भाः ‘अनश्रतः’ अशन मकुर्वन्तोऽपि ‘जीवन्ति’ वर्धन्ते ॥ ४ ॥

एवं सायं-होमस्य गर्भवृद्धिहेतुना मभिधाय, प्रातर्होमस्य तज्जननहेतुत्वं सुपपादयन्, तस्य ततः प्रागेवानुदिते कर्त्तव्यता माह—“अथ यत् प्रातरिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रातराहुते-र्जननहेतुता सुपपादयति—“सोऽय मिति । “तेजो भूत्वेति । आहुत्या वर्धिततेजस्वी भूत्वेत्यर्थः । “शश्वज वा इति । नित्य मेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

* पा० सू० ७. १. ४१. ।

† सन्ति चात्र बहवः कान्यकालविधयः । तद्यथा—“प्रथमास्तमिते पर्युदयं च स्वर्गकामस्य, तमोऽत्यये सायं जुहुयाद् वियति प्रातरायुष्कामस्य, अन्तःप्रशौ पशुकामस्य सायस्यातः, शयाने श्रीकामस्य प्रातः”—इति का० औ० सू० ४. १५. १२—१५ । “शयाने, सुप्ते एव, समस्तलोकैःपुनर्ज्ज्वि”—

उद्यतः सूर्यस्य तेजःप्राप्तिं दृष्टान्तेनोपपादयति— “स यथे-
ति । “रात्रेः पाम्पन इति । रात्रिरूपात् तेज प्रतिबन्धकात्
पापादित्यर्थः । एवं सूर्यस्याग्निहोत्रहोमात्ययनिर्मीकं प्रतिपाद्य
विदुषोऽपि प्रतिपादयति— “यथा ह वा इति । “वि हि
सृज्यन्ते इति । अनुदितहोमान्ते सूर्यस्योदये सति ‘यथार्थं’
यथाप्रयोजनं ‘सर्वाः प्रजाः’ ‘वि सृज्यन्ते’ प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

साय मग्निहोत्रस्याहवनीयविहरण मस्तमयात् प्रागेव कर्त्तव्य
मिति विधि मभिप्रेत्य सिद्धवदनुवदति— “स यः पुरेति । आहव-
नीय मुद्धरन्तीति । गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणयेदित्यर्थः * । एत-
दुपपादयितुं यजमानगृहं प्रति देवाना मागमन माह— “एते वा
इत्यादिना । ‘एते’ खलु सूर्यस्य ‘रश्मयः’ ‘विश्वे देवाः’, ‘अथ’
‘यत्’ ‘परं भाः’ रश्मीना मुपर्यवस्थितं सूर्याख्यं ज्योतिः ‘स प्रजा-
पतिर्वा इन्द्रो वा’ तत् ज्योतिः प्रजापत्यात्मक मिन्द्रात्मकं च
विकल्पेन भवतीत्यर्थः । तेऽस्तमयात् प्रागवस्थिताः ‘विश्वे देवाः’
अग्निहोत्रिणो यजमानस्य ‘गृहान् आगच्छन्ति’ । ते चागताः
आहवनीयानुद्धरणे सत्याश्रयाभावात् निवर्त्तन्ते, उद्धृते त्वाहवनीयं
तं प्रविश्य निविशन्ते इत्याह— “स यस्यानुद्धृत मित्यादिना † ।

इति तत्र या० दे० । तत्रैव तत उत्तरं होमायागवस्था अपि बहुविधा
उक्ताः— “प्रथममभिर्द्धि धूष्यमाने प्रजासु निहृत्वेव सहस्राक्ष मस्रातः,
भूयिष्ठार्चिषि गृहीत्वेव सहसा, प्रदीप्ततमे श्रीयशस्कामस्य, अर्चिःप्रत्यवाये
मैत्रेणाक्ष मस्रातः, अङ्गारिषु चाकश्यमानेषु ब्रह्मवर्चस्कामस्य”
इति (४. १५. १६—२०) ।

* ‘गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणीयोद्धरन्ति’— इति च ।

† “गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरण मनस्तमितानुदितयोः” इति का०
श्रौ० सू० ४. १३. ३ ।

“तद्वा अस्मा इति । आगतानां देवानां यदगमनम्, तेन ‘अस्मै’
यजमानाय ‘तद्’ अग्निहोत्रं ‘वृद्धते’ विगतद्विकं भवतीत्यर्थः ।
“तस्यानुवृद्धि मिति । ‘तस्य’ अग्निहोत्रस्य ‘वृद्धिम्’ ‘अनु’-लक्ष्य,
‘यश्च’ एवं ‘वेद’, ‘यश्च’ ‘न’ वेद, ते सर्वे अनुवृत्त माहवनीय
मभिलक्ष्य सूर्योऽप्त मगादिति सर्वे * निन्दन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

“अथ यः पुरेति । “आवसथेनोपकृतेनेति । आवसथ्य-
स्मिन्निति ‘आवसथम्’ आसनम्, तेनोपकृतेन आयास्यन्तं श्रेयांसं
यथोपासीत, ‘एवं’ ‘तत्’ अस्तमयात् प्राक् आहवनीयोद्धरण
मित्यर्थः । “निविशन्त इति । “निर्विशः”—इत्यात्मने-
पदम् ॥ ८ ॥

“स यत् साय मित्यादि । निगदसिद्धम् । तस्मादुदितहो-
मिना मित्यादि । यस्मात् सूर्यरश्मिरूपा विश्वे देवा उदयात्
प्राक् अनी आसते, उदिते च सूर्ये ततोऽपगच्छन्ति, तस्मात्
उदयात् परं प्रातर्होमं कुर्वेताम् ‘अग्निहोत्रं’ ‘विच्छिन्नम्’ एव
भवति । कथं विच्छिन्न मित्यत्र ऊर्ध्वं दर्शयति—“यथा शून्य
मिति । ‘यथा’ आगतेऽतिथौ गृहादपगते सति ‘शून्यं’ तदावास-
स्थानं प्रतिपन्न मिति न तर्पणीयान्नपानादिकम् † ‘आहरेत्’,
‘एवम्’ आहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेषु ‘तत्’ उदितं सूर्यं प्रति गतेषु
तद्गृहेऽग्निमाहवनीयहोम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

एतावेवास्तमितानुदितहोमौ प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“इयं
वा इद मित्यादिना । “देवानां सदिति । ‘देवानां’ स्वभूतं

* ‘सर्वत्र’—इति कृ ।

† पा० सू० १. ३. १७ ।

‡ ‘प्रतिपतंश्चाग्न्यान्नयादिकम् (?)’—इति च ।

सदित्यर्थः । किं तत् ? मूलं किं वा मूलयुक्तम् ? । “एष रस इति । चीरात्मको रस इत्यर्थः ॥ १० ॥

“स यत् साय मस्तमित इति । “अस्य रसस्य जीवन-
स्येति । मूल्यमूलोभयनिष्पन्नस्य सर्वप्राणिजीवनहेतोः चीरात्म-
कस्य * रसस्य भागं प्रथमं ‘देवेभ्यः’ तस्त्वामिभ्यः ‘जुहुवन्नि’
पश्चात् तदुपभुक्तशेषैः सर्वे वयम् ‘उपजीवामः’ इति अनेनाभि-
प्रायेण पयसा ‘अग्निहोत्रं’ जुहुयादित्यर्थः । तस्य प्रयोजन
माह— “स यदिति । ‘ततः’ अतो होमानन्तरं रात्र्याः’ काले
‘यत्’ † अशितं भवति, ‘तत्’ सर्वं ‘हुतोच्छिष्ट मेव’ भुक्तं ‡
भवति । “निरवतबलीति । निष्कृष्यावत्तो बलिर्देवभागी
यस्मात्, तन्निरवतबलि । एवम् ‘अग्निहोत्रं जुह्वत्’ पुरुषः
हुतोच्छिष्टस्येव रात्रौ ‘अशिता’ भोक्ता भवति ॥ ११ ॥

प्रातर्होमेऽप्येव माह— “अथ यदिति ॥ १२ ॥

अग्निहोत्रहोमस्येतरयज्ञवैलक्षण्येनासंस्थितत्वं प्रतिपादयति
— “तदाहुरिति । ‘अन्ये’ ज्योतिष्टोमादयो ‘यज्ञाः’ ‘सन्तिष्ठन्ते’
समाप्यन्त एव । यत्तु हादशसंवत्सरस्राध्यं सत्रम्, तदप्यवसान-
वदेव ; अग्निहोत्रं तु ‘अनन्तम्’ । तदेवानन्त्यं दर्शयति— “सायं
हीति । अस्त्वेव मग्निहोत्रस्यासंस्थितयज्ञत्वम्, किं तत
इत्याह— “तस्यानुपस्थिति मन्विति । अनुपस्थिताः परिसमाप्ति-
रहिताः । ‘श्रिया’ ‘अनुपस्थितः’ अपरिसमाप्तः, सर्वदा तद्युक्त
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

* ‘शीरात्मकस्य (?)’—इति च ।

† ‘तत्’—इति च ।

‡ ‘तत्सर्वहुतशिष्ट मेव भुक्तं’—इति च ।

“तस्मा अस्मा इति । आगतानां देवानां यदगमनम्, तेन ‘अस्मै’ यजमानाय ‘तद्’ अग्निहोत्रं ‘वृद्धाते’ विगतर्हिकं भवतीत्यर्थः । “तस्यानुवृद्धि-मिति । ‘तस्य’ अग्निहोत्रस्य ‘वृद्धिम्’ ‘अनु’-लक्ष्य, ‘यश्च’ एवं ‘वेद’, ‘यश्च’ ‘न’ वेद, ते सर्वे अनुवृत्त माहवनीय मभिलक्ष्य सूर्योऽप्त मगादिति सर्वे * निन्दन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

“अथ यः पुरेति । “आवसथेनोपकृतेनेति । आवसथ्य-स्मिन्निति ‘आवसथम्’ आसनम्, तेनोपकृतेन आयास्यन्तं श्रेयांसं यथोपासीत, ‘एवं’ ‘तत्’ अस्तमयात् प्राक् आहवनीयोद्धरण मित्यर्थः । “निविशन्त इति । “निर्विशः”—इत्यात्मने-पदम् ॥ ८ ॥

“स यत् साय मित्यादि । निगदसिद्धम् । तस्मादुदितहो-मिना मित्यादि । यस्मात् सूर्यरश्मिरूपा विश्वे देवा उदयात् प्राक् अनौ आसते, उदिते च सूर्ये ततोऽपगच्छन्ति, तस्मात् उदयात् परं प्रातर्होमं कुर्वेताम् ‘अग्निहोत्रं’ ‘विच्छिन्नम्’ एव भवति । कथं विच्छिन्न मित्यत ऊर्ध्वं दर्शयति—“यथा शून्य मिति । ‘यथा’ आगतेऽतिथौ गृहादपगते सति ‘शून्यं’ तदावास-स्थानं प्रतिपन्न मिति न तर्पणीयान्नपानादिकम् † ‘आहरेत्’, ‘एवम्’ आहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेषु ‘तत्’ उदितं सूर्यं प्रति गतेषु तद्गृहेऽग्निमाहवनीयहोम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

एतदेवास्तमितानुदितहोमौ प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“इयं वा इद मित्यादिना । “देवानां सदिति । ‘देवानां’ स्वभूतं

* ‘सर्वत्र’—इति क ।

† पा० सू० १. ३. १७ ।

‡ ‘प्रतिपतंश्चाग्नयाचयादिकम् (?)’—इति च ।

सदित्यर्थः । किं तत् ? मूलं किं वा मूलयुक्तम् ? । “एष रस इति । श्रीरात्मको रस इत्यर्थः ॥ १० ॥

“स यत् साय मस्तमित इति । “अस्य रसस्य जीवन-
स्येति । मूल्यमूलोभयनिष्पन्नस्य सर्वप्राणिजीवनहेतोः श्रीरात्म-
कस्य * रसस्य भागं प्रथमं ‘देवेभ्यः’ तस्वामिभ्यः ‘जुहवन्नि’
पश्चात् तदुपभुक्तशेषैः सर्वं वयम् ‘उपजीवामः’ इति अनेनाभि-
प्रायेण पयसा ‘अग्निहोत्रं’ जुहुयादित्यर्थः । तस्य प्रयोजन
माह—“स यदिति । ‘ततः’ अतो होमानन्तरं रात्र्याः’ काले
‘यत्’ † अशितं भवति, ‘तत्’ सर्वं ‘हुतोच्छिष्ट मेव’ भुक्तं ‡
भवति । “निरवत्तबलीति । निष्कृथावत्तो बलिर्देवभागी
यस्मात्, तन्निरवत्तबलि । एवम् ‘अग्निहोत्रं जुह्वत्’ पुरुषः
हुतोच्छिष्टस्येव रात्रौ ‘अशिता’ भोक्ता भवति ॥ ११ ॥

प्रातर्होमेष्वेव माह—“अथ यदिति ॥ १२ ॥

अग्निहोत्रहोमस्येतरयज्ञवैलक्षण्येनासंस्थितत्वं प्रतिपादयति
—“तदाहुरिति । ‘अन्ये’ ज्योतिष्टोमादयो ‘यज्ञाः’ ‘सन्तिष्ठन्ते’
समाप्यन्त एव । यत्तु द्वादशसंवत्सरस्राध्यं सत्रम्, तदप्यवसान-
वदेव ; अग्निहोत्रं तु ‘अनन्तम्’ । तदेवानन्तं दर्शयति—“सायं
हीति । अस्त्येव मग्निहोत्रस्यासंस्थितयज्ञत्वम्, किं तत
इत्याह—“तस्यानुपस्थिति मन्विति । अनुपस्थिताः परिसमाप्ति-
रहिताः । ‘अथ’ ‘अनुपस्थितः’ अपरिसमाप्तः, सर्वदा तद्युक्त
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

* ‘श्रीरात्मकस्य (?)’—इति च ।

† ‘तत्’—इति च ।

‡ ‘तत्सर्वं हुतोच्छिष्ट मेव भुक्तं’—इति च ।

एवं पयसी होमसाधनत्वं विधाय तस्मै दोहनानन्तरं
मन्मावधिश्रयणं विधत्ते—“तद् दुग्ध्वाधिश्रयतीति * । ‘शृतं
मसत्’ पक्वं भवेदित्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । “शृतं पाके”—इति †
निपात्यते । कियदवधिकः ‡ पाक इच्छाशक्त तत्रैकं मतं
मुपन्यस्यति—“तदाहुरिति । ‘यर्हि’ यस्मिन् काले तत् पयः
‘उदन्तं’ पाकवशादुदन्तान्तं बहुदवद् भवति, ‘तर्हि’ तस्मिन्
काले तच्छृतं भवति । तदवस्थापनेन पयसा ‘जुहुयात्’
इत्यर्थः । तदेतन्निषिध्यते; पक्षान्तरं माह—“तदा इति ।
‘उप ह दहेत्’ एव । को दोष इति, तत्राह—“अप्रजज्ञीति ।
‘रेतः’ संसृतं § छेतत् पयः, तच्च ‘उपदग्धम्’, ‘अप्रजज्ञि’
अप्रजननशीलम्, प्रजोत्पादकं न भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कथन्तर्हि दातव्यं ॥ मित्याह—“अधिश्रित्वेवेति ¶ । अधि-
श्रयणानन्तरं मेव ‘जुहुयात्’; न तु पाकेनोदन्तं कुर्यात् ।
नन्वशृतस्य होमयोग्यत्वं नास्तीति चेत्, तत्राह—“यन्त्वेवेति ।
पयसोऽग्निरेतस्त्वं प्रागान्नातम्—“तस्याऽरेतः प्राप्तिञ्चत्,
तत् पयोऽभवत्”—इति ** । तथा चाग्निरेतस्त्वादेव पयः
शृतं मेव सर्वदा । अतश्चाग्निवधिश्रयणमात्रादेव तच्छृतं भवतीति
तदवस्थेनैव जुहुयादित्यर्थः ॥ १५ ॥

“तदवग्न्योतयतीति । ज्वालायुक्तेन दर्भायेण †† अवाप्नुस्त्वं
प्रकाशयतीत्यर्थः । “अथापः प्रत्यानयतीत्यादि, अष्टम् । “उद-

* का० अ० सू० ४. १४. १, २ ।

† पा० सू० ३. १. २७ ।

‡ ‘कियदवधिः’—इति च ।

§ ‘रेतः संसृतं’—इति च ।

॥ ‘दग्धम्’—इति च ।

¶ का० अ० सू० ४. १४. ५ ।

** २ प्र० ३ ब्रा० १५ क० ६६ ए०, ६७० ।

†† ‘मार्गेण’—इति च ।

लोक मासीतयितवा इति । उदकस्य विन्दुरासीतयितव्यं चावेत्तव्य इति ब्रूयादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“अथ चतुर्वचनयतीति * । “चतुर्धा विहितं हीति । चतुर्थः स्त्रीभ्यो दुग्धत्वात् चतुर्धा विहितत्वम् । “समिधोमार्थवेति । समिधोऽग्नी होमार्थं सुजीतपयस्कायां † वैकङ्क्षां क्षुचि एकां समिधं सुपरि निधाय मार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रति मन्वेदित्यर्थः । गत्वा च तस्मिन्नाहवनीयपरभागे होमद्रव्यम् ‘अनुपसाय’ अभिधाय, हस्ते धृत्वेव ‘पूर्वा माहुतिं’ जुहुयात् ‡ ।

“होमनुपसादयति”—इति § यदुपसादनं तैत्तिरीयके समा-
ज्जातम्, तदनुष तस्यावुक्ततां दृष्टान्तेनोपपादयति—“स यदुप-
सादयेदिति । “अन्तरा निदध्यादिति । भोक्तुं सुपविष्टस्य
पुरःस्वितं पात्रं मग्राप्य मध्ये मार्गे अशनम् अन्नदिकं निदध्यात् ॥
‘एवं’ ‘तत्’ उपसादनं मित्यर्थः । अनुपसादनस्यानुगुण्यं माह—
“यदनुपसायेति ।

एवं प्रथमाहुतिं जुत्वा उपसादनपुरस्सरं मेव द्वितीया
माहुतिं जुहुयादिति विधत्ते—“उपसथोत्तरा मिति । जुहोती-
त्यनुषङ्गः । एव अनुपसादनोपसादनलक्षणधर्मभेदादेनैवाहुतौ
‘जानावीर्यं’ जानासामर्थ्ये एव करोतीत्यर्थः ॥

* का० श्रौ० सू० ४. १४. १० ।

† ‘सुजीतपयस्काय’—इति, च ।

‡ ‘मार्हपत्यदेशादाहवनीयं’ प्रतिस्वत्वेव पूर्वा माहुतिं जुहुयात् च ।

§ तै० ब्रा० २. १. ५. ८ । “उन्नीयोपसादयति, पृथिवी मेव प्रीणाति ।
होम्यनुपसादयति, अन्तरिक्ष मेव प्रीणाति । जुहोपसादयति, दिव मेव
प्रीणाति”—इति ।

॥ ‘मध्ये मार्गे दक्षितं मन्त्रादिं च निदध्यात्’—इति सू० ।

एते अनुपसादनोपसादने प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“मनश्च ह वा इति । ‘व्यावर्त्तयति’ धर्मभेदेन पृथक् करोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां सङ्ख्यां समुच्चित्य प्रशंसति—“स वै हिरिति । “विराड् वै यज्ञ इति । सर्वप्रकृतिभूत-
स्याग्निष्टोमस्य शतस्तोत्रियायोगेन विराट्सम्प्रत्तेर्यज्ञस्य विराट्त्व-
मित्यर्थः । अनयोः सुव्योपमार्जनप्राशनयोरविहितयोः स्तोतु-
मयोग्यत्वात् तयोर्विधिरुन्नेतव्या ॥ १८ ॥

तेषां होमोपमार्जनप्राशनानां सुपयोग माह—“स यदिति ।
“देवाः सन्तीति । अग्नौ प्रक्षिप्तेनाग्निहोत्रहविषोपचितावयवाः
सन्तः सर्वदा विद्यन्त इत्यर्थः । “पिष्टेषु चौषधीषु चेति । तत्र
प्रथमोपमार्जनेन ओषधीनां तृप्तिः, द्वितीयेन पितृणां मिति
द्रष्टव्यम् । “ओषधयश्च सन्तीति । सर्वदा विद्यन्त इ-
त्यर्थः ॥ १९ ॥

“या वै प्रजा इति । ‘अनन्वाभक्ताः’ भागरहिताः, ‘ताः
परामूताः’ खलु । अत एव प्राशने सति ‘या इमाः’ सर्वाः प्रजाः
‘यज्ञमुखे’ यज्ञानां मुखभूतेऽग्निहोत्रे यजमान आहुतिभागयुक्ताः
करोतीत्यर्थः । कस्तुर्हि पशूनां भाग इति, तच्चाह—“तेनो
हेति । ‘मनुष्यान् अनु’ मनुष्याधीनतया यतो गवाद्याः
‘पशवः तिष्ठन्ति, तेनैव कारणेन मनुष्यद्वारा तेषां भागयुक्ता
इत्यर्थः ॥ २० ॥

अस्याग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतं पाकयज्ञत्वं सुपन्यस्यति—
“तदु होवाचेति । न खल्वग्निहोत्रहोमो दर्शपूर्णमासादि-
यज्ञवत् * केवलयज्ञत्वेन मन्तव्यः, अयं खलु पाकयज्ञ इव

भतवि । 'इति'-शब्दो वाक्यसमाप्ति । एतदुपपादयति—“इदं हीति * । इदं खल्वग्निहोत्रं वक्ष्यमाणरूपम् । तत्र पशव्याव-
दानादिकं (कर्म) केवलो यज्ञधर्मः ; अग्नौ किञ्चिदुत्वा,
किञ्चिदवशेष मुत्सृज्य † वह्निर्निगम्य, आचमननिर्लेहनादिकः
पाकयज्ञधर्मः ; तस्याग्निहोत्रस्य पाकयज्ञस्य सतो रूपम् ।
अस्त्वेवम्, किं तत इत्याह—“तदस्येति । 'तत्' पाकयज्ञियम्
'अस्य' अग्निहोत्रस्य 'रूपं' 'पशव्यम्' पशुभ्यो हितम्, पशुप्राप्तिसाधन
मित्यर्थः ॥ २१ ॥

“सैषेत्यादि । 'अमू' विप्रकृष्टां 'याम्' आहुतिं 'प्रजापतिः'
सृष्टिकाले प्रथमम् 'अजुहोत्', 'सैषा' 'एका' अग्निहोत्रस्य
पूर्वाहुतिः । अनन्तरञ्च 'यदेत' ‡ अग्निवायुमूर्याः 'पश्चा'
पश्चात् 'इव' 'आध्रियन्त' अवस्थिताः ॥ २२ ॥

“सा येति । द्वितीया तु स्विष्टकृतस्थानीयेत्याह—“अथ
येति । “एषा हि दिगिति । 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृदाहुतेः
'उत्तरार्हे' यथाक्रमेण “भूतञ्चैव भविष्यच्च”—इत्यादिवक्ष्यमाण-
इयात्मके इत्यर्थः ॥ २३ ॥

“तद् इय मेवेति । “भूत मित्यादि । 'भूतम्' अतीत-
कालावच्छिन्नम् । 'भविष्यत्' आगामिकालावच्छिन्नम् । एवं
जातादिषु योज्यम् । “आशा चेति । आशागोचरं प्राप्तव्य
मित्यर्थः । “अद्य च श्वयेति । वर्त्तमानानागतकालौ । एवं

* का० श्रौ० सू० ४. १४. २७ ।

† 'मुत्सृज्य'—इति क. 'सृष्ट्या'—इति च इहो डा०-विवरण । 'उत्सृज्य,
वह्निर्निगम्येति माधवः'—इति या० दे० ।

‡ 'यदेतो'—इति च । 'यदेतो'—इति च इहो डा०-विवरण ।

बह्विधे 'तद् इय मेवानु' तद्भागरूपे यथाक्रमे ते आहुती भवत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ तयोराहुत्योः समन्त्रकामन्त्रकत्वे विधास्यन् भूतभविष्य-
दादिहन्द्स्यात्मप्रजारूपत्वम्, अज्ञानहारूपत्वं च दर्शयति—
“आत्मेव भूत मित्यादिना । ‘आत्मा’ स्वयं पिता ‘एव’, ‘भूतम्’
यच्च भूतम्, तत् ‘अज्ञा’ ; अनुभूतत्वात् प्रत्यक्षम् । एव मात्मनो
भूतस्य च अज्ञात्वसाम्यात् आत्मभूत मिति तादात्म्य मित्यर्थः ।
“प्रजैव भविष्यदिति, प्रतिज्ञा । तदुपपादनम्— “अनज्ञा
हीत्यादि । ‘अनज्ञा’ अप्रत्यक्षम् ; प्रजाभविष्यतोरप्रत्यक्षत्व-
साम्यात् तादात्म्य मित्यर्थः ॥ २५ ॥

एवम् “आत्मेव जात मित्यादिषु हन्दात्मरेषु योजना ॥ २६ ॥

“आत्मेवागत मिति । आत्मप्रजारूपेण अज्ञानहारूपेण
चाहुती स्तुत्वा ह्यने, स चाहारूपः ; मन्त्रोऽपि देवताप्रकाशकत्वात्
तथा ॥ २७ ॥

“आत्मेवाद्येति । अद्येति वर्त्तमानकालः, ख इत्यागामिकालः ॥ २८ ॥

“सा या पूर्वाहुतिरिति । ‘तां’ पूर्वाहुतिं मन्त्रेण जुहुया-
दित्यर्थः । उत्तराहुतिस्तु भविष्यज्जनित्यमाणा अनामताद्यात्मक-
प्रजास्थानीया, सा चानहारूपा ; अमन्त्रकत्व मपि तथेति ।
तूष्णीं तु भविष्यज्जनित्यमाणा नागताद्यात्मकप्रजास्थानीया, सा
चानहारूपा ; अमन्त्रक मपि तथेति तूष्णीं मेव सा होतव्ये-
त्यर्थः * ॥ २९ ॥

कालद्वयेऽपि पूर्वस्या आहुतेः क्रमेण मन्त्रो दर्शयति— “स

जुहोतीति * । मन्त्रयोः सत्यरूपत्वं सुपपादयितुं मर्यसङ्गाव
माह—“यदा हीत्वादिना । अस्तङ्गतः सूर्योऽग्निं मेवानु
प्रविशतीति रात्रावग्निर्ज्योतीरूपो भवति । यदेतन्मन्त्रवाक्यद्वयं
तत् समवेतार्थत्वात् सत्यम् ॥ ३० ॥

अनयोः सामभ्यातर्हीमयोर्ब्रह्मवर्चसकामस्य कर्त्तव्यतोपन्यास-
पुरस्कारं मन्त्रविशेषौ दर्शयति—“तदु हैतदिति । अग्निर्ज्योतिः
सूर्यो ज्योति रिति चत्वारो वर्चश्शब्दाभिधेयस्य तेजसः प्रतिपादकाः ।
अत एवाभ्यां मन्त्राभ्यां जुहुतः पुरुषस्य ब्रह्म-तेजः सम्पद्यत इत्यर्थः ।
तदुक्तं कात्यायनेन—“अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य”—
इति † ॥ ३१ ॥

“तद्वस्तुवेत्यादि । तस्मिन् होममन्त्रे ‘प्रजननस्य’ रूप
मिव ‘रूपम्’ विद्यते । ज्योतिश्शब्दाभिधेयं मध्येऽवस्थितं ‘रैतः’
‘उभयतः’ ‘देवतया’ देवतावाचिपदाभ्यां ‘परिगृह्णाति’ । उभयतः
परिगृहीतत्वं रैतसः प्रजननरूपम् । अतः “अग्निर्ज्योतिः”—
“सूर्यो ज्योतिः”—इति मन्त्रयोः ‡ प्रजननरूपसङ्गावात्
ताभ्यां होमे प्रजासम्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

“तदु होवाचेत्यादि । एलकस्य पुत्रः ‘ऐलकिः’, ‘जीवलः’
इति तस्य नाम । “गर्भं मेवेति । कालद्वयेऽपि ज्योतिश्-
शब्दस्य देवतावाचिपदगृहीतत्वात् रैतः परिगृहीत मन्त्ररवस्थितं
गर्भावस्थं मेव भवति ; न तु प्रजारूपेणोत्पद्यत इत्यादिः
तद्दोषोपन्यासः, “स एतेनेत्यादिः, तत्परिहारः ॥

“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इत्येतेनेव § सायं जुहु-

* का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १५ ।

‡ वा० सं० ३. ६. १, २ ।

§ वा० सं० ३. ६. १ ।

यात्, तेन गर्भी धृतो भवति । प्रातःकाले तु “ज्योतिः
सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा”—इत्यनेन * मन्त्रेण होमे
सति रेतोरूपस्य ज्योतिश्शब्दस्य हिङ्गुरणात् अन्तर्गतो गर्भी
वह्निः प्रजोत्पत्तिर्भवति † ॥ ३४ ॥

“अथ प्रातरिति । स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

“तदाहुरिति । “अग्नावेवेतदिति । अग्निर्ज्योतिरिति-
मन्त्रेण जुह्वत् ‘अग्नावेव’ सक्तं ‘सूर्यं’ ‘जुहोति’ ; अतः सूर्यो
ज्योतिरिति ज्योतिश्शब्दोऽग्निवचनः । अतो यथापठिताभ्या
मेव मन्त्राभ्यां होम इत्यभिप्रायः ।

“तदुदितहोमिना मित्यादि । ‘तत्’ उक्तविधानाम् ‘उदित-
होमिना मेव’, नानुदितहोमिनां सम्भवति । कथं मिति चेत्,
उच्यते—सूर्यं ह्यस्तुङ्गते ‘अग्निः ज्योतिः’ प्रकाशमानो भवति,
उदिते त्वाम्नेयर्तजस्रङ्गमात् सूर्यश्च प्रकाशवान् भवति । तस्मात्
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”—इतिमन्त्रनिष्पाद्यस्याग्निहोत्र-
होमस्य अग्नौ पूर्वोक्तरूपं ‡ “गर्भं मेव करोति, न प्रजनयतीति
एवंरूपा निन्दा नास्तीत्यर्थः ।

तदुदितहोमपक्ष एवाश्रयणीय इत्याशङ्क्य § तत्र दोषान्तर
माह—“इयं मेव परिचक्षेति । ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्नये स्वाहा’,
‘सूर्याय स्वाहा’ इति ‘तस्यै’ देवतायै प्रत्यक्षं न ह्ययते, किन्तु
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”—इति प्रथमान्तत्वेन सम्प्रदान-

* वा० सं० ३. ६. ५ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १५. ११ ।

‡ पुरस्तादिहैव ११३ पृ० ६ पं द्रष्टव्यम् ।

§ “प्रातर्जुहोत्यनुदिते”—इत्येव विधिः का० श्रौ० सू० ४. १५. ।

विभक्तेरभावात् देवतात्वस्य परोक्षमेवास्य पक्षस्य निन्दे-
त्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं निन्द्यनिन्दां प्रदर्श्य, अनिन्द्यं पक्षान्तरमाह— अने-
नैवेति । तदुक्तं सूत्रकृता— “प्रदीप्ता * मभिजुहोति अग्नि-
र्ज्योतिरिति † सजूरिति ‡ वा”—इति § । “तत् सविष्टम-
दित्यादि, सुगमम् । “प्रत्यक्षं जुहोतीति । ‘जुषाणः’ हविः
सेवमानः ‘अग्निः’ ‘वेतु’ कामयता मिति प्रतिपादनात् अग्नेर्होमः
प्रत्यक्ष इति प्रागुक्तात् पक्षात् वैलक्षण्यमित्यर्थः । प्रातःकालीन-
मन्त्रेऽप्येवं द्रष्टव्यम् ॥ ३७, ३८ ॥

हुतशिष्टस्य स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणानां पानं विधित्सुः
ततोऽन्य एव ब्राह्मणोऽग्निहोत्रहोमस्याध्वर्युरिति प्रतिपादयति—
“ते होचुरित्यादिना । “अथ यत् स्थाल्या मिति । अग्निहोत्र-
होममाधनभूतायां सुचि यत् हुतशिष्टम्, तस्यैव हिः प्राश्नातीति
प्राशनं विहितम्; यत् स्थाल्या भवतिष्ठते, तत् नाग्निहोत्रो-
च्छिष्टम् । तत्र दृष्टान्तः— “यथा परिणह इति । परितो न हं
परिश्रितं ॥ धान्यपूर्णं शकटस्योपरि स्थापितम्; यथा तस्माद्विषो
निर्वापयितुं तद्गतं धान्यं न शिष्यते, किन्तु पुनरपि यागान्तरयोग्य
मेव । ‘एवं तत्’ स्थाल्यां पय इत्यर्थः । तथा चाध्वर्योरेव तत्

* ‘प्रदीप्ता मिति क् ।

† वा० सं० ३. ८. १, २ ।

‡ वा० सं० ३. १०. १, २ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

॥ ‘परिवीतं’—इति च । ‘परिश्रितं’—इति च दृष्टो डा०-विवरणः ।

यान मिति नियमाभावात् यः कोऽपि ब्राह्मणस्तत्
पिबेदित्यर्थः * ॥ ३८ ॥ ३ [१. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्.)

एता ह वै देवता योऽस्ति । तस्मिन्वसन्ती-
न्द्रो यमो राजा नडो नैषिधो ऽनश्नन्त्याङ्गमनो-
ऽसन् पा॒ऽसवः † ॥ १ ॥

तद्वा ऽएष एवेन्द्रः । यदाहवनीयो ऽथैष एव
गार्हपत्यो यमो राजाथैष एव नडो नैषिधो
यदन्वाहार्यपचनस्तद्यदेतमुहरहर्दक्षिणत आहरन्ति
तस्मादाहुरहरह्व्यै नडो नैषिधो यमः राजानं
दक्षिणत उपनयतीति ‡ ॥ २ ॥

* “स्यात्यां परिशिष्टि तद् ब्राह्मणः पिबेत्”—इति का० श्री० सू०
४. १४. ११ । “नायं ब्राह्मणस्य पाने नियमः, किं तर्ह्यब्राह्मणस्य प्रतिषेधो-
ऽयम्”—इति च तट्टीकायां या० दे० ।

† ‘पा॒ऽसवः’— इति घ, ङ ।

‡ ‘तीति’—इति घ, ङ ।

अथ य एष सभाया मग्निः । एष एवान-
 श त्सङ्गमन* स्तद्यदेत मुनश्चित्तेवोपमङ्गच्छन्ते तस्मा-
 देषो ऽनश्नन्नथ यदेतद् भस्मोद्भूत्य परावपन्त्येष एवा-
 सन् पा॒सवः स यो हैव मेतद्दे॒वैवं म॒य्येता दे॒वता
 व्सन्तीति सु॒र्वान्है॒वैतां॒लोकान् जयति सु॒र्वान्लोका-
 ननुसञ्चरति ॥ ३ ॥

तेषा मुपस्थानम् । यदेव सायं प्रातराहवनीय
 मुप च तिष्ठत ऽउप चास्ते तदेव तस्योपस्थान मथ
 यदेव प्रतिपरित्य गार्हपत्य मास्ते वा श्रुते वा तदेव
 तस्योपस्थान मथ यच्चैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्
 तदेव तं मुनसोपतिष्ठेत तदेव तस्योपस्था-
 नम् ॥ ४ ॥

अथ प्रातः† । अनशित्वा मुहूर्तं सभाया
 मासित्वापि कामं पल्ययेत तदेव तस्योपस्थान मथ
 यच्चैव भस्मोद्भूत मुपनिगच्छेत्तदेव तस्योपस्थान मेव मु
 हास्येता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥ ५ ॥

यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः । अथैष भ्रातृव्य-
 देवत्यो यदन्वाहार्यपचनस्तस्मादेतं नाहरहराहरेयुर्न

* 'अनसाङ्गमन'—इति घ, ङ ।

† 'प्रातः'—इति घ, ङ ।

ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं व्विदुष एतं
नाहरहराहरन्त्यन्वाहार्यपुचनो वा ऽएषः ॥ ६ ॥

उपवसथ ऽएवैन माहरेयुः । युचैवास्मिन्यक्ष्यन्तो
भवन्ति तथो हास्यैषो ऽमोघायाहृतो भवति ॥ ७ ॥

नवावसिते * वैन माहरेयुः । तस्मिन् पचेयुस्तद्
ब्राह्मणा अग्नीयुर्यद्यु तन्न विन्देद्यत्पचेदपि गोरेव
दुग्धमधिश्चयितवै ब्रूयात्तस्मिन् ब्राह्मणान्पाययितवै
ब्रूयात्पापीयासो ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति
यस्यैवं व्विदुष एवं कुर्वन्ति तत्मादेव मेव चिकी-
र्षेत् ॥ ८ ॥

तद्युवैतत्प्रथमं सुमिद्धो भवति । धूप्युत † ऽइव
तुर्हि हैष भवति रुद्रः स युः कामयेत युथेमा रुद्रः
प्रजा अश्रद्धयेव त्वत्सहसेव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत
ऽएव मुन्न मद्या मिति तुर्हि ह सु जुहुयात्प्राप्नोति
हैवैतदन्नाद्यं यु एवं व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ‡ ॥ ९ ॥

अथ युचैतत्प्रदीप्ततरो भवति । तुर्हि हैष

* “नवावसथे”—इति स्यात् सायणसम्मतः ।

† ‘धूप्युत’—इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

‡ ‘जुहोति’—इति ग, ‘जुहोति’—इति घ, ङ । इहोपरिष्ठः चैवम्

भवति वृत्तः स यः कामयेत यथेमा वृत्तः
 प्रजा गृह्णन्निव त्वत्सुहसेव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत
 ऽएव मुन्न मद्या मिति तुर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति
 हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तुर्हि जुहोति ॥ १० ॥

अथ यच्चैतत्प्रदीप्तो भवति । उच्चैर्धूमः परमया
 जूत्या बल्वलीति * तुर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः
 कामयेतेन्द्र इव श्रिया यशसा स्या मिति तुर्हि
 ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं
 विद्वांस्तुर्हि जुहोति ॥ ११ ॥

अथ यच्चैतत्प्रतितुरा मिव । तिरुश्चीवार्चिः स
 शम्यतो † भवति तुर्हि हैष भवति मित्रः स यः
 कामयेत मैत्रेणेद मुन्न मद्या मिति य माहुः सर्व्वस्य
 वा ऽअयं ब्राह्मणो मित्रं न वा ऽअयं कं चम
 हिनस्तीति तुर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं
 य एवं विद्वांस्तुर्हि जुहोति ॥ १२ ॥

अथ यच्चैतद्गाराश्चाकश्यन्त ऽइव । तुर्हि हैष
 भवति ब्रह्म स यः कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्या मिति

* 'बल्वलीति'—इति च इटो डा०-वेवरेण ।

† 'संशम्यतो'—इति घ, ङ ।

तुर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं
व्विद्वांस्तुर्हि जुहोति ॥ १३ ॥

एतेषा मेक् संवत्सर मुपेत्येत् । स्वयं जुहुयादि
वास्यान्यो जुहुयाद्य यो ऽन्यथान्यथा जुहोति
यथापो वाभिखुन्नन्नन्यद्वा न्नाद्यं स सामि निवर्तेतैवं
तद्य यः सार्धं जुहोति यथापो वाभिखुन्नन्नन्यद्वा-
न्नाद्यं तत् त्रिमे ऽभितृन्द्यादेवं तत् * ॥ १४ ॥

अभ्रयो ह वा ऽएता अन्नाद्यास्य यदाहुतयः ।
अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणन्ति य एवं व्विद्वानग्निहोतुं
जुहोति ॥ १५ ॥

सा या पृव्वीहुतिः । ते देवा अथ योत्तरा
ते मनुष्या अथ यत् स्त्रुचि परिशिनष्टि ते
'पशवः ॥ १६ ॥

स वै कुनीय इव पृव्वी माहुतिं जुहोति ।
भूय इवोत्तरां भूय इव स्त्रुचि परिशिनष्टि ॥ १७ ॥

स यत् कुनीय इव पृव्वी माहुतिं जुहोति ।
कुनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यो ऽथ यद् भूय ऽइवोत्तरां
भूयांसो हि मनुष्या देवेभ्यो ऽथ यद् भूय इव

सुचि परिशिनुष्टि भूयांसो हि पशुवो मनुष्येभ्यः
 कुनीयांसो ह वा ऽअस्य भार्या भवन्ति भूयांसः
 पशवो य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तद्वै समृद्धं
 यस्य कुनीयांसो भार्या असन् भूयांसः पशवः ॥
 १८ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ [३. २.]

अथान्युपस्थानं विधित्सुस्तेषा मग्नीनाञ्च दैवतरूपता
 माह—“एता ह वा इति । ‘योऽस्ति’ यो यजमानो विद्यते,
 तस्मिन् ‘एता.’ वक्ष्यमाणा देवता निवसन्ति । ताश्च “इन्द्रः,
 यमः, नडः, नैषिधः इति * । निषधदेशाधिपतिर्नलः प्रसिद्धो
 राजा । ‘अनश्नन्त्सङ्गमनः’ इति सभ्योऽग्निरुच्यते, ‘असन्
 पांसवः’—इत्यावस्थः ॥ १ ॥

एवं तच्छिष्टानां स्वरूपप्रतिपादनं “तद्वा इत्यादिना
 क्रियते । ‘अन्वाहार्यपचनः’ अग्निः, ‘एष एव’ (‘नडः’)
 नलः, ‘नैषिधः’—इति निर्दिष्टः । निषधराजस्य च नलस्य,
 दक्षिणाग्नेश्च साम्य माह—“तद्यदिति । अग्निहोत्रहोमकाले
 एव † मन्वाहार्यपचनं ‘यद्’ यस्मात् ‘दक्षिणतः अहरहः
 आहरन्ति’, तस्मादेव ‘नैषिधः’ नलोऽपि यमस्य राज्ञः ‘दक्षिणतः’
 उपगच्छतीति लोकप्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ २ ॥

“अथ य एष सभाया मग्निः, ‘एष एवानश्नन्निति ‡ ।

* ‘नलो (!) नैषध (!) इति’—इति च ।

† ‘एत’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १५, २३ ।

‘एषः’ सभ्योऽग्निः, अनशित्वेव प्रातः सभ्यः सङ्गम्यत इति व्युत्पत्त्या अनश्वन्तङ्गमन इति पदद्वयेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “भस्मोद्धृत्येति * । गार्हपत्याहवनीयादिगतं भस्म उद्धृत्य ‘यत्’ प्रातरेव आवसये ‘परावपन्ति’ । “एष एवासन्निति । भस्मनः पांसुतुल्यत्वात् ‘पांसवः’ भस्मरूपाः पांसुसम्बन्धिनश्च । एवं पञ्चानां मग्नीनां देवतात्मकत्वं प्रतिपाद्य एतद्वेत्तुः फलमाह— “स य इति ॥ ३ ॥

“तेषां मुपस्थानमिति । वक्ष्यत इति शेषः । आहवनीयस्य समीपेऽवस्थानं † मासनं शयनं वा क्रियते ; ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ‡ । ‘प्रतिपरेत्य’ आहवनीयागारात् प्रतिनिवर्त्य गार्हपत्यसमीपे वासं वा शयनं वा क्रियते, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ § ; “संव्रजन्निति । तत्रैव ‘तं मनसोपतिष्ठते’, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ॥ ; अग्निहोत्रं स्वाङ्गस्यापि तस्य सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

“अथ प्रातरिति । “सभाया मासित्वेति । भोजनात् प्रागेव ‘मुहूर्तं’ ‘सभायाम्’ उपविश्य, पश्चात् यथेच्छं ‘पल्ययेत्’ परिगमनं ‘कुर्वीत’ ¶, ‘तत्’ आसनं ‘तस्य’ सभाग्नेः ‘उपस्थानम्’ । उद्धृत-भस्मोपगमनमेव आवसथ्योपस्थानम् ** ॥ ५ ॥

यदेतदन्वाहार्यस्याहरहर्दक्षिणत आहरणम्, तदुपवसथ एवाहनि कर्तव्यं नान्यत्रेति विधित्सुराह— “यजमानदेवत्यो वा इति †† अहरहराहरणे यजमानस्य शत्रुदेहसम्बन्धिता भवती-

* का० श्रौ० सू० ४. १५. ३४ ।

† ‘समीपे यत् स्थानं’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. ३० ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १५. ३१ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १५. ३२ ।

¶ ‘करोति’—इति च ।

** का० श्रौ० सू० ४. १५. ३३ ।

†† का० श्रौ० सू० ०. १२. २ ।

त्यर्थः । “अन्वाहार्यपचनः”—इति यौगिकी सञ्ज्ञा, तस्मात् सोऽन्वाहार्यः ॥ ६ ॥

“उपवसथ इति * । ओदनो यस्मिन्नहनि अग्नी पक्तव्यः, तत्रैवोपवसथेऽहनि तस्याहरणं कर्तव्यमित्यर्थः । “अमोघायेति । सप्रयोजनायेत्यर्थः ॥ ७ ॥

“नवावसिते वेति † । नव आवसथो नवावसथः ; नूतनं स्थानम् प्राप्य ‘एनम्’ अन्वाहार्यपचनम् ‘आहरेयुः’ । आहरण-प्रयोजन माह— “तस्मिन्निति ‡ । “यद्यु तन्न विन्देदिति । पक्तव्यालाभे गोर्दुग्ध्वा पय एव तस्मिन्नग्नी ‘अधिश्रयितवै’ अधिश्रयितुं ‘ब्रूयात्’ § । तुमर्थं तवै-प्रत्ययः ॥ । एवञ्चान्वाहार्य-पचनस्याहरहर्दक्षिणत आहरणमित्येकः पक्षः, यत्तु देशान्तरे प्रवसन् यजमानः अहरहः पाक्समये तत्साधनभूतं स्वकीयमन्वाहार्यपचनं स्मरेत् उपवसथ एवेति द्वितीयः, नवावसथे वेति तृतीयः । सूत्रकृताप्युक्तम्— “आहरणं मेकेषा मुपवसथे नवावसथे वा तस्मिन् पचैयुरमांसम्, पाक्याभावे गोः पयोऽधिश्रयितवै ब्रूयात्”—इति ¶ ।

एवमन्वाहार्यपचनस्य न प्रतिदिवसमाहरणं किन्तूपवसथे नवावसथे वेति यदुक्तम्, तस्य फलमाह— “पापीयांस इति । अन्वाहार्यपचनस्य भ्रातृव्यस्थानीयत्वात् तस्य प्रतिदिवसमाहरणाभावात् शत्रुक्षयो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथाहवनीयानेरवस्थाविशेषमुपजीव्य रुद्रवरुणेन्द्रादिदेवता-

* का० श्रौ० सू० ४. १३. ७ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १३. ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १३. ९ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १३. १० ।

॥ पा० सू० ३. ४. ६ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १३. ६—१० ।

रूपान् प्रकल्प्य काम्यान् होमकालानाह— “तद्यत्नैतदिति * । काष्ठैः समिद्धोऽग्निर्यदा प्रथमं धूमायमानो भवति †, तस्मिन् समये एव रुद्रात्मको भवति । “यथेमा रुद्र इति । ‘यथा’ खलु ‘रुद्रः’ ‘इमाः’ सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अश्वयेव त्वत्’ अप्रियेणैव एकवारम्, ‘सहसेव त्वत्’ बलात्कारेणैव एकवारम्, तथा ‘निघात मिव त्वत्’ प्रजानां हनन मिव एकवारम्, ‘सचते’ समवेति ; ‘एवम्’ एवाहं सर्वम् ‘अन्नम्’ उपसंहृत्य ‘अद्याम्’ भक्षयेयम् ‘इति’ ‘यः कामयेत’, ‘सः’ यजमानः ‘तर्हि’ तस्मिन् रुद्रावस्थोऽग्नौ ‘जुहुयात्’ । एव मुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ८ ॥

“अथ यत्नैतत् प्रदीप्ततरो भवतीति ‡ । प्रदीप्तावस्थ आहवनीयो वरुणात्मकः । “गृह्णन्निव त्वदिति । वरुणो हि पापीयसीः प्रजाः आत्मीयेः पापैः ‘गृह्णन्निव’ भवति, तद्वदय मपि सर्वं मन्नाद्य मुत्पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ यत्नैतत् प्रदीप्तो भवतीति § । “उच्चैर्धूम इति । यस्या मवस्थाया माहवनीयः प्रदीप्तः सन्नुद्धतधूमो भूत्वा मूहतावेगेन ‘बलबलि’—‘इति’ एवं शब्दायते, तदवस्थोऽग्निरिन्द्रात्मक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

“अथ यत्नैतत् प्रतितरा मिवेति ॥ । काष्ठेषु दग्धेषु ‘संशाम्यतः’ ‘अग्नेः अर्चिः’ ‘प्रतितरां’ निष्कष्टतराम् ‘इव’,

* का० श्रौ० ४. १५. १६ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

† “‘धूप्यत इव’ धूमायमान इव भवति”—इति च ।

‡ का० श्रौ० ४. १५. १७ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० ४. १५. १८ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० श्रौ० ४. १५. १९ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

जह्वीघोमनाभावे 'तिरस्वीव' भवति * । "य माहुरिति । ब्राह्मणस्य यजमानस्य होमकाले इत्यर्थः ॥ १२ ॥

"अथ यच्चैतदङ्गाराद्याकथ्यत इवेति † । सर्वासु क्वालासु निवृत्तासु केवल मङ्गारा अत्यर्थं दीप्यन्ते ; तस्या मवस्थायाम् 'एषः' अग्निः 'ब्रह्म' परब्रह्मात्मको 'भवति' ॥ १३ ॥

"एतेषा मेक मित्यादि । 'एतेषां' ब्रह्माद्यवस्थाविशेषाणां मध्ये 'एकं' 'संवत्सरं' संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मनुतिष्ठेत् । 'यदि' यजमानः 'स्वयम्' एवान्निहोत्रं 'जुहोत्' भवति, 'अन्यो वा' अध्वर्युः 'जुहुयात्', उभयोरप्येव संवत्सरनियमः ‡ ॥

यसु संवत्सरमध्ये उक्तनियमं परित्यज्य 'अन्यथा' प्रतिदिवसं प्रकारान्तरेण 'जुहोति', तस्य दोषं दृष्टान्तपुरस्सर माह— "यथेति । 'अपः' 'अभि'-लक्ष्य वापीकूपादिकं 'स्वनम्', 'अन्यद्' व्रीहियवादिकम् 'अन्नाद्यं वा' सम्पादयन्, 'सामि' अर्पयते 'यथा' 'निवर्त्येत' 'एवम्' एव 'तत्' अन्यथाग्निहोत्रहवन मित्यर्थः ॥

संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मेकं पक्षं कुर्वतो यजमानस्यो-
द्दिष्टफलप्राप्ति माह— "अथ य इति । 'साहुं' सह. नेरन्तर्येण 'यः' संवत्सरं 'जुहोति', सिद्ध मन्वत् । 'अन्नाद्यम्' 'अभिदणत्ति' स उत्पादयतीत्यर्थः § ॥ १४. १५ ॥

पूर्वोक्तराहुतिद्रव्ययोरवशिष्टस्य चोत्तरोत्तरं भूयस्त्वं विधाय प्रतिपादयति— 'सा येत्यादिना ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥

* 'जह्वीघोमनरहित इव भवति'—इति च ।

† का० औ० ४. १५. २० सू० प्रत्ययम् ।

‡ का० औ० सू० ४. १५. २७ क । § का० औ० मू० ४. १५. २७ ख ।

“स यत् कनीय इति । “भार्या भवन्तीति । भर्तव्याः
प्रजा भवन्तीत्यर्थः ॥

“तद्वै समृद्ध मिति । यत्र खलु भोक्तृणा मत्सीयस्त्वम्,
भोग्यसम्पत्तिर्भूयसी, तत् खलु समृद्ध मित्यर्थः * ॥ १८ ॥ ४
[१. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः† ॥

* “स्वयं वा जुहुयात्, उपवस्ये नियमः”—इति का० श्रौ० ४. १५. ३५
३६ सूत्रे । “सर्वदा स्वयं मेव वायिहोत्रं जुहुयात्, अग्नौ वा”—इति,
उपवस्यशब्देन पौर्णमास्यमावात्ये उच्यते । तत्र स्वयं मेव इति राज्ञी
वायिहोत्रं जुहुयादित्यर्थं नियमः । सूतके नृत्तकेऽपि तत्कालं मेव खात्वा
स्वयं मेव होमः कार्यः—इति च तयोर्याज्ञिकदेवज्ञते आख्यानम् ।

† “कण्डिकासङ्ख्या १०३”—इति क, ख-पुस्तके नास्ति, “काण्डी १०४”
इति—ग, घ-उयोः कवत् । तत्र १ ब्रा० २८ क०, २ ब्रा० १८ क०, ३ ब्रा०
३६ क०, ४ ब्रा० १८ क० ; सङ्कलनया १०३ सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः समृजे * । स यत्रा-
 निं० समृजे सु इदं जातः सर्व्वं मेव दृग्धुं
 दध्न ऽदुत्येवाविलु मेव ता यास्तुर्हि प्रजा आमुस्ता
 हेन० सम्पेष्टुं † दध्निरे सो ऽतितिक्षमाणः पुरुष
 मेवाभ्येयाय ॥ १ ॥

स होवाच । न वा ऽग्रहं मिदं तितिक्षे हुन्त
 त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा बिभृहि स
 यथैव मां त्वं मस्मिंल्लोके † जनयित्वा भरिष्यस्येव
 मेवाहं त्वा ममुष्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यामीति
 तथेति तं जनयित्वाविभः ॥ २ ॥

* 'समृजे'— इति क, ग; 'सदृजे'— इति घ, ङ ।

† 'मस्मिन् लोके'— इति क; 'मस्मिंल्लोके'— इति घ, ङ । एवं
 मिहोत्तरचापि सर्व्वत्र ।

स यदग्नी ऽप्राधत्ते * । तदेनं जनयति तं जनयित्वा विभर्त्ति स यथा हैवैष एतमुष्मिंस्लोके जनयित्वा विभर्त्स्येव मु हैवैष एतमुष्मिंस्लोके जनयित्वा विभर्त्ति ॥ ३ ॥

तन्न साम्युदासयेत । सामि हास्यै सु ग्लायति स यथा हैवैष एतस्मा ऽअस्मिंस्लोके सामि ग्लायत्येव मु हैवैष एतस्मा ऽअमुष्मिंस्लोके सामि ग्लायति तस्मान्न साम्युदासयेत ॥ ४ ॥

स युञ्ज म्रियते । युञ्जेन मग्नावभ्यादधति तदेषो ऽग्नेरधिजायते स एष पुत्रः सन् पिता भवति ॥ ५ ॥

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् † । शत मित्रु शरदो ऽअन्ति देवा युञ्जा नक्षत्रा जरसं तनुनाम् । पुत्रासो युञ्ज पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोरिति पुत्रो ह्येष सत्स ‡ पुनः पिता भवत्येतन्न तद्यस्मादग्नी ऽप्रादधीत ॥ ६ ॥

तद्वा ऽएष एव मृत्युः । य एष तुपति

* 'त्ते'— इति क, ग; 'त्ते'— इति घ, ङ ।

† 'क्तम्'— इति घ, ङ । ‡ 'सत्स'— इति घ ङङो डा० वेबरस्य ।

तद्यदेष एव मृत्युस्तस्माद् या एतस्मादव्युच्यः
 प्रजाप्ता म्रियन्ते ऽथ याः पराच्यन्ते देवास्तस्मादु-
 ते ऽमृतास्तस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्व-
 भिहिता यथाश्र्वो ऽश्वाभिधान्या वाभीशुभिर्व्वैव
 मस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिता
 स्तस्मादु रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते ॥ ७ ॥

स युस्य कामयते । तस्य प्राण मादायोदेति सु-
 म्रियते* स यो हैतुं मृत्यु म्रनतिमुच्यः यामुं लोक मेति
 यथा हैवास्मिंल्लोके न संयत माद्रियते यदा यदैव†
 कामयते ऽथ मारयत्येव मु हैवामुष्मिंल्लोके पुनः-
 पुनरेव प्रमारयति ॥ ८ ॥

स युत् साय मुस्तमिते दे ऽश्माहुती जुहोति ।
 तदेताभ्यां पृथ्व्याभ्यां पद्भ्यां मेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठ-
 त्यथ युत् प्रातरनुदिते दे ऽश्माहुती जुहोति
 तदेताभ्यां मपराभ्यां पद्भ्यां मेतस्मिन्मृत्यौ प्रति-
 तिष्ठति सु एन मेष उद्यन्नेवादायोदेति तदेतं‡

* 'संम्रियते'— इति क ग ; इष्टो डा० वेवरेण च ।

† 'यदैव'— इति घ, ङ ; 'यदैव'— इति च डा० वेवरेण इष्टः ।

‡ 'तदेतन्'— इति क ।

मृत्बु मृतिमुच्यते सैषाम्निहोत्रे मृत्बोरुतिमुक्तिरुति
ह वै पुनर्मृत्बुं मुच्यते य एव मेता मग्निहोत्रे मृत्बोरुति-
मुक्तिं व्येद ॥ ९ ॥

यथा वा ऽङ्गुषोरुनीकम् । एवं यज्ञाना मग्नि-
होत्रं येन वा ऽङ्गुषोरुनीक मेति सर्व्वं वै तेनेषु-
रेत्येतेनो हास्य सर्व्वं यज्ञक्रतुव एतं मृत्बु मृति-
मुक्ताः ॥ १० ॥

अहोरात्रे ह वा ऽश्वमुर्ध्वलोके परिप्लवमाने ।
पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतो ऽर्ध्वर्चीनं वा ऽश्वतो
ऽहोरात्रे तयो हास्याहोरात्रे सुकृतं न
क्षिणुतः ॥ ११ ॥

स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् । उपरिष्ठाद्रथचक्रे
पल्यङ्गमाने ऽउपावेक्षेतैवं परस्तादर्धर्चीनो ऽहोरात्रे
ऽउपावेक्षते न ह वा ऽश्वस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो
य एव मेता महोरात्रयोरुतिमुक्तिं व्येद ॥ १२ ॥

पूर्व्वेणाहवनीयं परीत्य * । अन्तरेण गार्हपत्यं
चेति न वै देवा मनुष्यं विदुस्त एन मेतदन्त-
रेणातियन्तं विदुरयं वै न इदं जुहोतीत्यभिर्व्वै

पाप्मनो ऽपहृता तावन्नाहवनीयश्च गार्हपत्यश्चान्तरे-
 खातिवतः पाप्मान मपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योति-
 रेव श्रिया युशसा भवति ॥ १३ ॥

उत्तरतो वा ऽग्निहोत्रस्य द्वारम्* । स यथा
 द्वारा प्रपद्येतैवं तदथ यो दक्षिणत एत्यास्ते
 यथा बहिर्धा चरेदेवं तत् † ॥ १४ ॥

नौर्ह वा ऽएषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रं तस्या
 ऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च
 नौमण्डे ऽभ्यैष एव नावाजो यत् क्षीर-
 होता ॥ १५ ॥

स यत् प्राङ्मुपोऽद्वैति । तदेनां प्राची मभ्यजति
 स्वर्गं लोकं मभि तथा स्वर्गं लोकं समश्नुते तस्या
 उत्तरत ऽचारोहणं सेनं स्वर्गं लोकं
 सुमापयत्यथ यो दक्षिणत एत्यास्ते यथा
 प्रतीर्णया मागच्छेत् स द्विहीयेते स तत एव
 बहिर्धा स्यादेवं तत् ‡ ॥ १६ ॥

अथ या मेतां स मिध मभ्याद्धाति सेष्टका

* 'द्वारम्'— इति क, ग, घ, ङ ।

†, ‡ 'तत्'— इति घ, ङ ।

धेन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुर्येनैता मिष्टका मुप-
 दधाति यदा वा ऽद्भुष्टकोपधीयते ऽग्नाहुतिर्हूयते
 तदस्योपहितास्त्रेवेष्टकास्त्रेता आहुतयो हूयते या
 एता अग्निहोत्राहुतयः ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्व्या ऽअग्निः । संवत्सरो वै प्रजापतिः
 संवत्सरे-संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं चित्थेना-
 ग्निना सन्तिष्ठते संवत्सरे-संवत्सरे चित्थ मग्नि
 माप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतदु हास्या-
 ग्निहोत्रं चित्थेनाग्निना सन्तिष्ठति चित्थ मग्नि
 माप्नोति ॥ १८ ॥

सप्त च वै शतान्यशीतीनामृचः । द्विंशतिश्च
 स यत् सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति ते द्वे ऽग्नाहुतौ
 ता अथ संवत्सर ऽग्नाहुतयः सम्पद्यन्ते ॥ १९ ॥

सप्त चैव शतानि द्विंशतिश्च । संवत्सरे-
 संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं महतोक्त्येन सम्पद्यते
 संवत्सरे-संवत्सरे महदुक्त्य माप्नोति य एवं विद्वान-
 नग्निहोत्रं जुहोत्येतदु हास्याग्निहोत्रं महतोक्त्येन
 सम्पद्यते महदुक्त्य माप्नोति ॥ २० ॥ १ [३.३.] ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथैतयोर्गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानं विधित्सुः प्राग्विहिते
आधात्मान्निहोत्रे समुच्चित्य क्रमेण स्तौति— “यच्च वा
इत्यादिना । यदा खलु प्रजापतिः प्रजाः सृष्टवान्, तदा
‘अग्निम्’ इमं मपि ससर्ज । ‘सः’ च ‘जातः’ अग्निः ‘सर्वम्’
‘इदं’ जगत् ‘दग्धुम्’ ‘दध्ने’ उद्युक्तो बभूव, ‘इति’ इदं सर्वं
जगद् व्याकुलं मभूत् । “ता हैनं मिति । ‘एनम्’ अग्निम् ।
“सोऽतितिक्षमाण इत्यादि । ‘अतितिक्षमाणः’ प्रजाभिषिक्तो-
र्षितं पेषणं मसहमानः कर्माधिकारिणं ‘पुरुषम्’ अभिजगामे-
त्यर्थः ॥ १ ॥

“स होवाचेति । अभिगम्य किमुक्तवानिति, तदाह— “न
वा अहं मिति । ‘तितिक्षे’ सोढुं शक्नोमि । निगदसिद्ध
मन्यत् ॥ २ ॥

एव मग्निना प्रार्थितः, ‘तथा’ ‘इति’ अङ्गीकृत्य पुरुषेण
तद्यैवानुष्ठितं मिति दर्शयति— “स यदग्नीत्यादिना ॥ ३ ॥

एव मग्न्याधानेन जनितस्याग्नेर्भरणं विधाय, तस्य भरणात्
प्राक् उद्दासनं निषेधति— “तन्नेति । ‘सामि’ मध्ये यद्यग्निम्
‘उद्दासयेत्’ विस्मृजेत्, तर्हि ‘अक्षौ’ यजमानाय ‘सः’ अग्निः
‘सामि’ अर्धग्लानिगुक्तो भवति । “स यथेत्यादि । इह लोके
येयं मन्दिष्णानिः, सा आमुष्मिकयजमानग्लानेर्हेतुर्भवतीत्यर्थः ।
तस्मादामरणात्तम् अग्निर्दार्य इति निगमयति— “तस्मा-
दिति ॥ ४ ॥

“स यत्नेति । “यत्नेन मग्नाविति । ‘एनं’ मृतं यजमानं
पेष्टमेधिकविधिना अग्नीं प्रक्षिपन्तीत्यर्थः । ‘सः’ ‘एषः’
अग्निः । “पुत्रः सन् पिता भवतीति । यजमानस्य जीवना-

वस्त्राया माधानेनोत्पादितत्वादग्निस्तस्य पुत्रः, मरणादूर्ध्वन्तु तस्मादग्नेर्यजमानस्य जननात् पुत्र एव तस्य पिता भवति इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पुत्रस्य सतः पितृत्वं विरुद्धं मित्याशङ्क्य काश्चिद्वचं संवादयति—“तस्मादिति । ‘ऋषिणा’ मन्त्रेण । स च “शतं मित्रं शरद इत्यादिकः * । तस्य चायं मर्यः । हे ‘देवा !’ ‘अग्नि’ अग्निके, मनुष्याणां समीपे आयुष्टेन परिकल्पिताः ‘शतं’ शतरुद्धाका एव ‘शरदः’ संवत्सराः खलु ‘यत्र’ यस्मिन् आयुषि शतसंवत्सरे ‘तनूनां’ शरीराणां ‘जरसं’ जरां ‘चक्रां’ कृतवन्तः, ‘यत्र’ च ‘पुत्रासः’ सन्तोऽपि अपत्योत्पादनेन पितरो भवन्ति, ‘नः’ अस्माकं तत् ‘आयुः’ ‘गन्तोः’ ममनात् पूर्वं ‘मध्या’ मध्ये ‘मा रीरिषत’ हिंसनं मा कृषत इति † । “पुत्रो ह्येष सन्निति । मानुषस्य यजमानस्य ‘एषः’ अग्निः आधानादुत्पन्नतया ‘पुत्रः सन्’ देवशरीरापन्नस्य तस्योत्पादनेन ‘पुनः पिता भवति’ इति ‘एतत्’ खलु ‘ऋषिणा’ ‘अभ्य-
'नूतम्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अग्निहोत्रहोमस्यामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं वक्तुं सूर्यस्य मृत्युरूपतां प्रतिपादयति—“तद्वा एष एवेति । “रश्मिभिरिति । सूर्यस्य किरणैः प्राणिषु बद्धा इत्यर्थः । तच्च दृष्टान्तः—“यथेति । अश्वोऽभिधीयते बध्यतेऽनयेत्यश्वाभिधानी, तथा ; अभीश्वोऽन्या रज्ज्ववस्त्राभिर्वेत्यर्थः । “तस्मादु रश्मय इति । यस्मात् सूर्य-
रश्मिभिः प्राणिषु प्रजा बद्धाः, तस्मादेव कारणात् ते

* ऋ० सं० १, ८६, ६ ।

† ‘हिंसतं प्राक्तञ्च मिति’— इति च, क, ञ ।

‘रश्मयः’ प्रजानां ‘प्राणान्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘अवतायन्ते’ अवसार्यन्ते ॥ ७ ॥

“स यस्येत्यादि । निगदसिद्धम् । “स यो हेतु मिति । ‘एतं’ सूर्यात्मकं सृष्ट्युम् ‘अनतिमुच्य’ अनतिक्रम्य ‘यः’ स्वर्गं प्राप्नोति, ‘स.’ भूलोक इव तत्रापि ‘पुनरेव’ मार्यते, न त्वसृष्टत्व-प्राप्तिस्तस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

कथन्तर्हि तस्य सृष्ट्योरतिमोक इति, तत्राह— “स यदिति । सायम्प्रातरग्निहोत्रे हे हे आहुती ह्वयेते, अतस्ताभिश्चतस्रभिराहु-तिभिः तस्मिन् सूर्यात्मके ‘सृष्ट्यौ’ विषयभूते सति यजमानः ‘प्रति-तिष्ठति’ । ‘स. एषः’ सूर्यः ‘एनं’ यजमानं रश्मिभिः ‘आदाय’ एव ‘उदेति’, स च ‘एतं’ सृष्ट्युम् अतीत्य ‘मुच्यते’ इत्यर्थः ॥

एव मग्निहोत्रे सृष्ट्योरतिमुक्तिं प्रतिपाद्य, तद्वेत्तुः फलमाह— “अति हेति ॥ ९ ॥

एव मग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वतिमुक्तिः सिद्धेति दर्शयति— “यथा वा इत्यादिना । ‘यथा’ खलु ‘इषोः’ वाणस्य ‘अनीकम्’ सुखम्, प्रधानम्, ‘एवम्’ एव ‘यज्ञाना मग्निहोत्रम्’ । ‘येन’ खलु लक्षणेन ‘इषोरनीकं’ शल्यरूपम् ‘एति’ प्राप्नोति, ‘तेन’ ‘सर्वेषुः’ प्राप्नोति, एवम् अग्निहोत्रसम्बद्धाः ‘सर्वे’ दर्श-पूर्णमासादयः ‘यज्ञक्रतवः’ तद्वारा सूर्यात्मकं ‘सृष्ट्युम्’ ‘अतिक्रान्ताः’ इत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं सृष्ट्योरतिमुक्तिरहोरात्राभ्या मपि यजमानेन ज्ञातव्येति प्रतिपादयति— “अहोरात्रे हेति । ‘परिप्लवमाने’ पर्यावर्त्तमाने ‘अहोरात्रे’ आमुष्मिकं स्वर्गादिसुखहेतुभूतं ‘सुक्रतं’ कर्म ‘क्षिणुतः’ क्षपयतः । यदा तु विद्वान् उदीरितरीत्या सूर्यं मतिक्रम्य वर्त्तते,

तदा 'अहोरात्रे' एवाधीने * भवतः ; तथाचाहोरात्रानाक्रान्त-
त्वाद् विदुषः सुकृतं न क्षीयत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति— “स यथेति । ‘रथोपस्थे’
रथस्योत्सङ्गे ‘उपरिष्ठात्’ ‘तिष्ठन्’ ‘पथ्यङ्गमाने’ पर्यावर्त्तमाने
‘रथचक्रे’ ‘अर्वाचीनः’ अवाङ्मुखः ‘अवेक्षेत’ । “न ह वेत्याद्युक्ता-
र्थम् ॥ १२ ॥

होमार्थं मन्तरागमनं विधाय प्रशंसति— “पूर्वेणेति । आह-
वनीयस्य पुरस्तात् परिक्रम्य गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये गच्छे-
दित्यर्थः । तथा च सूत्रितम्— “अन्तरिणापराम्नी गत्वा दक्षिणेन
वाग्दक्षिण † माहवनीयं पतीत्योपविशति यजमानः”—इति ‡
“न वै देवा इत्यादि, सुगमम् ॥ १३ ॥

“उत्तरतो वा इति । यदेतद् दक्षिणेन वेति कात्यायनेन
विकल्पेनोक्तम्, तद् दूषयति— “अथ य इति । अग्निहोत्र-
होमार्थं मुत्तरस्यां दिशि दारः प्रवेगोपायः । तथा च उत्तरतः
प्रवेशं विहाय गार्हपत्याहवनीययोर्मध्य मनतिक्रम्यैव ‘यः’ यज-
मानः दक्षिणस्यां दिशि एवागत्य आहवनीयसमीपे ‘आस्ते’, सो-
ऽग्निहोत्रं प्रवेष्टुं मशक्तो बहिरवावतिष्ठते ; यथा प्राकारपरिहृत-
स्याश्रमादेर्द्वारदेशं मप्राप्य प्रवेष्टुं मशक्तो बहिरवस्थितो भवति,
तद्वदित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथैतदग्निहोत्रं नौरूपेण स्तुवन्नुत्तरतः प्रवेशं प्रतिपादयति—

* ‘एवातोऽर्वाचीने’— इति च ।

† ‘वाग्दक्षिण’—इति डा० वेबर-सूत्रित-का० सू० पाठः । तत्र तदीय-
पाठभेदादि-टीपनी च द्रष्टव्या ।

‡ का० श्री० सू० ४. १३. १२ ।

“नौहंत्यादिना । “नौमण्डे इति । ‘स्वर्ग्यायाः’ स्वर्गप्राप्ति-
हेतुभूतायास्तस्या अग्निहोत्ररूपायाः ‘नावः’ ‘आहवनीयगार्ह-
पत्यौ ‘नौमण्डे’ उभे पाश्चै, भित्ती इत्यर्थः । “नावाज
इति । नाव मजति क्षिपति प्रेरयतीति नावाजो
(नाविकः *) ॥ १५ ॥

“स यत् प्राङ्छित्यादि । प्राङ्मुखः सन् गार्हपत्यादाह-
वनीयं प्रति होमायोपगच्छन्, ताम् ‘एनां’ नावं प्राच्यां दिशि
अवस्थितं ‘स्वर्गम्’ ‘अभ्यजति’ अभिप्रेरयति । “उत्तरत आरो-
हण मिति । आरुह्यतेऽनेनेत्यारोहणम् प्रवेशद्वारम् । ततश्च
उत्तरत आरुह्यमाणा सा अग्निहोत्ररूपा नौः ‘एनं’ यजमानं
‘स्वर्गं लोकं’ सम्यक् प्रापयति । दक्षिणतः प्रवेशने दोष
माह— “अथ य इति । नावि ‘प्रतीर्णायां’ सत्यां यः तरोतुम्
‘आगच्छेत्’, ‘सः’ तत्रैव ‘विहीयेत’ त्यज्येत, ततश्च
‘बहिर्बाः’ बाह्यो भवेत्; ‘एव मेव’ ‘तत्’ दक्षिणतः प्रवेशन
मित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथैतदग्निहोत्रं चित्वाग्निसम्पत्त्या स्वीति— ‘अथ या मिति ।
होमार्थं या समिदग्नी आधीयते, ‘सा’ च ‘इष्टका’; ‘येन’ च मन्त्रेण
अग्निहोत्रं ‘जुहोति’, ‘तत्’ एव इष्टकोपधानार्थं ‘यजुः’ ।
“यदा वा इत्यादि । सायम्प्रातःकालेषु समिदाधानं निवेष्टको-
पधानम् । तथा चयनसंस्कृते एवाग्नी सायम्प्रातराहुतयः कार्त्स्न्येन
हुता भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ चित्यस्याग्नेः संवत्सररूपतां ब्रुवन्, तावत्कालसाध्य-

* एषोऽर्थः कृतयुषसिलब्धः स्फुटं प्रतीयते ; न तु कस्मिंश्चिदप्यादर्श-
पुस्तके विद्यते । ‘नावोपजीवनः’— इति डा० रोय-गोल्ड्स्टरौ ।

स्थानिहोत्रहोमस्य तत्सम्पत्तिं सुपपादयति— “प्रजापतिर्वा इति । चित्योऽग्निः प्रजापतिना षष्टत्वात् तदात्मकः, प्रजापतिश्च संवत्सर-कालात्मकः ; अतः संवत्सरपर्यन्तं सभित्तिष्ठन्ते * मग्निहोत्रं चित्ये-न्नग्निना समानं सत् ‘सन्तिष्ठते’ समाप्तं भवति । तथा च एकैकसंवत्सराग्निहोत्रानुष्ठानेन चित्याग्न्यनुष्ठानं कृतं भवती-त्यर्थः ॥ १८ ॥

अथैतदग्निहोत्रं महदुक्थसम्पादनेन स्तौति— “सप्त चेति । चित्योऽग्निः, महाव्रतं साम, दृढतीसहस्रात्मकं महदुक्थं † चेतानि त्रीणि सहचराणि । तत्र चित्याग्निसम्पत्तिरुक्ता, मह-दुक्थसम्पत्तिस्त्वेव ‡ भवगन्तव्या ;— तत्र हि गायत्री दृचा-शीतिः, श्रीणिहोत्रं दृचाशीतिः, बार्हती दृचाशीतिरिति तिस्र-स्तृचाशीतयो विहिताः § ; तासां तिमृणां दृचाशीतीनां सम्भूय परिगणिता ऋचो विंशत्युत्तरसप्तशतसङ्ख्याका भवन्ति ॥ । प्रति-दिवसं मग्निहोत्रे सायमाहुतिरेका, प्रातराहुतिश्चैकेति द्वे आहुती ; संवत्सरस्य षड्युत्तरत्रिशतसङ्ख्याका अहोरात्राः, तेषु च क्रिय-माणास्ता अग्निहोत्राहुतयो विंशत्युत्तरसप्तशतसङ्ख्याका भवन्ति । अतश्चैकस्मिन् ‘संवत्सरे’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अग्निहोत्रं’ दृचाशीतित्रयात्मक-महदुक्थेन ‘सम्पद्यते’ सम्पन्नं भवती-त्यर्थः ॥

* ‘सन्तिष्ठन्ते’— इति च ।

† ‘दृढदुक्थं’— इति छ ।

‡ ‘दृढदुक्थसम्पत्तिस्त्वेव’— इति छ ।

§ ऐ० ५ आर० २ अ० १-४-५ खण्डानि द्रष्टव्यानि ।

॥ तासां ऋचां प्रतीकपद्धतेन स्वरूपं प्रतिपत्तिश्च तत्रैवारण्ये द्रष्टव्या ।

एतज्ज्ञानपूर्वकानुष्ठानं प्रशंसति— “संवत्सरे संवत्सर
इति ॥ १८, २० ॥ १ [३.३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्.)

अग्नौ ह वै देवाः* । सुव्वान् पशून्निदधिरे ये
च याम्या ये चारण्या व्विजयं व्वोपमैष्यन्तः काम-
चारुख वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति
वा ॥ १ ॥

तानु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्य राचिं
प्रविवेश पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतं ते ह
व्विदुञ्चकुरिह वै प्राविक्षद्राचिं वै प्राविक्षदिति
तु मेतुत् प्रत्यायत्याः रात्रौ साय मुपातिष्ठन्त देहि
नः पशून् पुनर्नः पशून् देहीति तेभ्योऽग्निः पशून्
पुनरददात् ॥ २ ॥

तुष्मै क मग्नी उपतिष्ठेत् । अग्नी वै दातारी
तावेवैतद्याचते साय उपतिष्ठेत् साय हि देवा
उपातिष्ठन्त दत्तो * हैवास्मा एतौ पशून् यु एवं
व्विद्वानुपतिष्ठते ॥ ३ ॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् । उभये ह वा इदं
मये सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यत्र स्म मनुष्याणां
न भवति तत्र स्म देवान् याचन्त इदं वै नो
नास्तीदं नोऽस्त्विति ते तस्या एव याचज्जायै द्वेषेण
देवास्तिरोभूता नेद्विनसानि नेद् द्वेष्योऽसानीति
तस्मान्नोपतिष्ठेत् ॥ ४ ॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत् । यज्ञो वै देवाना
माशीर्युजमानस्य तद्वा एष एव यज्ञो यदाहुति-
राशीरेव युजमानस्य तद्यदेवास्तान् तदेवैतदुपतिष्ठ-
मानः कुरुते तस्मादुपैव तिष्ठेत् ॥ ५ ॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् । यो वै ब्राह्मणं वा
शुसमानोऽनुचरति क्षत्रियं व्याथं मे दास्यत्ययं मे
गृहान् करिष्यतीति यो वै तं व्याद्येन वा कुर्मणा
व्वाभिरिराधयिषति तुष्मै वै स देयं मन्यतेऽथ य

आह किं नु त्वं समासि यो मे न ददासोतीश्वर
 एनं द्वेष्टोरीश्वरो निर्व्वेदं गुन्तोस्तस्मान्नोपतिष्ठेतै-
 तद्विस्त्वेवैष एतं याचते यदिन्वे यस्मिन्नेति तस्मा-
 न्नोपतिष्ठेत ॥ ६ ॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । उत वै यावन्दातारं
 लुभत ऽएवोती भर्त्ता भार्य्यं नानुबुध्यते स यदेवाह
 भार्य्यो वै तेऽस्मि विभृहि मेल्यथैनं व्येदाथैनं भार्य्यं
 मन्यते तस्मादुपैव तिष्ठेतेद मित्तु समस्तं यस्मादुप-
 तिष्ठेत ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्व्वा ऽएष भूत्वा † । यावत् ईष्टे याव-
 देन मनु तस्य रेतः सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोतीदृ
 मवैतत् सर्व्वं मुपतिष्ठमानोऽनुविकरोतीदृ सर्व्वं
 मनुप्रजनयति ॥ ८ ॥

स वा ऽउपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वा ऽउप
 इयेनेय मुप यद्धीदं किञ्च जायतेऽस्यां तदुपजायते-
 ऽथ यन् न्यृच्छत्यस्या ‡ मेव तदुपोष्यते तदुक्ता राज्ञा

* 'यदिन्वि'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

† 'भूत्वा'— इति च, ड ।

‡ 'यन् न्यृच्छत्यस्या'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

भुयो-भूय एवाचक्ष्यं भवति तदक्षय्येवैतद् भूमा
प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

सु आह । उपप्रयन्तो ऽचध्वर मित्यध्वरो वै
यज्ञ उपप्रयन्तो यज्ञ मित्येवैतदाह मुन्नं व्योवे-
मान्मय ऽङ्गुति मुन्नं सु ह्यस्मा ऽएतदक्ष्यन् भवत्यारे
ऽचक्षो च शृग्वत ऽङ्गुति यद्यप्यस्मदारकादक्ष्य न
एतच्छृग्वेवैव * मेवैतन्मन्यस्तेत्येवैतदाह ॥ १० ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः । ककुत् पतिः पृथिव्या
अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति
तद्यथा याचन् कल्याणं व्यदेदामुष्यायणो वै त्व
मक्षुर्ल वै त्व मेतस्मा ऽचसीत्येव मेषा † ॥ ११ ॥

अथैन्द्राग्नी । उभा वा मिन्द्राग्नी ऽपाहु-
वध्ना ऽउभा राधसः सह मादयुध्ये । उभा दाता-
राविष्ठां रयीणा मुभा व्याजस्व सातये हुवे वा
मित्येष वा ऽङ्गुन्द्रो य एष तपति‡ स यदस्त मेति
तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत् सह सन्ता

* 'एतच्छृग्वेवैव'— इति म, च, छ ।

† 'मेषा'— इति च, छ ।

‡ 'एष तपति'— इति च छलौ डा०-वेक्केण ।

ऽउपतिष्ठत ऽउभौ मे सह सन्तौ दत्ता मिति तुस्मा-
दैन्द्राणी * ॥ १२ ॥

अयं ते योनिर्हृत्विधः । यतो जातो ऽपरो-
चयाः । तं जानन्नग्न ऽपारोहाया नो वर्क्ष्या रयि-
मिति पुष्टं वै रयिर्भूयो भूय एव न इदं पुष्टं कुर्वि-
त्येवैतदाह ॥ १३ ॥

अयं मिह प्रथमः । धायि धातुभिर्हीता
वृजिष्ठो ऽअध्वरेष्ठीडाः । य संप्रवानो भृगवो ब्विह-
रुचुर्व्वनेषु चित्रं ब्विभवं ब्विशे-ब्विश ऽइत्यन्वेव
धावति तद्यथा याचन् कल्याणं व्वरेदामुष्यायणो
वै त्व मख्खं वै त्व मेतस्मा ऽअसीत्येव मेषा यथो
ऽएवैष तथो ऽएवेन मेतदाह यदाह ब्विभवं ब्विशे-
ब्विश ऽइति ब्विभुर्ध्वेषु ब्विशे-ब्विशे ॥ १४ ॥

अस्य प्रत्नाम् † । अनु द्युतं शुक्रं दुदुक्ते
ऽअङ्गयः । पयः सहस्रसा मृषि मिति परमा वा
ऽएषा सनीनां यत् सहस्रसनिस्तुहेतुस्यैवावरुद्धौ
तस्मादाह पयः सहस्रसा मृषि मिति ॥ १५ ॥

* 'दैन्द्राणी'— इति घ, ङ ।

† 'प्रत्नाम्'— इति घ, ङ ।

तदेतत् समाहार्यं षडृचम्* । तस्योपवती प्रथमा
 प्रब्रुवत्युत्तमावोचाम तद्यस्मादुपवत्यथाद् एव प्रत्नं
 यावन्तो ह्येव सनाये देवास्तावन्त एव देवास्तस्मा-
 दद्दुः प्रत्नं तदिमे ऽपवान्तरेण सुर्व्वे कामास्ते ऽअस्मा
 ऽइमे सञ्जानानि सुर्व्वान् कामान्त्सन्नमतः ॥ १६ ॥

स वै त्रिः प्रथमा जुपति । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्-
 प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात् त्रिः प्रथमां
 जुपति त्रिरुत्तमाम् † ॥ १७ ॥

युद्धं वा ऽअन्नाग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो
 वा व्यर्चसो वा प्रजायै वा ॥ १८ ॥

तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि । तन्वां मे पाच्या-
 युर्दा अग्नेऽह्यायुर्मे देहि व्यर्चांदा अग्नेऽसि व्यर्ची
 मे देहि । अग्ने युन्मे तन्वा जनं तन्म ऽआपृ-
 णेति ॥ १९ ॥

युद्धं वा ऽअन्नाग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो

* 'चं'— इति घ, ङ ।

† 'माम्'— इति घ, ङ ।

वा व्युर्चसो वा प्रजायै वा तन्मे पुनराप्याययेत्येवै-
तदाह तथो हास्यैतत् पुनराप्यायते ॥ २० ॥

इन्धानास्त्वा । शतं हिमा द्युमन्तं सुमिधी-
महीति शतं व्युर्चाणि जीव्यास्येत्येवैतदाह तावत् त्वा*
महान्तं सुमिधीमहीति यदाह द्युमन्तं सुमिधी-
महीति व्युस्वन्तो व्ययस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृत
मिति व्युस्वन्तो व्ययं भूयास्म व्ययस्कृतं त्वं† भूया
इत्येवैतदाह सहस्वन्तो व्ययं भूयास्म सहस्कृतं त्वं ‡
भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदुम्भन मुदब्धासो ऽचुदाभ्य
मिति त्वया व्ययं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्येत्येवै-
तदाह ॥ २१ ॥

चित्रावसो स्वस्ति ते पारु मशीयेति । त्रिरे-
तुज्जपति रात्रिर्व्यं चित्रावसुः सा हीयं सङ्गृह्येव
चित्राणि व्यसति तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे ॥ २२ ॥

एतेन ह स्म वा ऽऋषयः । रात्रेः स्वस्ति
पारुं समञ्जवत् ऽएतेनो ह स्मैनान् रात्रेर्नाष्टा
रुचांसि नु विन्दन्त्येतेनो § ऽएवैष एतद् रात्रेः

* , † , ‡ 'तावत्वा', 'व्ययस्कृतं', 'सहस्कृतं'— इति क-पाठाः ।

§ 'नुविन्दन्त्येतेनो'— इति सा-सम्मतः पाठ इति डा-वेङ्कटः ।

अस्ति पारु० समन्नुतु० एतेनो एन० राचेनाष्टा
रुचा०सि नु ब्विन्दन्त्येतावन्नु० तिष्ठन् जप्रति ॥ २३ ॥

अवासीनः । सं त्व मग्ने सूर्य्यस्य ब्वर्चसा
गथा इति तद्युदस्तं युन्नादित्य आहवनीयं प्रवि-
शति तेनैतुदाह समृषीणां स्तुतेनेति तद्युदपतिष्ठते
तेनैतुदाह सं प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वा ऽस्य प्रियं
धामाहुतिभिरेव तदाह स मह † मायुषा संब्वर्चसा
सं प्रजया सु० रायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्व मेतैः
स मगथा एव मह मायुषा ब्वर्चसा प्रजया रायस्पो-
षेणेति यद् भूमेति तदेव मह मेतैः सङ्गच्छा ऽद्विन्द-
वैतुदाह ॥ २४ ॥

अथ गा मय्येति । अथ स्याधो वो भक्षीय
मह स्य महो वो भक्षीयेति यानि वो व्वीर्याणि
यानि वो महा०सि तानि वो भक्षीयेत्येवैतुदाहोर्ज-
स्वोर्जं वो भक्षीयेति रुस स्य रुसं वो भक्षीयेत्येवैतुदाह
रायस्पोष स्य रायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्य
भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतुदाह ॥ २५ ॥

* 'गुविन्दन्त्येतावन्नु'— इति सा०-सम्मतः, पाठ इति डा० वेबरः

† 'स मह'— इति घ, ङ ।

रेवती रुमध्व मिति रेवन्तो हि पशुवस्तुस्मादाह
 रेवती रुमध्व मित्यस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिंस्तोके-
 ऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैतदाह
 मदेव मापगातेति ॥ २६ ॥

अथ गा मभिमृशति । संहितासि विश्व-
 रूपीति विश्वरूपा इव हि पशुवस्तुस्मादाह विश्व-
 रूपीत्यूर्जा माविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रुसेनेति
 तदाह गौपत्येनेति यदाह भूमेति तदाह ॥ २७ ॥

अथ गार्हपत्य मभ्यैति । स गार्हपत्य मुपतिष्ठत
 ऽउप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्जिया व्ययम् । नमो
 भुरन्त एमसीति नम एवास्मा ऽएतत् करोति
 यथैनं न * हिंस्यात् † ॥ २८ ॥

राजन्त मध्वराणाम् । गोपामृतस्य दीदिविम् ।
 वर्द्धमानं स्वे दम ऽद्विति स्वं वै त ऽद्वदं यन्मम त्वस्रो
 भूयो-भूय एव कुर्वित्वेवैतदाह ॥ २९ ॥

स नः पितेव सूनवे ‡ । अग्ने सूपायनो भव ।
 सुचस्वा नः स्वस्तय ऽद्विति यथा पिता पुत्राय सूफ-

* 'यथैनं न'— इति च इष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'हिंस्यात्'— इति घ, ङ ।

‡ 'सूनवे'— इति घ, ङ ।

चरो नैवैनं केन चन हिनस्त्येवं नः सुपचर एधि
मैव त्वा केन चन हिंसिष्येत्येवैतदाह ॥ ३० ॥

अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं नो ऽअन्तम उत ज्ञाता
शिवो भवा व्युत्थः । वसुरग्निर्वसुश्रवा अक्षा
नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥ तं त्वा शोचिष्ठ
दीदिवः सुन्नाय * नून मीमहे सुखिभ्यः । स नो
बोधि शुधी † हव मुरु ष्या गो ऽअघायतः समस्मा-
दिति ॥ ३१ ॥

यदा ऽआहवनीय मुपतिष्ठते । पशूस्तुद्याचते
तस्मात्तु मुच्चावचैच्छुन्दोभिरुपतिष्ठत ऽउच्चावचा इव
हि पशवोऽथ यद् गार्हपत्यं पुरुषांस्तुद्याचते तद्
गायत्रं प्रथमं त्रिचं गायत्रं वा ऽअग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन
मेतच्छुन्दसोपपुरैति ॥ ३२ ॥

अथ द्विपदाः । पुरुषच्छुन्दसं वै द्विपदा द्विपाद्वा
ऽअयं पुरुषः पुरुषानेवैतद्याचते पुरुषान् हि याचते
तस्माद् द्विपदाः पशुमान् ह वै पुरुषवान् भवति
य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥ ३३ ॥

* 'सुन्नाय'— इति संहिता-पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'शुधि'— इति च पाठो दृश्यो डा० वेबरिण ।

अथ गा मध्येति* । इड ऽएद्यदित ऽएहीतीडा
हि गोरुदितिर्हि गौस्ता मभिमृशति काम्या एतेति
मनुष्याणां ह्येतासु कामाः प्रविष्टास्तस्मादाह
काम्या एतेति मयि वः कामधुरणं भूयादित्यहं वः
प्रियो भूयास मित्येवेतदाह ॥ ३४ ॥

अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च । प्राङ्
तिष्ठन्नग्नि मीक्षमागो जपति सोमानं स्वरणं
क्षणहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं यु औशिजः † ॥ यो
रेवान्यो ऽअमीवहा व्यसुवित्युष्टिवर्द्धनः । सु नः
सिषक्तु यस्तुरः ॥ मा नः शुसो ऽअरक्षो धूर्तिः
प्रणङ् मर्त्यस्य । रुक्षा गो ब्रह्मणस्पत ऽइति ॥ ३५ ॥

यथा आहवनीय मुपतिष्ठते । दिवं तदुप-
तिष्ठतेऽथ यद् गार्हपत्यं पृथिवीं तदुपेतदन्तरिक्षं मेधा
हि दिग् बृहस्पतेरेतां ह्येतद्दिग् मुपतिष्ठते तस्माद्
गार्हस्पत्यं जगति ॥ ३६ ॥

कुरि त्रीणा मुवोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्यः ।
दुराधुषं व्यरुणस्य ॥ न हि तेषा ममाचन नाध्वसु
व्वारणेधु । ईशे रिपुरधुशंसः ॥ ते हि पुत्रासो

* 'मध्येति'— घ, ड ।

† 'जः'— इति घ, ड ।

अदितेः प्र जीवसि मर्त्याय । ज्योतिर्युक्कन्यजस्र
मिति तन्नास्ति नाध्वसु च्चारणेष्वित्येते ह वा
ऽअध्वानो च्चारणा य ऽइमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी ऽएतान्
ह्येतदुपतिष्ठते तस्मादाह नाध्वसु च्चारणेष्विति *
॥ ३७ ॥

अथैन्द्रो वै यज्ञस्य देवता मेन्द्र
मेवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते कदा चन स्तरीरसि
मेन्द्र सद्यसि दाशुष ऽइति यजमानो वै दाश्वान्न
यजमानाय द्रुक्षसीत्येवैतदाहोपोपेनु मघवन् भूय
इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽइति भूयो-भूय एव
न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥ ३८ ॥

अथ सावित्री । सविता वै देवानां प्रसविता
तथो हास्मा ऽएते सवितृप्रसृता एव सर्व्वे कामाः
समृध्यन्ते तत् सवितुर्व्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयादिति † ॥ ३९ ॥

अथाम्नेयी ‡ । तदग्नय ऽएवैतदात्मान
मज्जतः परिददाति गुप्तैः परि ते दृढभो रथो-

* 'ष्विति'— इति घ, ङ ।

† 'विति'— इति ग, घ, ङ ।

‡ 'यी'— इति घ, ङ ।

ऽस्माँश्च ॥ २॥ • ऽचम्योतु विश्वतः । येन रुक्षसि
 दाशुष इति यजमाना वै दाशुषां सो यो ह वा
 ऽचम्यानाध्वृतमो रुथस्तेनैष यजमानानभिरुक्षति
 स यस्तेऽनाध्वृतमो रुथो येन यजमानानभिरुक्षति
 तेन नः सर्व्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह चिरेतज्ज-
 पति ॥ ४० ॥

अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं ध्वीर्य्यं
 पुत्रोऽनुसन्तनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन
 एव नाम गृह्णीयात् ॥ ४१ ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [३. ४.] ॥

अथ सायङ्कालीन मन्त्र्युपस्थानं विधिक्षुस्तदर्थं माध्यायिका
 माह— “अनी हेति । एतच्च पुनराधानब्राह्मणे † व्याख्यातम् ।
 तत्र हि ‘कृतून् प्रविवेश’, अत्र तु ‘रात्रिं प्रविवेश’ इत्येतावान्
 विशेषः । “त मेतदित्यादि । ‘प्रत्यायत्याम्’ आगामिन्यां ‘रात्रौ’
 ‘सायं’ काले ‘तम्’ अग्निं देवम् उपतिष्ठन्ते ‡ । उपस्थानप्रकार
 माह— “देहि न इति ॥ १, २ ॥

यस्मादेव मन्त्र्युपस्थानात् पशवो द्वैर्लब्धाः, तस्माद् यज-
 मानोऽपि तदुपस्थानं कुर्यादिति विधत्ते— “तस्मा इति । तस्मै

* ‘ऽस्माँश्च’— इति क, ‘ऽस्माँश्च’— इति घ, ‘ऽस्माँश्च’— इति ङ ।

† अत्रैव पुरस्तात् (२२० ३३० २, ३ क०) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ३. १२. १ ।

पशुप्राप्तिलक्षणां फलाय । ‘कम्’-इति वाक्यपूरणे * । अन्यत्
निगदसिद्धम् । “दत्तो ह्येवेति । य एवं साय मग्नी उपतिष्ठेतेव
तस्मै यजमानाय तावग्नी अभिमतं फलं प्रयच्छत इत्यर्थः । एव
मुपस्थानविधिः ॥ ३ ॥

(अथोपस्थानदोषपरी १) पूर्वपक्षी सिद्धान्तत्वेन प्रति-
पादयति— “अथ यस्मादिति । यस्मात् अन्युपस्थानं न कर्त-
व्यम्, तत्कारणं मुच्यते । देवाः खलु पुरा मनुष्यैः सार्धं मिह
लोके निवसन्तः तद्याचनेन पीडिताः सन्तस्तिरोभूताः, अतो-
ऽग्निरपि उपस्थानेन याच्यमानस्तिरो भवति, याचितफलस्या-
प्रदानेन नैव यजमानं ‘हिनसानि’, अत एव हेथोऽपि न भवा-
नीत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् नोपस्थेऽग्निरिति
पूर्वपक्षः ‡ ॥ ४ ॥

“अथ यस्मादित्यादि । यस्मात् कारणादन्युपस्थानं कर्तव्यम्,
तदुच्यते— ‘देवानां’ सम्बन्धी यो ‘यज्ञः’, स हि ‘यजमानस्य’
‘आशीः’ फलप्रार्थनरूपः ; ‘तत्’ तथा सति येषां मन्त्रिहोत्रा-
हुतिः ‘एष एव यज्ञः’ सैव यजमानस्याशीः । “तद्यदेवेत्यादि,
यजमानस्य यत्, तदाशीरूपं फलम् ; तदेवाग्निमन्त्रिहोत्रेऽग्निमुप-
तिष्ठमानः कुरुत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पुनरप्यनुपस्थानपक्षं प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति— “अथ
यस्मादित्यादिना । “यो वै ब्राह्मण मित्यादि । ब्राह्मणक्षत्रिययो-
रन्यतरं माशंसमानः फलाभिलाषी पुरुषः ‘अनुचरति’ अनु-

* ‘वाक्यप्रतिपूरणे’-इति च ।

† यद्योऽग्नौ बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. २ ।

वर्तते, तस्याभिप्राय माह— “अयं सं इति । यश्चैव मनुचरति पुरुषः, तं ब्राह्मणादिं ‘वाद्येन’ वदनीयेन स्तुतिशब्देन, ‘कर्मणा वा’ परिचरणलक्षणेन ‘अभिराधयिषति’ अभिराधयितुं सेवितुं मिच्छति, ‘तस्मै’ पुरुषायैव ‘सः’ ब्राह्मणादिः प्रभुः धनं ‘दियं’ दातव्यं ‘मन्यते’ । यस्त्वेवं निहुरं भाषते, सः ‘एनं’ ब्राह्मणादिं प्रभुं ‘हेष्टोः’ * विद्देषणं कर्त्तुं मीश्वरः समर्थः स्यात्, तथा ‘निर्वेदं’ मनस्तापं ‘गन्तोः’ † गन्तुं मीश्वरः स्यात् । निहुर-भाषणप्रकार माह— “किं न्विति । हे देवदत्त ! यस्त्वं मद्यां न ददासि, स त्वं मम किं चासि ? न किञ्चिदपि भवसि, त्वया किं प्रयोजन मित्यर्थः । एवं समन्वकहोमेनाग्नेराराधनं मेव कार्यम्, तदुपस्थानन्तु फलप्रार्थनरूपत्वेन निहुरभाषणवदपराध-हेतुरिति न कर्त्तव्य मित्याह— “एतदिति । होमसमिन्धनाभ्या मग्निं प्राप्य पुनरुपस्थानेनैव याचते, याचनं चायुक्तं मित्यनुपस्थान-पक्षो ज्यायानित्यर्थः ‡ ॥ ६ ॥

“अथ यस्मादित्यादि । लोके हि ‘यावत्’ पुरुषो ‘दातारं’ प्राप्नोति, स च ‘भर्त्ता’ पोषकः प्रभुः ‘भार्यं’ पोष्यं याचकं स्वतो ‘नानुबुध्यते’, ‘सः’ चैव याचकः एवम् ‘आह’ विज्ञापयति,— ‘हे स्वामिन् ! अहं ‘ते’ त्वया ‘भार्यः’ पोष्यः ‘अस्मि’, ‘मा’ मां

*, † “ईश्वरे तोमुनकमुनौ”— इति पा० सू० ३. ३. १३ ।

‡ उपस्थानानुपस्थानपक्षौ तैत्तिरीयेरपि विचार्योपस्थानं कर्त्तव्य मित्येव सिद्धान्तितम् । तथाहि— “उपस्थेयोऽभीर्गोपस्थेयाश्चत्वाहुर्मनुष्या येन्ये योऽहरहराहृत्यथैनं याचति स इत्येते तं सुपार्च्छत्यथ को देवानह-रहृत्याचिष्यतीति, तस्मान्नोपस्थेयोऽथो खत्वाहुराग्निं वै कं यजमानो यजत इत्येषा खजु वै आहितान्नेराशीर्वापि सुपतिष्ठते, तस्मादुपस्थेयः— इति तै० सं० १. ५. ६. ६. ७ ।

‘बिभृहि’ पोषय ‘इति’ । एवं विष्णुपनानन्तरं मेव ‘एनं’ याचकं पुरुषं ‘वेद’ जानाति । अनन्तरञ्च ‘एनं’ ‘भार्ये’ पोष्यं ‘मन्यते’ । तस्मात् ऋग्विधानरूपं स्वाभिभूतस्याम्बरपस्थानं न दोषाय किञ्चित् । ‘इदं मित्’ इदं मेव ‘समस्तं’ सम्पूर्णं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

यस्माच्चान्यस्मात् कारणात् अग्न्युपस्थानं मवश्यं कर्त्तव्यं तदुच्यते— “प्रजापतिर्वा इति । अग्निहोत्रहोमो हि रेतस्योक्तस्थानीयः, गर्भाशये निषिक्तस्य रेतसः हस्तापादादिमत्त्वेन यद् विशिष्टरूपकरणम्, तदग्न्युपस्थानसाध्यम्, अतोऽग्निं सुपतिष्ठमानो यजमानः सर्वं मिदं निषिक्तं विशिष्टरूपं कुर्वन् ‘अनुप्रजनयति’ अनुक्रमेणोत्पादयति । तस्मादवश्यं मग्न्युपस्थानं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्र, प्रथमाया ऋचो लिङ्गविशेषं सुपन्यस्य प्रशंसति— “स वा इति । ‘उपवत्या’ उपशब्दयुक्तया ऋचा † । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं वा उप’ योऽयं सुपेत्युपसर्गः, इयं भूमिरेव सः, ‘हयेन’ द्विप्रकारेण ‘इयं’ भूमिः उपशब्दवाच्या । तत्प्रकार-इयं दर्शयति— “यक्षीय मिति । ‘यत् किञ्च’ जायमानं, ‘तत्’ सर्वम् ‘अस्याम्’ ‘उपजायते’ । ‘तत्’ ‘न्युच्छति’ नितरां मार्त्तिं प्राप्नोति, ‘तत्’ अपि ‘अस्याम्’ एव ‘उपोष्यते’ निलीयते । अतो जायमान एव अहोरात्राभ्याम् ‘अस्य्यं भवति’ तत्सम्बद्धोपशब्द-

* एतद्वैवोपस्थानं वात्सप्रोपस्थानं सुच्यते । ‘उपप्रयन्तोऽध्वर मित्यत आरभ्य परि ते दूढम इत्यन्तं वात्सप्रोपस्थानम्’— इत्युक्तेः (या० ६०) । तच्च च वात्सप्रोपस्थानं विष्णोः दृष्टं स्तुतं वात्सप्रम्, तदीयर्चं एवास्योपस्थानस्य मन्त्रा इति वीजम् ।

† “उपप्रयन्तो अध्वरम्”— इत्येषा ऋक् उपवती । वा० सं ३. ११ ।

युक्तः प्रतिपद्यमानः चररहितेनैव भूम्ना 'प्रतिपद्यते' उपस्थानं प्रारभ्यत * इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अग्निषोपस्थानमन्त्रान् विधितुस्तावदुपवती मृचं विधाय प्रशंसति—“स आहेति । “अध्वरो वै यज्ञ इत्यादि, सुममम् । द्वितीयपाद मन्त्रे तत्र मन्त्रशब्दो वक्ष्यमाणमन्त्रपर इति व्याचष्टे—“मन्त्र मु ह्यस्मा इति । “आरे अस्मे चेति । अस्मच्छब्दात् पञ्चम्यर्थे शि-आदेश इति व्याचष्टे—“अस्मदारकादिति ॥ १० ॥

अथ द्वितीया मृच मन्त्र्युपस्थाने वक्तव्यत्वेन सिद्धवदनूद्य तात्पर्यं माह—“अग्निर्मूर्हेति † । “अन्वेव धावतीति । अनु-धावति अनुसृत्य ‡ प्रशंसतीति यावत् । एतत् सदृष्टान्तं सुप-पादयति—“तद्यथेति ॥ ११ ॥

“अथेन्द्राग्नीति । अग्निर्मूर्हेत्यनन्तरम् “उभा वाम्”—इतीन्द्राग्नीदेवताका ऋक् § अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्येत्यर्थः । अस्या मृचि 'इन्द्राग्नी'-शब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह—“एष वा इन्द्र इति ॥ १२ ॥

चतुर्थी मृचं पठित्वा स्तौति—“अयन्त इति ॥ । “पुष्ट' वा इति । यदत्र रयिशब्दवाच्यम्, तत् पुष्टिहेतुभूतं धनम् । “भूय एवेत्यादि, मन्त्रमत-‘वर्धय’-पदाभिप्रायकथनम् ॥ १३ ॥

अथ तस्मिन्नुपस्थाने पञ्चमी मृचं विधाय तात्पर्यं कथयति—“अय मिहेति ¶ । “विभू ह्येष इति । ‘विशे-विशे’ सर्वस्यै

* 'प्रारभत'— इति च ।

† वा० सं० ३. १२ ।

‡ 'अनुसरति'— इति च ।

§ वा० सं० ३. १३ ।

॥ वा० सं० ३. १४ ।

¶ वा० सं० ३. १५ ।

प्रजाये 'एषः' अग्निः 'विभूः' तदभीष्टप्रदाने समर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

षष्ठी मृचं विधाय प्रशंसति—“अस्येतिः । “परमा वा एषा इति । ‘सनीना’ दानानां मध्ये ‘यत्’ ‘सहस्रसनिः’ सहस्र रुक्माकस्य धनस्य दानम्, ‘एषा’ ‘परमा’ सर्वोत्कृष्टा सनिः ॥

एताश्च षडृचो मन्त्रकाण्डे एव व्याख्याता इति नात्र पुनर्व्याख्यायन्ते ॥ १५ ॥

अथैता ऋचः समूहीकृत्य प्रथमोत्तमयोर्लिङ्गविशेषोपजीवनेन स्तौति— “तदेतदिति । ‘समाहार्यम्’ एकैका मृचं प्रदेशान्तरे पठितां समाहृत्य समुदायीकृतं मेतत् ‘षडृचं’ सूक्तम् । ‘तस्य’ ‘प्रथमा’ ‘उपवती’, ‘उत्तमा’ तु ‘प्रव्रजती’ । तत्रोपवती भूम्या-
ल्लिकेत्येतत् प्रागेव ‘अवोचाम’, अतः परम् तत् प्रतिपाद्य मित्यर्थः । “अथाद एवेति । ‘अदः’ द्युलोक एव ‘प्रजम्’ । तस्य प्रव्रजब्दाभिधेयता ऽः मुपपादयति— “यावन्त इति । ‘सना’ इति निपातः पुरेत्यस्यार्थः । ‘यावन्त एव’ हि ‘अग्रे’ ‘सना’ सनातनाः ‘देवाः’, ‘तावन्त एव देवाः’ इदानीं मपि ; ‘तस्मात्’ तदाश्रयभूता द्यौः पुरातनवाचिना प्रव्रजब्देनोच्यत इत्यर्थः । “तदिमे एवेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ ‘अन्तरेण’ “अग्निर्मूर्द्धा”— इत्यादि-मन्त्रप्रतिपाद्याः ‘सर्वे कामाः’ अवस्थिताः । “ते अस्मा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ १६ ॥

* वा० सं० ३. १६ ।

† यजुर्वेदस्य वाजसनेय-काण्ड-मन्त्रकाण्डेन सायणाचार्येण व्याख्यातं मपि शतपथव्याख्यानादुत्तरम् ; तस्मादिह मन्त्रकाण्डं तैत्तिरीयस्य बोध्यम् तै० सं० १. ५. ५ व्रष्टव्यम् ।

‡ ‘प्रव्रजब्दनामधेयता’— इति च ।

प्रथमोत्तमयोस्त्रिजं पं विधाय प्रशंसति— “स वै त्रिः प्रथमां जपतीति । अस्य षड्वचस्य सूक्तस्य “उपप्रयन्त”-इतीयं प्रथमा, “अस्य प्रज्ञाम्”-इतीयं मुक्तमा ; उपस्थानकाले तयोस्त्रिजं पः कार्यः * । यतः ‘यज्ञाः’ ‘त्रिष्टुप्त्रायणाः’ त्रिष्टुप्त्रारम्भाः ; निर्वापप्रोक्षणसामिधेयनुवचनादिषु त्रिरावृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ १७ ॥

“तनूपा अग्नेऽसि”-इत्यादिमन्त्रे राहवनीयोपस्थानं विधितु-स्तत्रिवर्त्तुं दोष मुपन्यसति— “यज्ञ वा इति । अग्निहोत्र-होमं कुर्वन् ‘वाद्येन वा’ व्यवहारसाध्येन मन्त्रोच्चारणेन, शरीर-साध्येन ‘कर्म्मणा वा’, ‘यत्’ ‘मिथ्याकरोति’ अन्यथानुतिष्ठति, ‘तत्’ तेन ‘आत्मनः’ यजमानस्य ‘आयुषः’ जीवनस्य, ‘वर्चसः’ तेजसः, ‘प्रजायै’ प्रजायाश्च ‘अवद्यति’ खण्डयति । ‘वा’-शब्द-स्यार्थे ॥ १८ ॥

अथैतद्दोषपरिहाराय तदुचितमन्त्रकरणकोपस्थानं माह—
“तदु खल्विति † । तत् खलु दोषे सतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

“यज्ञ वा इत्याद्युक्तार्थम् ‡ । “तन्म इत्यादि । यदेतन्मिथ्या-करणेनायुरित्यादि खण्डितम्, हे अग्ने ! ‘तत्’ तच्च ‘पुनः’ ‘आप्यायय’ वर्धयेति “तन्म आ पुन”-इतिमन्त्रभागस्य व्याख्या-नम् ॥ २० ॥

“इत्थानास्त्वेत्यादि § । “शतं हिमाः”-इत्यस्य तात्पर्यं माह— “शतं वर्षाणीति । शतसंवत्सरजीवनवत्सो भूयास्मे-त्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्येतद् विशदीकृतम्— “शतं हिमा

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क, ख ।

† वा० सं० ३. १७ ।

‡ एतत्पूर्वपूर्वकणीयाख्या द्रष्टव्या ।

§ वा० सं० ३. १८. १ ।

इत्याह शतं त्वा हेमस्तानिन्विषीयेति वावेतदाहेति * । “द्युमन्त
मिति मन्त्रभागस्थार्थं माह— “तावत्त्वेति । ‘तावत्’ शत-
संवत्सरजीवनावधि, हे अग्ने ! त्वां ‘द्युमन्तं’ दीप्तिमन्तं ‘महान्तं’
‘समिधीमहि, सन्दीपयेमेत्यर्थः । “वयस्वन्तो वयस्कृत मित्यादि ।
वय इत्यञ्जनाम † । प्रभूताद्युक्ता भूत्वा वयसोऽन्नस्य कर्त्तार
त्वा मुपतिष्ठेमहि । एवं ‘सहस्वन्तः’—इत्यत्रापि योजना । उभ-
यत्र विशेषणद्वय मपि विधेयाभिप्राय मिति व्याचष्टे— “वयस्वन्तो
वय मिति । वयः अन्नं करोतीति वयस्कृत्, सहः शत्रूना मभि-
भवनं तदन्तः सहस्वन्तः, तादृशं सहः शत्रुविषयक मभिभवनं
करोतीति सहस्कृत् । “अग्ने सपन्नदम्भन मित्यादि । सपन्नो
दभ्यते हिंस्यतेऽनेनेति सपन्नदम्भनोऽग्निः । तथा च ‘त्वया’ ‘वयं’
‘सपन्नान्’ ‘पापीयसः’ अतिशयेन निष्कृष्टान् ‘क्रियासू’ करवामेति
विशेषेण तात्पर्यकथनम् ॥ २१ ॥

“चित्रावसो”—इत्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं ‡ विधत्ते— “चि-
त्रेति § । “रात्रिर्वा इत्यादि । ‘हि’ यस्मात् ‘सा इयं रात्रिः’
ग्रहनक्षत्रादीनि ‘चित्राणि’ ‘सङ्गृह्य इव वसति’, ‘तस्मात्’ ‘चित्रा-
वसुः’ रात्रेर्नामधेयम् । अत एव इदानीं मपि रात्रौ नभसि
‘तारका’-लक्षणं ‘चित्’ ‘दृष्टे’ दृश्यते ॥ २२ ॥

अस्य मन्त्रजपस्य प्रयोजनं वक्तुं पुराहृतं सुदाहरति— “एते-

* तै० सं० १. ५. ८. १४ । एतच्च ब्राह्मणम् “अग्ने सहपते”—इति तै०
सं० १. ५. ६. ११, मन्त्रपदव्याख्यानपरम्; “इत्यानात्वा शतं हिमाः”—इत्ये-
तन्मन्त्रव्याख्यानब्राह्मणे त्वान्नातम्— “शतं हिमा इत्याह शतायुः पुरुषः”—
इत्यादि । तै० सं० १. ५. ७. १४ ।

† निघ० २. ७. ७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ घ ।

§ मन्त्रस्तु वा० सं० ३. १८. २ ।

नेति । ‘एतेन’ “चित्रावसो”—इति मन्त्रेण ‘रात्रेः’ ‘पारम्’ अव-
सानं ‘स्वस्ति’ चेमेण ‘समश्रुवते’ सम्प्राप्नुवन् । तथा ‘एनान्’
ऋषीन् एतन्मन्त्रजपेनैव रात्रेः प्रीणनात् तत्सम्बन्धिनो राक्षसा-
दयो (‘न विन्दन्ति’) नाविन्दन्, नालभन्त इदानीन्तन-
स्यापि ॥

इमं मन्त्रं मन्त्र्युपस्थाने जपती यजमानस्य तत्फल माह—
“एतेनो एवेति । “एतावन्विति । “उपप्रयन्त”—इत्यारभ्य
“चित्रावसो”—इत्येतावत्पर्यन्तं माहवनीयस्य समीपे ‘तिष्ठन्’
जपेत्* ॥ २३ ॥

“अथासीन इति † । वक्ष्यमाणान् “सं त्व मन्त्रे”—इत्या-
दिकान् ‡ मन्त्रान् तत्रैवासीनो जपेदित्यर्थः । हे ‘अग्ने !’ त्वं
‘सूर्यस्य’ ‘वर्चसा’ तेजसा ‘समगथाः’ सङ्गतवानसि ‘इति’ प्रती-
यमानं मिमं मन्त्रार्थं सुपपादयति— “तद् यदस्तं यन्निति ।
‘अस्तं यन्’ अस्तं गच्छन्नित्यर्थः । सूर्यस्य रात्रावाहवनीयप्रवेशः
“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इति होममन्त्रार्थकथनप्रस्तावे
प्रतिपादितः § । “समृषीणा मित्यादि । ‘ऋषीणां’
सम्बन्धि यत् ‘सुतं’ स्तोत्रं तेन सङ्गतवानसीति मन्त्र-
वाक्यार्थः ।

एतर्हि प्रकृतान्युपस्थानाभिप्राय माह— “तद्वदिति ।
“आहुतयो वा अस्येति । ‘अस्य’ अग्नेः आज्यदधिचीरादिद्रव्य-
साध्याः ‘आहुतयो वा’ आहुतय एव ‘प्रियं धाम’ तज्ज्योतिर्मयं-

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क, ख, घ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. ४ ।

‡ वा० सं० ३. १६ ।

§ एतस्यैवाध्यायस्य द्वितीयब्राह्मणं तद्भाष्यञ्च द्रष्टव्यम् ।

शरीरम् । तथा चाहुतिभिरेव सङ्गतवानसीत्यर्थः । “समह
मायुषेत्यादि । हे अग्ने ! यथा त्वं मेतैरायुरादिभिः ‘सम-
गथाः’ सङ्गतवानसि । गमेर्लुङि “गातिस्था”-इति * चुर्लुक्,
“अनुदात्तोपदेश”-इत्यनुनासिकलोपः † । एवम् ‘अहम्’ अपि
एतैः सङ्गच्छेयेत्यर्थः । “यद् भूम्नेति, “रायस्योषेण”-इत्यस्य
व्याख्यानम् । ‘भूम्ना’ धनकनकादिबहुत्वेनेत्युक्ते यावानर्थो भवति,
रायस्योषेणेत्यनेन तावानर्थः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

“अथ गा मभ्येतीति ‡ । अग्निहोत्रहोमार्थस्य पयसो
दोग्ध्री या गौः, ताम् “अन्ध स्यान्धो वो भक्षीयम्”-इति मन्त्रेण §
अभिगच्छेदित्यर्थः । ‘अन्धः’-शब्दोऽन्वाची ॥, तेन च तज्जनितं
वीर्यं लक्ष्यत इति व्याचष्टे— “यानि वो वीर्याणीति । हे गावः !
यूयम् ‘अन्धः स्य’ क्षीरान्नरूपा भवथ, अतस्तदुपभोगजनितानि
‘वः’ युष्मत्सम्बन्धीनि ‘वीर्याणि’, ‘महाएंसि’ तेजांसि, ‘तानि’
‘भक्षीय’ सम्भजेयेत्यर्थः । “रस स्येति । “ऊर्जं बलप्राण-
नयोः”-इत्यस्मात् ¶ धातोर्निष्पन्न ‘ऊर्क्’-शब्दो बलकारं समाचष्ट
इत्यभिप्रायः । “भूमा स्येति । ‘रायस्योष’-शब्दस्य भूमार्थत्वं
प्रागान्नातम्— “रायस्योषेणिति यद् भूम्नेतीति ** ॥ २५ ॥

“देवती रमध्व मिति †† । “देवन्तो हीत्यादि । ‘देवन्तः’
रयिमन्तः, पुष्पपौत्राद्यभिष्टव्या धनयुक्ताः पशवो रयिमन्तः ।
‘रयिमन्तो बहुलम्’-इति ‡‡ सम्प्रसारणम् । “आत्मन एवेति ।

* पा० सू० २, ४, ७७ ।

† पा० सू० ६, ४, ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १२, ५ ।

§ वा० सं० ३, २० ।

॥ निघ० २, ७, १ ; निरु० ५, ३, १ ।

¶ चु० प० १५ धा० ।

** एतत्पूर्वकण्डिकायाम् (१५८ पृ०) ।

†† वा० सं० ३, २१ ।

‡‡ पा० ६, १, ३७ सू० ५ वा० ।

अस्मिन्निति मन्त्रगतेदंशब्देन सन्निहितवाचिना स्वसम्बद्धगृह-
गोष्ठानि विशेषेण आत्मनः एव स्वस्येव एतत् फल माशास्यत
इत्यर्थः । हे गावः ! यूयम् 'इहैव' मदीये गोष्ठादौ 'स्तु' भवत,
'मापगात' मा अपगच्छतेति मन्त्रभागस्यार्थः । तत्रापगमना-
वधेरनुपादनात् त सुपन्त्यस्य योजयति— "मदेवेति । मत्तका-
शादेव मापगतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समन्त्रकं गोस्पर्शनं विधाय प्रशंसति— "अथ गा मिति * ।
'विश्वानि' सर्वाणि, शुक्लकृष्णादीनि रूपाणि यस्याः, सा 'विश्व-
रूपीति' व्यक्तिमभिप्रेत्य व्याचष्टे— "विश्वरूपा इव हीति ॥ २७ ॥

एव माहवनीयस्य समन्त्रक सुपस्यानं सप्रपञ्चं † विधाय,
गार्हपत्यस्य ‡ तद् विधत्ते— "अथ गार्हपत्य मभ्यैतीति § ।
"नम एवास्मा इति । "नमो भरन्तः"—इति नमस्कारस्य
सम्पाद्यत्वावगमात् अतिक्रमजनितापराधनिवृत्तयेऽस्मै गार्हपत्याय
नमस्कारमेव करोतीत्यर्थः । इतरथा हि प्रथमाम्निं गार्ह-
पत्य मतिक्रम्य आहवनीयस्योपस्थानकरणात् स गार्हपत्यः क्रुद्धः
सन् 'यथैनं न हिंस्यात्, तथा नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं प्रथमाया ऋचस्तात्पर्यं मभिधाय द्वितीया मृचं पठित्वा
तात्पर्यविशेषमाह— "राजन्त मध्वराणा मिति ¶ । "स्वं वा
इत्यादि । दम इति गृहनाम ** । यन्मदीयं गृहं हे अग्ने !
'ते' तव स्वभूतम्, अतस्तथाविधं गृहं 'नः' अस्माकं पुनः-पुनः

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ६ । मन्त्रस्तु वा० सं० ३. २२. १ ।

† 'सप्रपञ्चं' इति च ।

‡ 'गार्हपत्ये'—इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. ७ ।

॥ वा० सं० ३. २२. १ ।

¶ वा० सं० ३. २३ ।

** निघ० ३. ४. १२ ।

कुर्विति “स्वे दमे”—इति मन्त्रपदयोर्विवक्षितोऽर्थः इति भावः ॥ २८ ॥

“स नः पितेवेति * । गार्हपत्योपस्थाने द्वितीया । तत्र “पितेव सूनवे”—इति दृष्टान्तसिद्ध मर्थं निष्कृष्यानुवदति—“यथा पितेति । ‘सूपचरः’ सुष्ठु उपचरितुं नमस्कारादिभिरुपचारैः पुत्रस्य सेवितुं योग्य एव भवति । स च पुत्रः ‘एनं’ पितरं केनचिदपि साधनेन ‘नेव’ ‘हिनस्ति’ बाधते । एवं गार्हपत्याने ! त्वं ‘नः’ अस्माकं ‘सूपचरः एधि’ सुष्ठूपचरितुं योग्यो भव ; वयमपि त्वां केनचिदपि साधनेन ‘मैव हिंसिस्व’, इति योजना ॥

एते चोप त्वान्ने इत्यादिका मन्त्राः, वक्ष्यमाणास्थाने त्वमित्यादिकाः, सर्व एव संहितायां व्याख्यातत्वात् अन्यविस्तरभयादत्र पुनर्न व्याख्यायन्ते † ॥ ३० ॥

अथ चतसृभिर्द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थान माह—“अथ द्विपदा इत्यादि । ‘अथ’ “उप त्वान्ने”—इत्यादि-गायत्रीणाः ‡ मनन्तरं गार्हपत्योपस्थाने ‘द्विपदाः’ प्रयोक्तव्याः । तत्र, “अन्ने त्वम्”—इति § प्रथमा, “वसुरग्निः”—इति ॥ द्वितीया, “तं त्वा शोचिष्ठ”—इति ¶ द्वितीया, “स नो बोधि”—इति ** चतुर्थी ॥ ३१ ॥

द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थानस्य पुरुषप्राप्तिहेतुतां वक्तु माह-वनीयोपस्थानस्य पशुप्राप्तिहेतुता माह—“यदा आहवनीयमिति । “उच्चावचैरिति । न्यूनाधिकपरिमाणयुक्तैः “उप

* वा० सं० ३. २४ ।

† इहास्मद्वक्तव्यं मुक्तं पुरस्तात् ; १६८ पृ० ‘†’ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० ३. २२, २३, २४ ।

§, ॥, ¶, ** वा० सं० ३. २५, १, २ ; २६, १, २ ।

प्रयन्त”-इत्यादिमन्त्रैर्गायत्रादिच्छन्दोभिरित्यर्थः । “अथ यद् गार्हपत्य मित्यादि । “उप त्वाम्ने”-इत्यादिभिः ‘यद्’ ‘गार्ह-
पत्यम्’ उपतिष्ठते, तेनोपस्थानेन ‘पुरुषान्’ पुत्रपौत्रादीनेव
‘याचते’ प्रार्थत इत्यर्थः । तच्च पुरुषप्रार्थनं द्विपदाभिरेवेति वक्तुं
मुप त्वाम्ने इति गायत्र्यष्टकस्य प्रयोजन माह— ‘गायत्रं वा अग्ने-
च्छन्द इति । प्रजापतिमुखात् सहोत्पन्नत्वादित्यर्थः * । ‘उप-
परैति’ उपप्राप्नोति ॥ ३२ ॥

“अथ द्विपदा इति । “पुरुषच्छन्दसं वा इति । पुरुषवत्-
पादद्वयोपेतत्वात् ‘द्विपदाः पुरुषच्छन्दसम्’ पुरुषसमानाकृतिकं
छन्दः । छन्दश्छन्दादकारः समासान्तः † । “पशुमान् ह वै
पुरुषवानिति आहवनीय-गार्हपत्योपस्थानयोः समुच्चित्य प्रशंसा ;
गार्हपत्योपस्थानस्यापि पुरुषवत्पादद्वयोपेतत्वात् ॥ ३३ ॥

गोसमीपगमनं तदुपस्पर्शनञ्च समन्त्रकं विधत्ते— “अथ गा
मभ्येतीति ‡ । “इड एहीति § । इडादिति शब्दो गोनाम-
त्वेन प्रसिद्धावित्यर्थः । “कामाः प्रविष्टा इति । ‘मनुष्याणां’
क्षीरदध्यादिविषयाः ‘कामाः’, ‘हि’ यस्मात् ‘एतासु’ गोषु
‘प्रविष्टाः’, ‘तस्मात्’ एताः कामनाविषयत्वात् ‘काम्याः’
इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

“अथान्तरेणेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३५ ॥

सोमान मित्यस्य षट्स्य च प्रयोजन माह— ‘यदा इति ।
आहवनीयगार्हपत्योपस्थानाभ्यां द्यावापृथिव्योरुपस्थानं कृतं

* तै० सं० ७. १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

† “अनसन्ताम्रपुंसकाच्छन्दसि”— इति पा० सू० ५. ४. १०३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. ८, ९ ।

§ वा० सं० ३. २७. १, २ ।

भवति । अनेन सोमान मिति त्वचस्य * जपेन द्यावापृथिव्योः
मध्यवर्त्तिनोऽन्तरिक्षस्योपस्थानं कृतं भवतीत्यर्थः † । तस्य देवता-
विशेषसम्बन्धं प्रशंसति— “एषा हीति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वसन्-
माना येय मूर्द्धा ‘दिक्’, ‘एषा’ ‘बृहस्पतिः’ स्वभूता । अतएव तैत्ति-
रीयके समान्नातम्— “ऊर्द्धा दिग् बृहस्पतिर्देवता”—इति ‡ ।
नन्वेतत् त्वचं ब्राह्मणस्यत्यम्, कथं बार्हस्पत्यम् ? इति ।
नैष दोषः ; तयोर्भेदाभावात् । अत एव दाशतय्यां ‘गणानां
त्वा’—इत्यादिषु ब्राह्मणस्यत्यसूक्तेषु § तत्र बृहस्पतिः स्तूयते ॥ ३६ ॥

“महितीणा मित्यादि ॥ । एतदपि सूक्त मन्तरानी तिष्ठन्
जपेदित्यनुपङ्गेण वाक्यमभातिः । अस्य त्वचस्य प्रयोजनमाह—
“तत्राप्तीति । ‘तत्र’ तस्मिंस्तृचे ‘न अध्वसु वारणेषु’—इति
‘अस्ति’, तस्याभिप्रायो वर्ण्यत इति शेषः । “एते ह वा इत्यादि ।
द्यावापृथिव्योर्मध्ये ‘य इमे’ ‘अध्वानः’ वितताः, ‘एते’ खलु पुरुषस्य
फलप्राप्तिवारणाय भवन्ति, अतो द्यावापृथिवीसंस्तुतयोर्गार्हपत्याह-
वनीययोर्मध्ये स्थित्वा इमं त्वचं जपन् ‘एतान्’ एव मार्गान् ‘उप-
तिष्ठते’ इत्यर्थः । एव मध्वना सुपस्थितत्वात् तं वारयितुं न
कोऽपि ईश्वर इति “नाध्वसु वारणेषु”—इति मन्त्रपाद-
स्यार्थः ¶ ॥ ३७ ॥

“अथैन्द्रीत्यादि । ‘ऐन्द्री’ इन्द्रदेवताका “कदाचनस्वरी-

* वा० सं० ३, २८, २९, ३० ।

† “सोमान मित्यनुदकं व्रतोपायनवत्”—इति का० श्रौ० सू० ४, १२, १० ।

‡ तै० ब्रा० ३, ११, ५, ६ ।

§ ऋ० सं० २, २३, १ ।

॥ वा० सं० ३, ३१, ३२, ३३ ।

¶ वा० सं० ३, ३२, २ पा० ।

रसि”—इत्यादिका * अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्या । तथा च तदग्न्यु-
पस्थानं मिन्द्रसहितं सत् यज्ञात्मना निष्पद्यत इत्यर्थः । तत्र
पूर्वार्धे मनूय तात्पर्यं माह— “कदाचनेति । “यजमानो वै
दाश्वानिति । “दाश्व दाने”—इत्यस्मात् † “दाश्वान् साह्वान्”—
इति ‡ निपातनात् हविषां दाता यजमानो दाश्वानित्युच्यते ।
तथा च ‘दाश्वे’ यजमानाय कदाचिदपि ‘सूरीः’ हिंसकः ‘न
असि’ न द्रुह्यसीति तात्पर्यार्थकथनम् । उत्तरार्धे व्याचष्टे—
“उपोपेदिति । हे ‘मघवन् !’ अस्मभ्यं दीयमानं त्वदीयं धनं
‘भूयो भूय एव’ ‘उपपृच्छते’ समीपं प्राप्नोति ; तदिदं माम्नातम्—
“भूयो भूय एवेति ॥ ३८ ॥

अथ सवितृदेवताका सृचं विधाय प्रशंसति— “अथ सावि-
त्रीति । का पुनरसौ सावित्री ? इति, ता माह— “तत्सवितु-
रिति § ॥ ३९ ॥

अग्निदेवताका सृचं विधत्ते— “अथान्नेयीति । ‘परि
ददाति’ परिदानं रक्षणार्थं दानम् । तादर्थ्यं मेव विव्रियते—
“गुह्या इति । “यजमाना वा इत्यादि । धर्षितुं मशक्यः,
परिपृष्ट्यो यो रथो विद्यते, ‘तेन’ रथेन ‘एव’ अग्निः ‘यजमानान्
अभिरक्षति’ ॥

एव मग्नेः स्वभावमभिधाय मन्त्रे योजयति—“स य इति । हे
अग्ने ‘सः’ प्रसिद्धः ‘यः’ ‘रथः’ ‘ते’ त्वदीयः, शत्रुभिरपृष्ट्यो विद्यते,
‘येन’ च ‘यजमानान्’ ‘अभितः’ सर्वतः ‘रक्षसि’, ‘तेन’ ‘रथेन’ ‘नः’
अस्मान् ‘अभिगोपाय’ इत्यर्थः ॥ ।

* वा० सं० ३, ३४ ।

† आ० उ० ८८२ घा० ।

‡ पा० सू० ६, १, १२ ।

§ वा० सं० ३, ३५ ।

॥ वा० सं० ३, ३६ ।

अस्या ऋचस्त्रिजपं विधत्ते— “त्रिरेतदिति ॥ ४० ॥

दर्शपूर्णमासयोरिवात्रापि पुत्रनामग्रहणं विधत्ते— “अथ पुत्रस्येति * । ‘अयं’ मदीयः ‘पुत्रः’ ‘इहं’ यज्जानुष्ठान-
लक्षणं ‘वीर्यम्’ ‘अनुसन्तनवत्’ अनुक्रमेण सन्तनुयात्, सन्तत
मनवच्छिन्नं कुर्यात्, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण नामग्रहणम् । पुत्रा-
भावे तु यजमानः स्वस्यैव ‘नाम’ ‘गृह्णीयात्’ † ॥ ४१ ॥ २ [३.४.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थान्चतुरो देयाद् विश्वातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,

सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।

रत्नोत्सां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,

व्यश्राणीदिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

* “पौर्णमासवत् पुत्रनामग्रहणम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. १२. ११ ।
“पौर्णमासवत् ततोऽसीत्यादि (३. ८. २५ सू०) । पुत्रस्य नाम गृह्णाति,
पुत्रयोः पुत्राणां वा । प्रियतमस्येति लौगाक्षिः; ष्येष्टपुत्रस्य ‘नामाभि-
याहृत्य यावन्तो वा भवन्ति’—इति शाङ्खायनः (२. १२. ११.)”— इति तत्र
वृत्तिर्याज्ञिकदेवस्य ।

† प्रथमे काण्डे सप्तमप्रपाठकौय मेकविंशं ब्राह्मणं (१ भा० ६२२८०),
हरिखामित्रत तद्वाच्यं (६३३८० ४ पं), तत्र तत्सदीयटीप्यन्यच्च मत्कृताः,
सर्व एवैते ग्रन्था इह समालोच्यः ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।
 प्राज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्थः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 द्वितीयकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

— — —

(अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्.)

अथ हुतेऽग्निहोत्रेऽउपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति
तत्स्थित्येनैवैतद्वाचं समर्द्धयति यदाह भूर्भुवः स्वरिति
तथा समृद्धयाशिष माशास्ते सुप्रजाः प्रजाभि ह्या
मिति तत् प्रजा माशास्ते सुवीरो व्वीरैरिति तद्
वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत् पुष्टि माशास्ते
॥ १ ॥

यदाऽअदो दीर्घं मग्न्युपस्थानम् । आशीरेव
साशीरियं तदेतावतैवैतत् सर्व्व माप्नोति तस्मादेते-
नैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव व्ययमुपचराम इति ह स्माह्वा-
सुरिः ॥ २ ॥

अथ प्रवक्ष्यन् * । गार्हपत्य मेवाग्रोऽउपतिष्ठते-
ऽथाहवनीयम् † ॥ ३ ॥

स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नृय्यं प्रजां मे पाहीति
प्रजाया ह्येष ईष्टे तत् प्रजा मेवास्मा एतत् परि-
ददाति गुप्तैः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयमुपतिष्ठते । शुण्यं पशून् मे

* 'त्थान्'— इति घ ।

† 'यस्'— इति घ, ङ ।

पाहीति पशूनां ह्येष ईष्टे तत् पशुनेवास्मा ऽएतत्
परिददाति गुप्तैः ॥ ५ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र
व्वेलां मन्यते तत् स्यन्वा * व्वाचं व्वि व्रजते, य प्रोष्य
परेष्य यत्र व्वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि
राजान्तरेण स्यान्नैव त मुपेयात् ॥ ६ ॥

स आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते । अथ गार्ह-
पत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वे-
वैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

स आहवनीय मुपतिष्ठते । आगन्तु विश्व-
वेदस मस्रभ्यं व्वसुवित्तमम् । अग्ने सस्माडभि
द्युम्न मभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यप-
लुम्पति ॥ ८ ॥

अथ गार्हपत्य मुपतिष्ठते । अय मग्निर्गृहपति-
गार्हपत्यः प्रजाया व्वसुवित्तमः । अग्ने गृहपते-
ऽभि द्युम्न मभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणा-
न्यपलुम्पत्येतन्नु जुपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोप-
तिष्ठन्ते ॥ ९ ॥

स वै खलु तूष्णीं मेधीपतिष्ठेत् । इदं वै
यस्मिन् वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान् मनुष्यो
न्वेव तु मेव नार्हति व्यक्तुं मिदं मे त्वं गोपाय प्राहुं
व्वत्स्थामीत्यथास्मिन्नेते श्रेयांसो व्वसन्ति देवा
अग्नयः कु उ तानर्हति व्यक्तुं मिदं मे यूयं गोपायत
प्राहुं व्वत्स्थामीति ॥ १० ॥

मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । सु व्वेद
गार्हपत्यः परिदुं मेद मुपागादिति तूष्णीं मेवाह-
वनीय मुपतिष्ठते सु व्वेदाहवनीयः परिदुं मेद मुपा-
गादिति * ॥ ११ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र
व्वेलां मन्यते तत् सन्त्वा† व्वाचं व्विद्वजतेऽथ प्रोष्य
परिद्व्य यत्र व्वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि
राजान्तरेण स्यान्नैव त मुपेयात् ॥ १२ ॥

स आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते । अथ गार्ह-
पत्यं तूष्णीं मेवाहवनीय मुपतिष्ठते तूष्णीं मुपविश्य

* 'दिति'— इति ग, 'दिति'— इति घ, ङ ।

† 'स्यन्त्वा'— इति क, ग ; डा०-वेबर इत्यत्र ।

तृणान्यपलुम्पति तूष्णीं मेव गार्हपत्यं मुपतिष्ठते
तूष्णीं मुपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥ १३ ॥

अथातो गृहाणा मेवोपचारः । एतद्ध वै गृह-
पतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्तस्ता इव भवन्ति
किं मयि मिह वृद्धिर्दृश्यति किं वा करिष्यतीति स
यो ह तत्र किञ्चिद्ददति वा करोति वा तस्माद्
गृहाः प्रुत्तसन्ति तस्येश्वरः कुलं विव्रोब्धोरथ यो ह
तत्र न वृद्धति न किञ्चन करोति तं गृहा उपसृ-
श्यन्ते न वा ऽथय मिहावादीन् किञ्चनाकरदिति
स यदिहापि मुक्रुद्ध इव स्याच्छृ एव तत्तत्सुत् कुर्याद्
यद् वृद्धिं न्वा करिष्यन्वा स्यादेष उ गृहाणा मुप-
चारः ॥ १४ ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥ ४ ॥

एव मन्निहोत्रहोमोपस्थानं विधाय लघूपस्थानमन्त्रानपि
दर्शयति— “अथ हुत इति । अग्निहोत्रहोमानन्तरं “भूर्भुवः

स्वः, सुप्रजाः”-‘इति’ * अनेनैव मन्त्रेण आहवनीयम् ‘उप-
तिष्ठते’ † । पूर्वेक्तादुपस्थानमन्त्रजातादस्य ‡ मन्त्रस्यातिशय्य
माह— “तत् सत्येनेति । सत्यरूपा ह्येता व्याहृतयः ; त्रयी-
सारत्वात् । तथा चान्नातम्— “भूरित्यृग्वेदाद्, भुव इति
यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्”—इति § । एवं व्याहृति-
रूपेण ॥ ‘सत्येनेव’ इमां मन्त्ररूपां ‘वाचं’ ‘समर्हयति’ । ‘तथा’
च ‘समृद्धया’ वाचा प्रागुक्तां सर्वा मपि ‘आशिषम्’ ‘आशास्ते’
प्रार्थयत इत्यर्थः । तदश्वसनप्रकारं दर्शयति— “सुप्रजा इति ।
‘प्रजाभिः’ पुत्रपौत्रादिरूपाभिः ‘सुप्रजाः’ शोभनप्रजोपेतः
‘स्याम्’ । एकः प्रजाशब्दोऽनुवादः । एवं “सुवीरो वीरैरिति ।
वीर्यवतः पुत्राः वीराः ; तेषां प्रजाशब्देन परिगृहीतत्वेऽपि
पुनः प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगाश्वसन मिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

प्रागुक्तोपस्थानेनास्य समानकार्यकरणत्वात् विकल्प माह—
“यदिति । ‘अदः’ पूर्वेक्तं ‘दीर्घं’ बहुकर्तव्योपेतं बन्धुमन्त्र-
साध्यं यदनुपस्थानम्, तत् ¶ ‘आशीः’ फलप्रार्थनम् ‘एव’ । तथा
‘भूर्भुवः स्वः’-इतिमन्त्रसाध्यं सुपस्थानं मपि ** तादृगाशीर्युक्तम् ।
‘तत्’ ततः ‘एतावतेव उपस्थानेन ‘एतत्’ प्रागुक्तं ‘सर्वं’ फलम्
‘आप्नोति’ । अस्मिन्नुपस्थाने ऋषिवचनं संवादयति— “एतेन
त्वेवेति । ‘एतेनैव’ लघूपस्थानेनैव ‘वयम्’ अग्निम् ‘उपचरामः’
‘इति’ । यस्मादेवम् ‘आसुरिः’ महर्षिः ‘आह स्म’ उक्तवान् ,

* वा० सं० ३. ३७. १ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १२ ।

‡ ‘मन्त्रगणादस्य’— इति च ।

§ ऐ० ब्रा० ५. ५. ७ ।

॥ व्याहृत्याहृतिरूपेण— इति ड ।

¶ ‘सा’— इति च ।

** ‘मिति’— इति च ।

‘तस्मात्’ इदं मेवोपस्थानं कर्तव्यं मित्यर्थः । अत एव सूत्रात्—
“मूर्ध्वः स्वरिति वोभौ”—इति * ॥ २ ॥

अथ प्रवासं करिष्यता यजमानेन कर्तव्यं सुपस्थानं दर्शयति— “अथ प्रवक्ष्यन्निति † । ‘प्रवक्ष्यन्’ प्रवासं करिष्यन् विहितं गार्हपत्याहवनीयोपस्थाने ॥ ३ ॥

तत्र गार्हपत्योपस्थानं मनूय मन्त्रं विधत्ते— “स गार्हपत्यमिति ‡ । मन्त्रस्य तात्पर्यं माह— “प्रजाया इति । एष हि गार्हपत्यः ‘प्रजाया ईष्टे’ ; कृत्स्नाग्नियोनिभूतत्वात् । अतः ‘अस्मै’ गार्हपत्याय प्रजाया रक्षणार्थं परिदानं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रवक्ष्यतो यदाहवनीयोपस्थानं विहितम्, तदनूय मन्त्रं विधत्ते— “अथाहवनीयमिति § । “पशूनां हेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ५ ॥

“अथ प्र वा व्रजतीति ॥ । एवं गार्हपत्याहवनीययोः समन्त्रकं सुपस्थानं कृत्वा, वाहनरहितेष्वेव स्वयं ‘प्रव्रजति’ गच्छति ; वाहनसहितेष्वेव अश्वरथादीन् ‘धावयति’ प्रगमयति । ‘स’ च गच्छन् ‘यत्र’ यस्मिन् देशे ‘वैलां’ स्वनिवासग्राममर्यादां ‘मन्यते’, तत्स्थानप्राप्तिपर्यन्तं वाचंयमो गत्वा, तदनन्तरं ‘वाचं विस्मृजेत्’ ; न तु ततः प्रागित्यर्थः ¶ ।

* का० श्रौ० सू० ४. १२. १२ । ‘समिदाधानानन्तरं पूर्वं माहवनीयं ततो गार्हपत्यम्’—इति तत्र या० दे० ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १३ ।

‡ वा० सं० ३. ३७. २ ।

§ वा० सं० ३. ३०. ३ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १२. १४ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १२. १५ ।

पुनरागमनसमयेऽपि तत्स्थान भृति अग्निसमीपगमन-
पर्यन्तं वाग्यमनं विधत्ते— “अथ प्रोष्येति † । ‘प्रोष्य’ प्रवासं कृत्वा
पुनरागत्य यत्र ग्राममर्यादां मन्वते, तत्र वार्चयामो भवेत् । एवं
वाग्यतस्य यजमानस्य अग्न्यागारस्य च मध्ये यदि राजा आगच्छेत्,
‘तम्’ अग्निं नैव ‘उपेशात्’ उपगच्छेत् । वाग्यमनानन्तरं राजादि-
पूज्यजनसन्निधानेऽपि तदनादरेण अग्निगतमनस्क एव तत्समीपं
गच्छेदित्यर्थः ‡ ।

तदेतद् विसृष्ट मापस्तम्बेन सूत्रितम्— “आरादग्निभ्यो वार्चं
यच्छति, यद्येनं राजा पिताचार्यौ वान्तरेणामीन् स्याच्छदिर्दग्धेनैनं
माद्रियेत”— इति § ॥ ६ ॥

प्रवक्ष्यमुपस्थानवैपरीत्य मागतोपस्थानस्य विधत्ते— “स
इति । आहवनीयस्यैव प्रथमं मुपस्थानं पश्चात् गार्हपत्यस्ये-
त्यर्थः § । गार्हपत्योपस्थानस्य पश्चाद्गार्हपत्यं प्रतिपादयति— “गृहा
वा इति । सर्वाग्नीनां योनित्वात् गृहपतिना संयुक्तत्वाच्च गार्ह-
पत्यस्य गृहशब्दाभिधेयत्वम् ॥ ७ ॥

‘तत्र प्रथमकर्तव्यं माहवनीयोपस्थानं समन्वयकं दर्शयति—
“स आहवनीय इति । मन्त्रस्य ॥ चायं मर्थः ।— हे ‘सम्नाट्’
सम्यग्नाजमान ! ‘अग्ने !’ ‘विश्ववेदसं’ सर्वधनोपेतम्, ‘अस्माभ्यं’
अस्मादर्थं ‘वसुवित्तमं’ वसुनः धनस्य लभयित्वतमं त्वाम् ‘अगन्तं’

* का० श्रौ० सू० ४. १२. १७ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १८ क ।

‡ आप० श्रौ० सू० ६. २५. ५, ६ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. १८ ख ।

॥ वा० सं ३. ३८. १ ।

अगमाम् । त्वं च 'द्युम्नं' धनं, 'सहः' पराभिभवहेतुभूतं बलं
च 'अभ्यायच्छस्त्र' अभिगमयेत्त्वर्थः ॥

समिदाधानं विधत्ते— "अथेति ॥ । उपस्थानानन्तर माह-
वनीयसमीपे उपविश्य 'दृष्टानि' दृष्टोपलक्षितानि समिदादीनि
'अपलुम्पति' प्रच्छिद्य तस्मिन्नग्नौ प्रक्षिपेत् । "लुप्ल छेदने ॥"—
इति धातुः ॥ ८ ॥

भागतस्य यजमानस्य गार्हपत्योपस्थानं समन्त्रकं विधत्ते—
"अथेति । मन्त्रार्थस्तु ॥,— 'गृहपतिः' गृहाणां पालयिता, गृह-
पतिना संयुक्तः 'अय मग्निः' अस्मदीयायाः प्रजायाः 'वसुवित्तमः'
वसुनो धनस्य लभयित्वतम इति । परोक्षकृतः पूर्वोर्द्ध्वः, उत्त-
रस्तु प्रत्यक्षकृतः । हे 'अग्ने गृहपते !' । "अभिद्युम्न मित्यादि
पूर्ववद् योज्यम् ॥ ८ ॥

इत्थं प्रवक्ष्यदुपस्थानं भागतोपस्थानं च समन्त्रकं विधाय, तयो-
रमन्त्रकपक्षं मप्याह— "स वा इति § । "इदं वा इत्यादि । इदं
खलु लोके दृश्यते,— ब्राह्मणादीना मन्यतमः 'श्रेयान्' श्रेष्ठः पुरुषो
'यस्मिन्' जने 'वसति', सः 'मनुष्यः' 'तं' श्रेयांसम् अनुसृत्य वर्त्त-
मानः, मदीयम् 'इदं' गृहादिकं 'त्वं गोपाय', 'अहं' प्रवासं
करिष्यामीति एवं नियोगतो 'वक्तुं' 'नार्हति' ; यथैवं लोके, तथा
'यस्मिन्' यजमाने 'एते श्रेयांसो वसन्ति' ; के पुनस्ते ? इति,
उच्यते— यजमाने निवसन्तस्ते श्रेयांसः 'अग्नयः' गार्हपत्याद्याः ;

* का० श्रौ० सू० ४. १२. १६ ।

† तु० उ० १५१ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ३६. १ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. २० ।

‘क उ’ नाम ‘तान्’ ‘इदं मे यूयं गोपायत’ इत्येवं नियोगेन ‘वक्तुं मर्हति’ । अतः प्रजां मे सस्यं मे पशून् मे पाहीत्येवं नियोगरूपतया मन्त्रो न प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

मन्त्रप्रयोगाभावेऽपि प्रजापालनादिविषया बुद्धिस्तेषां स्वयं मेव भवतीत्याह— “मनो ह वै देवा इति । ‘मनुष्यस्य’ ‘मनः’ यद्विषयं तत् सर्वं ‘देवाः’ स्वयं मेव सर्वतो ‘जानन्ति’; अतः ‘सः’ ‘गार्हपत्यः’ अपि यजमानस्य मनोगतं स्वयं मेव ‘वेद’ जानाति । किमिति, ‘परिदां’ परिदानं रक्षणम् उद्दिश्य ‘मा’ माम् ‘इदम्’ इदानीम् ‘उपागात्’ उपगतोऽयं यजमान ‘इति’ । यस्मादेवं जानाति, तस्मात् स गार्हपत्यस्तूष्णीं मेवोपस्येयः । आहवनीयोपस्थानस्यापि तूष्णीं कर्त्तव्यता माह— “तूष्णीं मेवाहवनीयमित्यादिना । योजना तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

एवं प्रवासादागतस्य यजमानस्याग्निविषयं कर्त्तव्यं सुपदिश्य गृहविषयं मपि तद् वक्तुं प्रतिजानीते— “अथात इति * । उपचरणं सुपाचारस्तु वक्ष्यत इति शेषः । “गृहा मा विभीतेति † मन्त्रेणोपस्थानं विधित्सुस्तेषां भयसम्भावना माह— “एतद् वा इति । ‘प्रोषुष.’ प्रवासं कृतवतो यजमानात् ‘गृहाः’ ‘समुद्रस्ता भीताः’ ‘इव’ ‘भवन्ति’ । भीतिकारणं माह— “किं मय मिति । ‘अयं’ यजमानोऽस्माद्विषयं ‘किं वदिष्यति?’ किं वा करिष्यति?’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तेषां भयशङ्का । “स यो ह्येत्यादि । ‘सः’ खलु यजमान आगत्य तत्र “गृहा मा विभीतेत्येतन्मन्त्रेण उपस्थानं विना किञ्चिद् वदन् कुर्वन् वा भवति,

* का० श्री० सू० ४. १२. २१ ।

† वा० सं० ३. ४१. १ ।

अस्मद्विषये क्रुद्ध एवासौ वर्त्तत इति । ‘तस्मात्’ यजमानाद्
‘गृहाः’ प्रवसन्ति’ प्रकर्षेणोद्दिजन्ते ।

असु ; गृहाणां त्रासे को दोष इत्यत आह— “तस्येश्वर इति ।
‘तस्य’ यजमानस्य ‘कुल’ वंशं ‘विश्वोऽधोः’ विनष्टं कर्त्तुम्
‘ईश्वरः’ । ईश्वर इति व्यत्ययेनैकवचनम् * । ईश्वराः, गृहाः
समर्था भवन्ति ।

“अथ यो हेत्यादि । यस्य गृहानुपगत्य किमपि न वदति,
न करोति च, मौनमेव केवलं भजते, “गृहा मा बिभीत”—इति
मन्त्रेणोपस्थानं वा करोति, ‘तं’ यजमानं गृहाः ‘उपसंश्रयन्ते’
उपगच्छन्ति । उपसंश्रयतां तेषां मभिप्राय आह— “न वा इति ।
‘न’ खल्वयं यजमानः ‘इह’ अस्मिन् समये ‘किम्’ अपि ‘न’ ‘अवा-
दीत्’, ‘किम्’ अपि च ‘न’ ‘अकरत्’ अकार्षीत् ; यदि अस्मदपराधः
स्यात्, तदा तद्विषयं वदिष्यति, यत् किञ्च करिष्यति च ; तस्मात्
अस्य यजमानस्य अस्मद्विषयः क्रोधो नास्तीत्यनेनाभिप्रायेण त
उपसंश्रयन्त इत्यर्थः ।

“स यदिहापीत्यादि । ‘इह’ अस्मिन् गृहविषये यद्यपि
‘सः’ आगतो यजमानोऽपराधश्रवणात् ‘क्रुद्धः’ ‘इव’ एव ‘स्यात्’,
‘ततः’ तस्मादागमनदिवसात् ‘श्रुः’ अनन्तरदिवसे ‘एव’ ‘तत्’
वक्तव्यं कर्त्तव्यं वोपचारनिवृत्तये प्रयुज्यते ; न त्वागमनदिवसे
इत्यर्थः ॥

तदुक्तं सूत्रज्ञता— “गृहा मा बिभीतेति (वा० सं० ३.४१.)
गृहानुपतिष्ठते †, क्षेमाय व इति (वा० सं० ३.४३. २.)

* पा० ३. १. ८५ सू० श्लो० वा० ।

† ‘गृहानुपति’— इति सुद्रितसूत्रग्रन्थपाठः ।

प्रविशति, न हिंस्यात् गृह्णान् कामः प्रवः”-इति * ॥ १४ ॥
३ [४. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्.)

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि
व्वि नो धेहि यथा जीवामेति ततो देवा यज्ञोपवी-
तिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्
यज्ञो व्योऽन्नं ममृतत्वं व जुर्वः सूर्यो वो ज्योति-
रिति * ॥ १ ॥

अथैनं पितुरः । प्राचीनावीतिनः सथं जान्वा-
च्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि-मासि व्योऽशनं स्वधा
वो मनोजवो वस्यन्द्रमा वो ज्योतिरिति † ॥ २ ॥

* “तस्मिन् गृहागमनदिवसे ‘गृह्यान्’ गृहे भवान् भार्यापुत्रभृत्यादीन्
अपराधे सर्वपि ‘न हिंस्यात्’ अनिष्टविरूपभाषणताडनादिना नोच्चाटयेत्”—
इति तत्र या० दे० ।

†, ‡ ‘रिति’— इति क, घ, ङ ।

अथैनं मनुष्याः । प्रावृता उपस्थं कृत्वोपा-
सीदंस्तानब्रवीत् सायम्प्रातर्ब्धिंश्च नं प्रजा वो मृत्यु-
र्ब्धिंश्चिर्ब्धिं ज्योतिरिति * ॥ ३ ॥

अथैनं पशुव उपासीदन् । तेभ्यः स्वेषु मेव
चकार यदैव यूयं कदा च लुभाध्वै यदि काले
यद्यनाकालेऽथैवाश्राथेति † तस्मादेते यदैव कदा च
लुभन्ते यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्रान्ति ॥ ४ ॥

अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसीदुरित्याहुः ।
तेभ्यस्तुमश्च मायां च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव
पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजा-
स्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्द्यदधात् ॥ ५ ॥

नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितरो न पशवो
मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां
मेदत्यशुभे मेदति ब्रिहृर्हृति हि न ह्ययनाय च न
भवत्यनृतं हि कृत्वा मेदति तस्मादु सायम्प्रातरा-
श्वेव स्नात् स यो हैवं ब्रिहान्त्सायम्प्रातराशी भवति
सर्वं हैवायुरेति यदु ह किञ्च व्वाचा व्याहरति तदु

* 'रिति'— इति क, घ, ङ ।

† 'ऽथैवाश्रीतेति'— इति सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।

हैव भवत्येतद्वि देवसत्त्वं गोपायति तद्वैतत्तेजो नाम
ब्राह्मणं य एतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम् ॥ ६ ॥

तद्वा ऽएतत् । मासि-माखेव पितृभ्यो ददतो
यदैवैष न पुरस्तान् पश्चाद्दृशेऽथैभ्यो ददात्येष वै
सोमो राजा देवाना मुत्रं युञ्जन्नुमाः सु एतां
रात्रिं क्षीयते तस्मिन् क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं
करोत्यथ यदक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्याद्देवेभ्यश्च
पितृभ्यश्च तस्माद्यदैवैष न पुरस्तान् पश्चाद्दृशे-
ऽथैभ्यो ददाति ॥ ७ ॥

स वा ऽअपराह्णे ददाति । पूर्वोहो वै
देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणा मपराह्णः पितॄणां
तस्मादपराह्णे ददाति ॥ ८ ॥

सु जघनेन गार्हपत्यम् * । प्राचोनावीती भूत्वा
दक्षिणासौ न एतं गृह्णाति स तुत एवोपोत्यायो-
त्तरेणान्वाहार्यपुचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्
फलीकरोति सकुटु क्षीव पुराञ्चः पितरस्तस्मात्
सकृत् फलीकरोति ॥ ९ ॥

तुं श्रपयति । तस्मिन्नुधिश्रित ऽआज्यं प्रत्यान-

Padumawati, Face. 1-4 @ 2/	Rs. 8 0
Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each...	1 14
Prāk ta-Paingalam, Fasc. 1-7 @ 1/ each	2 10
Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	1 14
Ditto (English) Part II, Fasc. 1	12
Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1	1 8
Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	7 8
Parācara, Institutes of (English)	0 12
Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/2/ each	2 4
*Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/ each Fasc.	12 6
Sāṁkhya Sūtra V. tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/	1 8
Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/2/ each	2 4
Śraddha Kriya Kaumudī, Fasc. 1-6	2 4
Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 1/2/	0 12
Suddhi Kaumudī, Fasc. 1-3	1 2
*Taittirīya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/ each	9 0
Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each	7 2
Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/2/	3 0
Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/ each	14 4
Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3	1 2
Trikāṇḍa-Māṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/	1 2
Upaniṣad-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/ each	3 0
Uvāsagadāsā, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/2/	4 8
Vallala Carita, Fasc. 1	0 6
Varṣa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/	2 4
*Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/ each	4 8
Vidhano Parigata, Fasc. 1-7	2 10
Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/2/ each	2 10
Vīḥat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6	2 4

Tibetan Series.

Pag-Sam Thi Sñh, Fasc. 1-4 @ 1/ each	4 0
Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	14 0
Rtogs brjod dpag khkharī Sñh (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	10 0

Arabic and Persian Series.

*Ālamgīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/ each	4 14
Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/2/	2 4
Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each	22 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each	29 12
Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each	37 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/ each	9 0
Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger	0 6
Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each	7 2
Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2	2 0
Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each	3 0
Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each	21 0
Farhang-i-Rashidi, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each	14 0
Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/2/ each	3 0
Futūh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/ each	3 6
Ditto of Āzādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each	1 8
Haft Āsmān, History of the Persian Masnawi. (Text) Fasc. 1	0 12
History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/2/ each	4 8
Iqbāl-nāmah-i-Jahāngiri, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each	1 2
Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/2/ each	38 4
Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6/ each	13 2
Maghāzī of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each	1 14

* The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 1/ each	Rs	5	10
Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes; Vol. III, Fasc. 1 @ 1/2/ each	...	12	0
Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each	...	7	2
Ma'āşir-i-Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/ each	...	2	4
Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1	...	0	6
Nigāmī's - Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 1/2/ each	...	1	8
Riyāzu-s-Salātin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each	...	1	14
Ditto (English) Fasc. 1-5	...	3	12
Tabaqāt-i-Nāşiri, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each	...	1	14
Ditto (English) Fasc. 1-14 @ 1/2/ each	...	10	8
Ditto Index	...	1	0
Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-din Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each	...	2	10
Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alit, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/2/ each	...	2	4
Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1/8/ each	...	3	0
Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1	...	0	12
Wis o Rāmīn, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each	...	1	14
Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 1/ each	...	6	6

ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each ... 20
 2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 1/ per No. ; and from 1870 to date @ 1/8/ per No.
 3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1845 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1895 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. 1, No. 1, 1905, @ 1-8 per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members. ... 3 0
 5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 4 0
 - A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., *J.A.S.B.*, 1878) ... 2 0
 - Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., *J.A.S.B.*, 1838) ... 4 0
 - Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., *J.A.S.B.*, 1875) ... 3 0
 6. Apis-ul-Musharrahin ... 3 0
 7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 8
 8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 32 0
 9. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 1/ each ... 2 0
 10. Jawāmlu-l-Fihm ir-riyyāzi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 4 0
 11. Khizānatu-l-Fihm ... 40 0
 12. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I-III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
 13. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
 14. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös ... 10 0
 15. Ditto Grammar ... 8 0
 16. Kacmīracabānu ta, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
 17. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
 18. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., Jl. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0

Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

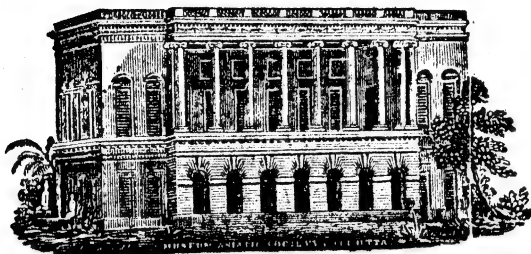
7-9-'05.

BOOKS ARE SUPPLIED BY V. P. P.

BIBLIOTHECA INDICA :
A
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1133.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMANA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS III.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,  
1905.

**LIST OF BOOKS FOR SALE**  
AT THE LIBRARY OF THE  
**ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,**

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,  
15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO  
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some  
of the Fasciculi being out of stock.*

**BIBLIOTHECA INDICA.**

*Sanskrit Series.*

|                                                                                                                  |     |     |     |     |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|
| Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6/ each                                                              | ... | Rs. | 1   | 8   |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                               | ... | ... | 0   | 12  |
| * Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/6/ each                                                                     | ... | ... | 4   | 2   |
| Āitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-5 @ 1/6/      | ... | ... | 7   | 8   |
| Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. 1                                                                         | ... | ... | 0   | 12  |
| Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6/ each                                                       | ... | ... | 2   | 4   |
| Acavavāidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each                                                                      | ... | ... | 1   | 14  |
| Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                           | ... | ... | 9   | 0   |
| Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                   | ... | ... | 0   | 12  |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/6/ each                                                                   | ... | ... | 1   | 2   |
| Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                  | ... | ... | 1   | 14  |
| Bṛhaddevatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6/ each                                                                        | ... | ... | 1   | 8   |
| Bṛhadharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6/ each                                                                  | ... | ... | 2   | 4   |
| Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3                                                                         | ... | ... | 1   | 2   |
| Çatadusani, Fasc. 1-2                                                                                            | ... | ... | 0   | 12  |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                        | ... | ... | 8   | 0   |
| Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7...                                         | ... | ... | 6   | 6   |
| Çatasahasrika prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ 1/6/ each                                              | ... | ... | 3   | 12  |
| * Çaturvarga Çintāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III, Part I, Fasc. 1-18                                           | ... | ... | 21  | 6   |
| Part II, Fasc. 1-10 @ 1/6/ each; Vol. IV, Fasc. 1-4                                                              | ... | ... | 3   | 12  |
| Çlokavartika, (English) Fasc. 1-5                                                                                | ... | ... | 4   | 8   |
| * Çrauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/6/ each                                                       | ... | ... | 6   | 0   |
| Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/6/ each; Vol. 4, Fasc. 1 | ... | ... | 1   | 2   |
| * Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6/ each                                                                      | ... | ... | 0   | 12  |
| Dan Kriya Kaumudī, Fasc. 1-2                                                                                     | ... | ... | 2   | 10  |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...                                                                 | ... | ... | 0   | 6   |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...                                                                              | ... | ... | 1   | 8   |
| Kāla Mādhava, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6/ each                                                                       | ... | ... | 2   | 4   |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                           | ... | ... | 4   | 8   |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each                                                                          | ... | ... | 10  | 8   |
| Kāthā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12/ each                                                            | ... | ... | 3   | 6   |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/6/ each                                                                       | ... | ... | 2   | 4   |
| Lalitā-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/6/ each                                                                  | ... | ... | 4   | 2   |
| Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/6/ each...                                                                | ... | ... | ... | ... |
| Mahā-bhāṣya-pradīpodyāta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ 1/6/ each               | ... | ... | 9   | 0   |
| Manuṣṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6/ each                                                                 | ... | ... | 1   | 2   |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12/ each                                                              | ... | ... | 6   | 12  |
| * Mīmāṃsā Darśana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/6/ each                                                                 | ... | ... | 4   | 14  |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6/ each                                                                       | ... | ... | 2   | 4   |
| * Nīruktā, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/6/ each                                                                 | ... | ... | 3   | 0   |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/6/                                                                        | ... | ... | 2   | 10  |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                      | ... | ... | 2   | 4   |
| Nyāyabinduṭīkā, (Text) ...                                                                                       | ... | ... | 0   | 10  |
| Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/6/ each                             | ... | ... | 3   | 6   |

यत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव  
पितॄणां तस्मादुधिश्रित ऽआज्यं प्रत्यानयति ॥ १० ॥

स उद्वास्याग्नौ वै ऽआहुती जुहोति देवेभ्यः ।  
देवान् वा ऽएष उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति  
यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत् पितृयज्ञेनेवा-  
चारीतदु देवेभ्यो निष्कृते स देवैः प्रमृतोऽथैतत्  
पितृभ्यो ददाति तस्मादुद्वास्याग्नौ वै ऽआहुती  
जुहोति देवेभ्यः ॥ ११ ॥

स वा ऽअग्नये च सोमाय च जुहोति । स  
यदग्नये जुहोति सर्व्वं च ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्  
सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वै सोमस्तस्मादग्नये च  
सोमाय च जुहोति ॥ १२ ॥

स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा  
सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्ष्ण मभ्यादधाति  
तत् स्विष्टकृद्भाजन मथ दक्षिणेनान्वाहार्य्यपचनं  
सकृदुल्लिखति तदेदिभाजनं सकृदु ह्येव पराञ्चः  
पितरस्तस्मात् सकृदुल्लिखति ॥ १३ ॥

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यदुनिधा-  
योल्मुक मथैतत् पितृभ्यो दद्यादसुररक्षसानि ह्येषा

मेतद्विमथ्नीरंस्तथो हैतत् पितॄणां मसुररक्षसानि न  
व्विमथ्नीते तस्मात् परस्तादुल्मुकं निदधाति ॥ १४ ॥

स निदधाति । ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना  
असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो  
ये भरन्त्यग्निष्टाल्लोकात् प्रणुदात्यस्मादित्यग्निर्हि  
रक्षसा मपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥ १५ ॥

अथोदपात् मादायावनेजयति । अमाववने-  
निक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितर ममाववनेनिक्ष्वेति  
पितामह ममाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथा-  
ऽऽशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ १६ ॥

अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति ।  
अग्र मिव वै देवानां मध्य मिव मनुष्याणां मूल  
मिव पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदा-  
च्छिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्  
सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ॥ १७ ॥

तानि दक्षिणोपसृणाति । तत्र ददाति स वा  
ऽङ्गति ददातोतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्यो-  
ऽयैवं पितॄणां तस्मादिति ददाति ॥ १८ ॥

सु ददाति । असावेतुत्त ऽदृत्येव युजमानस्य  
 पित्रे ये च त्वा मन्विष्यु हैक ऽआहुस्तुदु तथा न  
 ब्रूयात् स्वयं वै तेषां सह येषां सह तृष्णादु ब्रूया-  
 दसावेतुत्त ऽदृत्येव युजमानस्य पित्रेऽसावेतुत्त ऽदृति  
 पितामहायासावेतुत्त ऽदृति प्रपितामहाय तद्यदितः  
 पराग् ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥ १९ ॥

तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग  
 मावृषायध्व मिति यथाभाग मग्नीतेत्येवैतुदाह ॥ २० ॥

अथ पराङ् पर्यावर्त्तते । तिरु-इव वै पितरो  
 मनुष्येभ्यस्तिरु इवैतद् भवति स वा ऽआ तृमिती-  
 रासीतेत्याहुरेतावान् ह्यसुरिति \* स वै मुहूर्त्तं मेवा-  
 सित्वा † ॥ २१ ॥

अथोपपल्यय्य जपति । अमी मदन्त पितरो  
 यथाभाग मावृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्ये-  
 वैतुदाह ॥ २२ ॥

अथोदपात्र मादायावनेजयति । असाववने-  
 निक्षेत्येव युजमानस्य पितर मसाववनेनिक्षेति

\* 'वांसुरिति'— इति क ।

† 'त्वा'— इति घ, ङ ।

पितामहं मुसाववनेनिक्षेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषे-  
ऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ २३ ॥

अथ नीवि मुद्गृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या  
वै नीविस्तस्मान्नीवि मुद्गृह्य नमस्करोति यज्ञो वै नमो  
यज्ञियानेवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो नमस्करोति  
षड् वा ऽऋतुव ऋतुवः पितरस्तस्मात् षट् कृत्वो  
नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह  
पितर ईशत ऽण्षो ऽण्तुखाशीः कूर्मणोऽथावजिघ्रति  
प्रत्यवधाय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सकृदा-  
च्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुलमुक मुपि सृजति  
॥ २४ ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

अथामावास्यायां पिण्डपितृयज्ञस्य † मासि मासि कर्त्तव्यतां  
विधितुस्तदर्थं माध्यायिका माह— “प्रजापतिं वा इति । भवन्ति  
सङ्गावं प्रतिपद्यन्त इति ‘भूतानि’ । ‘प्रजाः’ देवपितृमनुष्याद्या  
वक्ष्यमाणाः । तासां मभिप्राय माह— “वि न इति । ‘नः’  
अस्मान् ‘वि देहि’ त्वा मित्यं कुरु — त्वा मित्यं कुरु इत्याज्ञापय ।

\* ‘तत्’— इति घ. ङ.

† ‘प्रथमं पौर्णमासं मनुविहितम्, अधुना दर्शस्यानुविधानं करिष्यन् ततः  
प्राक्कालीनं पिण्डपितृयज्ञं मनुविदधाति”— इति या० दे० (सू० ४. १. १.) ।



‘यथा’ येन प्रकारेण वयं ‘जीवाम’ जीवनवन्तो भवेम ‘इति’ अने-  
नाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

“ततो देश इत्यादि । प्रजापतिरूपासनहेतुत्वेनोपसदनसमये  
देवादिभिर्यद्यल्लिङ्गं धृतम्, तत्तल्लिङ्गानुसारेण तेषां देवादीनां  
यज्ञादिविशेषभाक्त्वं प्रजापतिर्जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवानिति प्रवृ-  
त्त्यर्थः । “यज्ञो वोऽन्न मिति । हे देवाः ! ‘वः’ युष्माकं  
‘यज्ञः’ ‘अन्नम्’, अतो युष्माक मेव ‘अमृतत्वम्’; ‘ऊर्क्’ बलं च  
‘वः’ युष्माक मेव; ‘सूर्यः’ एव ‘वः’ युष्माकं ‘ज्योतिः’ ‘इति’ ।

एवं यज्ञोपवीतित्वादिलिङ्गयुक्तान् देवान् प्रेष्य, यज्ञादिचतुष्टयं  
प्रजापतिः तेषां जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवान् ॥ १ ॥

“अथैनं पितर इत्यादि । अत्राप्येवं योज्यम् । “मासि-  
मासीति । प्रतिमासं दर्शेऽनुष्ठीयमानं यत् पिण्डपितृयज्ञाख्यं  
हविः, तद् ‘वः’ युष्माकम् ‘अशनम्’; ‘स्वधा’-कारोऽपि ‘वः’  
युष्माक मसाधारणम्; मनस इव जवः ‘मनोजवः’, सोऽपि  
युष्माक मेव । सोमलौकवर्त्तिनां युष्माकं ‘चन्द्रमाः’ एव ज्योतिः  
भवत्विति ॥ २ ॥

“अथैनं मनुष्या इत्यादि । ‘प्रावृताः’ उत्तरवासमा संवृताः,  
कण्ठलम्बितवाससः \*, निवीतिन इत्यर्थः । अतएव तैत्तिरीय-  
कम्— “निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितॄणाम्, उपवीतं  
देवानाम्”—इति † । “उपस्थं कृत्वेति । यतः प्रजापतिरूपसदन-  
समये मनुष्यैरुपस्थप्रावरणं मनुष्ठितम्, अतएवेदानीं भुक्त्यादि-  
समये उपस्थप्रावरणेनोपसीदन्ति । “प्रजा व इति । प्रजायन्त  
इति ‘प्रजाः’ पुत्रपौत्रादिरूपाः । “उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम्”—

\* ‘केवलवीतवाससः’— इति च ।

† तै० सं० २. ५. ११. १ ।

इति \* ड-प्रत्ययः । “मृत्युर्व इति । देहारम्भकर्मोपजनितं मरणं ‘वः’ युष्माक मसाधारणो धर्म इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गवादिपशूना मपि प्रजापत्युपसदनं, तत्कृतजीवनक्षयजनितं मरणं, तदशनकृत्तिञ्चाह— “अथेनं पशव इत्यादिना । “स्वेष मेवेति । यथा देवपितृमनुष्याणां यज्ञादिरूपां तत्कृत्तिं चकार, तथैव गवादिपशूना मपि तदुचिताहारकृत्तिं कृतवानित्यर्थः । तत्प्रकारं दर्शयति— “यदेवेति । गवाद्याः पशवो यूयं ‘यदा कदा च’ काले अकाले वा तृणादिरूप माहारजातं ‘लभाध्वे’, ‘अथ’ अनन्तर मेव तत् लब्धं तृणाद्याहारजातम् ‘अन्नाथ’ । ‘इति’-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्तिः । “तस्मादेत इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिः सकाशात् लब्धवराः, ‘तस्मात्’ ‘एते’ गवाद्याः पशवः तृणाद्याहारं ‘यदा एव कदा च लभन्ते’, ‘काले’ वा ‘अकाले’ वा, ‘अथ’ अनन्तर मेव तद् भक्षयन्ति ; न त्वस्मदादिवत् मायम्पात-रादिकालविशेष मपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथासुरकृतं प्रजापतावुपसदनं परीक्षेण निर्दिशति— “अथ हैन मिति । ‘शश्वद्’ बहुकृत्वः ‘असुरा अपि’ ‘उपसेदुः’ उप-सदनं चक्रुरित्यभिज्ञाः कथयन्ति ।

एवं पितृमनुष्यादीना मुपसदनं मिव असुरकृतं मुपसदनं जिज्ञासिथञ्चाह— “तेभ्यस्तमश्च मायाञ्चेति । परेषां दृष्ट्या-च्छादकं † तमः, अघटनघटनशक्तिर्माया ‡ । तदुभयं यस्मात् प्रजापतिरसुरेभ्यो दत्तवान्, तस्मात् इदानीं मपि ‘असुरमाया’ असुरस्य स्वभूता मायेत्यस्ति व्यवहारः । अत एव ते मायाविन

\* पा० सू० ३. २. ६६ ।

† ‘दृष्टाच्छादकसामर्थ्य’— इति च ।

‡ ‘अघटितघटनशक्तिर्माया’— इति च ।

इत्याख्यायन्ते । “पराभूता ह त्वेवेति । ‘ताः’ असुर्याः प्रजाः’ देवादिवदन्नादीनां जीवनहेतूनां प्रजापतिसकाशादलाभात् केवलं तमोमायाभ्यां यस्ताः सत्यः पराभवं प्राप्ता इत्यर्थः । इत्थं प्रजापतिना देवादिभ्यः कल्पितां वृत्तिं प्रदर्श्य, तदनतिक्रमेण तेषां जीवनं प्रतिपादयति— “ता इति । ‘प्रजाः’ प्रागनुक्रान्ताः ‘इमाः’ देवपितृमनुष्याद्याः, ‘यथा’ येन प्रकारेण “यज्ञो वोऽन्नम्” —इत्यादिना वृत्तिं प्रजापतिः कल्पितवान्, ‘तथैव’ व्यवस्थितां वृत्तिं नियमेन देवाद्या उपजीवन्ति ॥ ५ ॥

“नैव देवा इति । न तु ते प्रजापतेराज्ञा मतिक्रामन्ति । अथ मनुष्याणां मशने नियमं विधित्सुरनियमप्रसक्तिं दर्शयितुं प्रजापतिकृपेरतिक्रममुपन्यस्यति— “मनुष्या एवेति । ‘एके’ च नाम ‘मनुष्याः’ अज्ञानवशात् प्रजापतिना कल्पितां प्रागुदाहृतां वृत्तिम् ‘अतिक्रामन्ति’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ मनुष्याणां मध्ये ‘यः’ ‘मिद्यति’, स्निह्यति, पुष्यतीति यावत् । “वि मिदा स्नेहने”— इति १ धातुः । स च मिद्यन्ननु मनुष्यो धनादिजनितमदवशेन ‘अशभे’ नरकपाताद्यनर्थहेतुभूते पापे ‘मिद्यति’ स्निह्यति, तात्पर्येण वर्त्तते । तस्मात् पापात् सः ‘विहर्च्छति’ अधः पतति । “हुच्छी कौटिल्ये”—इति १ धातुः । “अयनाय चनेति । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । पुण्यलोकगमनायापि ‘न हि भवति’ । कुत इत्यत आह— “अनृतं हीति । यस्मात् ‘अनृतम्’ असत्यम्, प्रतिषिद्धं ‘कृत्वा’ ‘मिद्यति’ प्रसन्नो भवति । इत्थं प्रजापत्याज्ञातिक्रमेणानियमदर्शनात् मनुष्येषु नियमापेक्षा विद्यत इति तात्पर्यार्थः ।

औपेक्षातिकं नियमविधिं दर्शयति— “तस्मादिति । साय-

आतरशितुं शील मस्येति 'सायम्यातराशी' । "सुप्यजातौ णिनि-  
 स्साच्छिल्ये"—इति \* णिनिः । 'एव'-कारेण अन्तरा भोजनं  
 निवार्यते । विहित मनुष्य प्रशंसति— "स यो ह्येव मिति ।  
 "यदु ह किञ्चेति उक्तभोजनकालनियमवाम् यदपि किञ्चिद् 'वाचा'  
 'व्याहरति' भाषते, तथैव यथार्थं भवति । 'हि' यस्माद्, असौ  
 'एतत्' 'देवसत्यं' देवेन प्रजापतिना कल्पितं सत्यं 'गोपाय'ति  
 रक्षति । "गुपूरक्षणे"—इति † धातुः । "गुपूधूपविच्छि"—इत्यायः  
 प्रत्ययः ‡ । 'तड' तदेव सत्यं 'तेजो नाम' 'तेजः'-शब्दवाच्यतया  
 प्रसिद्धम् । 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणसम्बन्धिरूपम् । कः पुनरसा-  
 वीदृग्विधं देवसत्यं गोपायतीति त माह— "य एतस्येति ।  
 'एतस्य' प्रजापतेरुच्चरितरूपं 'व्रतं' 'चरितुं' 'यः' यजमानः  
 'शक्नोति', स देवसत्यं गोपायतीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

इत्थं पिण्डपितृयज्ञस्य मासि मासि कर्त्तव्यतां "मासि मासि  
 वोऽशनं स्वधा वः"—इत्यादिना प्रजापतिवाक्येन प्रतिपाद्येदानीं तं  
 विदुस्ते— "तद्वा एतदिति । 'मासि मासि' प्रतिमासम् ।  
 "नित्यवीप्सयोः"—इति § दिर्वचनम् । जीवतां हि मनुष्याणां  
 सायम्यातरशनं विहितम्, मरणादूर्द्ध्वं वस्त्रादिरूपेभ्यः पितृभावं ॥  
 प्राप्तेभ्यस्तेभ्यो मासि मास्येव पितृयज्ञरूपं मशनं दातव्यं मित्यभि-  
 प्रायः ¶ । स च पितृयज्ञोऽमावास्याया मेव कर्त्तव्यो नान्यस्यां  
 तिथाविति प्रतिपादयति— "यदैवैष इति । 'यदा' यस्मिन्नेव काले

\* पा० सू० ३. २. ७८ ।

† भा० प० ३६५ धा० ।

‡ पा० सू० ३. १. २८ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ 'वस्त्रादिरूपपितृभावं'— इति च ।

¶ "वस्तून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांश्चा-  
 दित्यान् श्रुतिरेषा मनातनी"— इति म० सं० २. २८४ ।

‘एषः’ इन्दुः ‘न’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि, ‘पश्चात्’ पश्चिमाया मपि ‘न’ ‘दृश्यते’, ‘अथ’ अनन्तरमेव ‘एभ्यः’ पितृभ्यः पिण्डान् दद्यात् ।

पुरस्तात् पश्चात् न दृष्टे इत्येतदुपपादयति— “एष वा इति । ‘यत्’ यः ‘चन्द्रमाः’ नभसि दृश्यते, ‘एषः’ खलु ‘राजा’ राजमानः ‘सोमः’ ‘देवाना मन्त्रम्’ इति ; “य मादित्या अश्व माप्याययति”—इति मन्त्रवर्णात् \* । ‘सः’ वरुणः ‘एताम्’ अमा-  
वस्यदिवससम्बन्धिनीं ‘रात्रिं’ प्राप्य जीर्णः उदेति । तस्मिन् जीर्णे सति यः पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तथा च सति एभ्यः पितृभ्यो देवेः साकम् ‘असमदं’ कलहं न ‘करोति’ । ‘अथ’ ‘यद्’ यदि ‘अक्षीणि’ दृश्यमाने तस्मिन् सोमे चतुर्दश्यां प्रतिपदि वा पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तदा देवेभ्यः पितृभ्यश्च कलहं कुर्यात् ; सोमस्य देवाना मन्त्रत्वेन भोक्तुं देवैरपि सन्निधानात् दीयमानहविर्विषयः कलहो भवेदित्यर्थः । “तस्मादिति, निगमनम् ॥ ७ ॥

अपराह्णकालं विधायोपपादयति— “स वा इति । अह्नः पञ्चधाविभक्तस्य चतुर्थो भागोऽपराह्णः, तस्मिन् पिण्डपितृयज्ञोऽनुष्ठेयः । अत एव सूत्रते कात्यायनेन— “अपराह्णे पिण्ड-  
पितृयज्ञः, चन्द्रादर्शनेऽमावास्याया मिति † ॥ ८ ॥

तत्पकारमाह— “स जघनेन गार्हपत्यमिति । गार्हपत्यस्य पश्चिमदिशि व्रीहिपूर्णस्य निर्वापार्थस्य शकटस्य दक्षिणतः आसीनः

\* तै० सं० २. ४. १४. २ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १ । ‘पिण्डपितृयज्ञ इति वक्ष्यमाणस्य कर्मणः सञ्ज्ञा ; सा च पिण्डदानपदार्थस्यैवार्थानुगमात् पिण्डैः पितॄणां यज्ञः पिण्डपितृयज्ञ इति, अतश्च होमजपादयस्तदङ्गम्”— इत्यादि ( बा० दे० ) व्याख्यानञ्च तत्र द्रष्टव्यम् । आश्व० श्रौ० सू० २. ६. १ ; गृ० सू० २. ५ ; माह्ना० श्रौ० सू० ४. ३. १ ; ५. १३ ।

प्राचीनावीती एवं \* पितृयज्ञार्थं हविर्गृहीयात् । मन्त्रस्याविहितत्वात् तूष्णीं भवैतद् ग्रहणम् । अत एव सूत्रितञ्च— “अपरेण गार्हपत्यं चरुं मपूर्णं सुचं वा तूष्णीं गृहीत्वा”—इति † ।

चतुर्थं गृहीतानां व्रीहीणां भवहननं विधाय प्रशंसति— “स तत एवेत्यादिना ‡ । ‘ततः’ तस्मात् हविर्ग्रहणस्थानात् । “उत्तरेणेति । दक्षिणामेरदूरेण उत्तरत इत्यर्थः । “एनबन्ध-तरस्याम्”—इत्येनप् § । “एनपा द्वितीया”—इति ॥ द्वितीया । “दक्षिणा तिष्ठन्निति । दक्षिणतस्तिष्ठन् । “दक्षिणादाच्”—इति ¶ आच् प्रत्ययः ।

ऐष्टिकहविष इव फलीकरणस्य त्रित्वं प्रसक्तं मपवदितुं सकृत्त्वं विधत्ते— “सकृदिति \*\* । एकवारं मेव फलीकुर्यात्, न तु त्रिः । तत्र हेतु माह— “सकृद् ह्येवेति । ‘हि’ यस्माद् ‘सकृत्’ एकवारं मेव ‘पराञ्चः’ पराञ्चो गताः ब्रेताः ‘पितरः’ अभवन्, न तेषां पुनरावृत्तिरस्ति, अतस्तेषां सकृत्त्वं मसाधारणो धर्मः ॥ ८ ॥

अपणं विधत्ते— “त मिति †† । सकृत्फलीकृतांस्तण्डुलान् स्थाव्यां प्रक्षिप्य, तं चरुं दक्षिणाग्नौ अपयेदित्यर्थः । उद्वासनात् प्रागेव तस्मिंश्चरौ अभिधारणं विधत्ते— “तस्मिन्निति । ‘अधि-श्रिते’ अग्नेरुपरि स्थापिते ‘तस्मिन्’ (एतस्मिन् ‡‡) चरौ पक्वे सति ‘आज्यं’ ‘प्रत्यनयति’ प्रतिक्षिपति । तदेतदुपपादयति—“अग्नौ वा

\* ‘एतं’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ४.१.५ क ।

‡ का० श्रौ० सू० ४.१.५ ख ।

§ पा० सू० ५.३.३५ ।

॥ पा० सू० २.३.३१ ।

¶ पा० सू० ५.३.३६ ।

\*\* का० श्रौ० सू० ४.१.६ ।

†† का० श्रौ० सू० ४.१.७ क ।

‡‡ नास्त्येतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

इति । देवार्थं यदाज्यम्, तत् 'अग्नी' 'जुह्वति' यजमानाः । देवेभ्यो यदाज्यं देयं तत् होमिनेव दीयत इत्यर्थः । "उद्धरन्तीति । 'मनुष्येभ्यः' देयं यत् (आज्यम्\*), तत् तेषां पुरस्तात् भोजनपात्रेषु 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पुरतः स्थापयन्तीत्यर्थः । "अथैव मिति । 'अथ'-शब्द उक्त-बेलक्षणे । पितॄणां तु एव मधिश्रितावस्थाया मेव चरावाज्य मवनेय मिति यथोक्तम्, एव मेव पितॄभ्य आज्यं देयम्, न त्वग्नौ होमिनापि पुरस्तादुद्धरणेचापि । "तस्मादिति, प्रतिज्ञातनिगमनम् ॥ १० ॥

अथ तस्य चोरोदासनपूर्वकं होमं विधत्ते — "स उदास्येति । उदासनानन्तरं 'देवेभ्यः' देवार्थम् 'अग्नी' 'द्वे आहुती' जुहु-यात् । यद्यपि 'अग्नये', 'सोमाय' इति द्वयोरेवात्र होमः, तथापि देवेभ्य इति सामान्याभिप्रायेण बहुवचनम् । अत एव सूत्रप्रते— "अपयित्वानिघार्यादास्य मेक्षणेन जुहोति अग्नय इति सोमायेति च"—इति † ॥

ननु पितॄर्थेन हविषा देवेभ्यो होमोऽनुपपन्न इत्याशङ्कोप-पादयति—“देवान् वा इत्यादिना । 'यः आहिताग्निः', 'यः' च दर्शपूर्णमासयाजी 'एषः' यजमानो 'देवान्' उपावर्त्तते' उपाहृतः, अतस्तेभ्यो देवेभ्यो हविरवश्यं देय मिति भावः । "अथेतदिति । 'अथ'-शब्दोऽत्र वैपरीत्यद्योतकः । 'एतत्' एतर्हि देविकं कर्म परित्यज्य पितॄण कर्मणा 'अचारीत्' पितॄं कृतवानित्यर्थः । तथा सत्यन्यदीयकर्मानुष्ठानेन देवानां कोपः स्यात्, अतस्तन्नि-वृत्तये पितॄ कर्मणि 'देवेभ्यः' होमिन तदपराधं 'निहृत' अप-नयति, प्रीणयति वा । एवं होमिन तोषितैः 'देवैः' 'प्रसृतः' अनु-

\* नास्त्येतत् पदं द्व-पुस्तकादन्यत्र ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. ७ क, ७ ख ।

ज्ञातः 'सः' यजमानः 'अथ' अनन्तर मेव 'एतत्' हविः 'पितृभ्यः' दद्यात् । उक्तं मर्थं निगमयति— "तस्मादिति ॥ ११ ॥

देवेभ्य इति साधारण्येनोक्तं विशिनष्टि— "स वा इति । इतरान् देवान् परित्यज्य अग्नेः सोमस्य च हवने कारणं माह— "स यदग्नय इति । 'सर्वत्र' देवेषु पितॄषु च सर्वेषु कर्मसु 'अग्निः' 'अन्वाभक्तः' अनुप्रविष्टो भवति ; न ह्यग्निं मन्तरेण देविकं पितॄन् वा किञ्चित् कर्म निष्पद्यते, अतोऽत्रानेहीमो युक्त इत्यर्थः । "पितृदेवत्वं वा इत्यादि । यतः "चन्द्रमा वो ज्योतिः" - इति \* प्रजापतिः पितॄणां ज्योतिश्चेन चन्द्रमसं कल्पितवान्, अतः स 'सोमः' पितृदेवत्वः । अत एव धूमादिमार्गेण पितॄणां चन्द्रलोकप्राप्तिः समाम्नाता— "चन्द्रमस मेव ते सर्वे गच्छन्ति"—इति† । यत एव अतः पितॄन् कर्मणि सोमाय युक्तं मिथ्यार्थः ॥ १२ ॥

उक्तदेवतयोर्हीममन्त्रौ ‡ विधत्ते— "स जुहोतीति । 'कव्यं' पितॄन् हविः, तद् वहति प्रापयतीति 'कव्यवाहनः' । "कव्यपुरीष-पुरीषेषु"—इति § जुगुट् । एतच्च पितॄणां मग्नेरसाधारणं नामधेयम् । अत एवास्मायते— "तयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां, कव्यवाहनः पितॄणां, सहस्राजा असुराणाम्"—इति ॥ । 'कव्यवाहनाय अग्नये' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मस्तु । पितृगणैर्युक्ताय 'सोमाय' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मस्तु ॥

मेघेणस्याग्नौ प्रक्षेपं विधत्ते— "अग्नाविति ¶ । चरुं मालोद्य

\* १६० पृ० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

† का० उप० ५, १०, ५ ।

‡ तौ च मन्त्रौ वा० सं० ३, २६, १, २ ।

§ पा० सू० ३, २, ६५ ।

॥ तै० सं० २, ५, ८, ११ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४, १, ८ क ।



येन काष्ठेन गृहीत्वा ह्यते, तत् 'मिच्छणम्' । 'तत्' अभ्यादानं 'स्विष्ट-  
कृद्भाजनम्' अस्य होमस्य स्विष्टकृतस्थानीयम् ॥

अथ पिण्डप्रदानाय स्थानविशिषं तत्संस्कारञ्च विधाय प्रशं-  
सति— “अथ दक्षिणेनेति \* । ‘अथ’-शब्दोऽत्रान्यप्रतिषेधार्थः ।  
दक्षिणानेरदूरेण स्फोऽन ‘सक्तदुल्लिखति’ एकयत्नेन दक्षिणप्राचीं  
लेखां कुर्यात् † । ‘तत्’ उल्लिखितं स्थलं ‘वेदिभाजनं’ वेदिस्थानी-  
यम्, तत्कार्यकर मित्यर्थः । “सक्तदु ह्येत्यादि, उक्तार्थम् ॥ १३ ॥

उल्लिखितप्रदेशस्यान्ते अग्नेर्निधानं विधत्ते— “अथ परस्ता-  
दिति । ‘परस्तात्’ परस्मिन् विप्रकृष्टे, पर्यन्ते इत्यर्थः । विपक्षे  
बाधविधानपुरस्सरं मेतदुल्मुकनिधानं सुपपादयति— “स  
यदिति ‡ । सुरविरोधीनि रक्षांसि ‘असुररक्षसानि’, ‘एषां’  
पितृणां स्वभूतम् ‘एतत्’ पिण्डरूपं हविः ‘विमथ्नीरन्’ अपहरेयुः ।  
“तथो हेति । तथा चीरुल्मुकनिधाने सतीत्यर्थः । ‘न विमथ्नीते’  
नापहरन्ति । “मन्य विलोडने”—इति § धातुः ॥ १४ ॥

विहिते उल्मुकनिधाने मन्त्रे विधत्ते— “स निदधातीति ।  
यदेतदुल्मुकनिधानं विहितम्, तत् “ये रूपाणि”—इत्यनेन ॥  
मन्त्रेण कर्त्तव्य मित्यर्थः । मन्त्रार्थस्तु,— ‘असुराः’ मायावशात्  
पितृणां रूपाणि ‘प्रतिमुञ्चमानाः’ धारयन्तः पितॄन् दीयमानया  
‘स्वधया’ सह ‘चरन्ति’ वृत्तन्ते । ‘ये’ च पूर्वं ‘परापुरः निपुरः’  
पूरणपिण्डदानेन युक्ताः सती ‘भरन्ति’ हविर्हरन्ति । परापुरो

\* का० श्रौ० सू० ४. १. ८ ख ।

† तन्मन्त्रस्तु वा० सं० २. २६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. ६ ।

§ भा० प० ४२ धा० ।

॥ वा० सं० २. ३०. १ ; मा० म० ब्रा० २. ३. ४ ।

निपुर इति, परा-नि-पूर्वात् घृणोतेः सम्प्रदादिलक्षणे भावे किपि बहुव्रीहिः ; स च धातुरत्र पिण्डविषये दाने वर्तते । अत एवोक्तमाश्वलायनेन— “तस्यां पिण्डान् निघृणीयात् पराचीनपाणिः”— इति \* । पुत्रपदनिवेचनप्रसङ्गे यास्केनाप्युक्तम्— “पुत्रः, पुरुत्रायते ; निपरणादा, पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा”—इति † । यद्वा ‘पराः’ प्रभूताः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘परापुरः’ ; ‘नि’ निरुक्ता अल्पाः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘निपुरः’ ; महाकायाः अल्पकायाश्चेत्यर्थः । एवं प्रच्छन्नवेषा असुरा ये सन्ति, ‘तान्’ ‘अस्मात्’ ‘लोकात्’ पिण्डपितृयज्ञस्थानात् ‘अग्निः’ ‘प्रणुदाति’ । लैव्याडागमः ‡, प्रणुदत्वित्यर्थः । रक्षोनिहन्तृत्व मग्नेः प्रसिद्धमिति व्याचष्टे— “अग्निर्हीति । ‘एवं निदधाति’ अग्निशब्दोपेतेन मन्त्रेण निदध्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥

पिण्डदानस्य प्राच्याङ्गत्वेनावनेजनं विधत्ते— “अथोदपात्रमिति § । ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्खं पात्रम् । “एकहस्तादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्”— इत्युदकशब्दस्योदभावः ॥ । “असाववनेनित्त्व”—इत्यवनेजनमन्त्रः ¶ । तत्रादशशब्दस्याने सम्बुद्धान्तं पित्वादीनां यथाक्रमं नाम निर्द्दिष्टव्यम्,— हे यज्ञशर्मन् ! मम पितः ! ‘अवनेनित्त्व’ दास्यमानं पिण्डं भोक्तुम् आत्मीयौ पाणी शोधयेति मन्त्रार्थः । “णिजिर् शौचपोषणयोः”—इति \*\* धातुः । एवं पितामहप्रपितामहविषयी मन्त्रौ योज्यौ ।

\* आश्व० श्रौ० सू० २. ६. १५ ।

† निरु० २. ३. २ ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १. १० ।

॥ पा० सू० ६. ३. ५६ ।

¶ इदमेव ब्राह्मणे समाध्यात इति शेषः ।

\*\* जु० उ० ११ धा० ।

अस्यावनेजनस्य पिण्डदानात् प्राक्कर्त्तव्यतां दृष्टान्तेनोपपादयति— “तद्यथेति । ‘अग्निष्यते’ भोज्यमाणाय पुरुषाय यथा ‘अभिषिञ्चेत्’ उदकं हस्ते ददाति, ‘एवम्’ एव तत् पितृणां मवनेजनमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ तस्मिन्नुल्लिखिते स्थाने बर्हिः स्तरितुं तत्सम्पादनं विधत्ते— “अथ सकृदाच्छिन्नानीति \* । एकयत्नेन क्षिन्नानि । ‘उपमूलं’ मूलसमीपे । ‘दिनानि’ खण्डितानि बर्हीषि पितृयज्ञार्थानि ‘भवन्ति’, एवङ्गुणविशिष्टानि बर्हीष्याहर्तव्यानीत्यर्थः । मूलसमीपे केदनमुपपादयति— “अथ मिवेत्यादिना । अत एव तेस्तिरीयकेऽप्याम्नायते— “यत् पुरुषि दिनं तद् देवानां †, यदन्तरा तन्मनुष्याणां, यत् समूलं तत् पितृणाम्”—इति ‡ । केदनगतं सकृत्त्वमनूद्य स्तौति— “सकृदाच्छिन्नानीति ॥ १७ ॥

बर्हिषः स्तरणं विधत्ते— “तानीति । ‘दक्षिणा’ दक्षिणतः, उल्लिखितप्रदेशे ‘तानि’ बर्हीषि ‘उपस्तृणाति’ । तथैव कात्यायनेन सूत्रितम्— “उपमूलं सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा”—इति § । पिण्डदानं विधत्ते— “तत्रेति । ‘तत्र’ तस्मिन् बर्हिषा मास्तीर्णं देशे पिण्डान् दद्यादित्यर्थः । तत्र प्रकारविशेषमभिनयेन विधत्ते— “स वा इतीति । इति’ अनेन प्रकारेण अङ्गुतर्जन्योर्मध्येन पितॄणां तीर्थेनेत्यर्थः । देवमनुष्यसम्पादनके दाने तद्वेपरीत्यकयनेनोपपादयति— “इतीव वै देवेभ्य इति । अनेन खलु

\* का० श्रौ० सू० ४.१.११ ।

† “पुरुषि पर्वसन्धौ, दिनं क्षिन्नम्, तादृशं बर्हिरर्हिमितत्वात् देवानां दियम्”—इति च तै० सं० १.६.८, ५ सा० भा० ।

‡ तै० ब्रा० १.६.८, ५, ६, ७ । § का० श्रौ० सू० ४.१.११ क ।

प्रकारेण अङ्गुल्येण देवतीर्थेन 'देवेभ्यः' हवींषि 'जुह्वति' । 'मनुष्येभ्यः' तु यथायोगं भोक्तव्यमन्नम् 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पात्रान्तरे स्थापयन्ति । न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः । "अथैवमिति । 'अथ'—शब्द उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । देवमनुष्यवैलक्षण्येन एव मुक्तेन पित्रेण तीर्थेन पितृणां सम्बन्धि हविर्देयमित्यर्थः । "तस्मादिति । प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ १८ ॥

पितृपितामहप्रपितामहानां विहिते पिण्डदाने मन्त्रान् विधत्ते— "स ददातीत्यादिना । "असावेतत्ते"—इति पिण्डदानमन्त्रः \* । तत्र 'असौ'—इत्यस्य स्थाने पित्रादीनां नाम सम्बुध्यन्तं निर्द्देश्यम् । "हे यज्ञशर्भन् ! 'एतत्' पिण्डरूपं हविः 'ते' तुभ्यं मया दीयत इति मन्त्रार्थः । "ये च त्वा मनु"—इति † वक्ष्यमाणशाखान्तराभिमतमन्त्रशेषनिरासार्थः 'एव'—कारः ‡ । अनेन च मन्त्रेण प्रथमं यजमानस्य पित्रे पिण्डं दद्यात् ; अनेनैव पितामहप्रपितामहयोरपि पिण्डदानम् । तत्रैकीयं मतमुपन्यस्य दूषयति— "ये च त्वेति । तस्य च मन्त्रशेषस्यायमर्थः,— हे पितः ! 'त्वाम्' 'अनु'—इत्य 'ये' वर्तन्ते, तेभ्यश्चायं पिण्डः त्वं कुर्यादिति । "स्वयं वा इत्यादि । पितृनन्तरभाविनां यच्छब्दनिर्द्देशानां तेषां 'स्वयं' पिण्डदाता सहभावी भवति । तथा य एव एषां स्वयम् [सह] भावी, तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं दत्तवान् भवति ; अतस्तत्प्रतिपादको "ये च त्वा मनु"—इति मन्त्र-भागो न वक्तव्य इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० ४. १. ११ ख । इहैव ब्राह्मणे समाम्नातः ।

† "ये च त्वा मन्विति चेत्"— इति का० श्रौ० सू० ४. १. १२ ।

‡ "असावेतत्त इत्येव"— इत्यत्र द्रष्टव्यम् ( १६५ पृ० १ पं० ) ।

प्रथमं पत्नं निगमयति— “तस्मादिति । “तद्यदित  
इत्यादि । अनेन हि क्रमेण ते पितृत्वं प्राप्ताः— प्रथमं प्रपितामहः,  
पश्चात् पितामहः, ततः पितृति ; इमं क्रमं परित्यज्य पिण्डदाने  
‘इतः’ पितृत आरभ्य प्रपितामहान्तं ‘पराक्’ पराचीनं पिण्डान्  
दद्यात् ; यतस्ते पितरः सकृत्त्वपराक्त्वधर्मयुक्ता इत्यर्थः ॥ १८ ॥

पिण्डदानानन्तरं मन्त्रजपं विधत्ते— “तत्र जपतीति \* ।  
तद्वतं किञ्चित् पदं व्याचष्टे— “अवेति । मन्त्रार्थस्तु,— ‘अत्र’  
अस्मिन् देशे हे ‘पितरः !’ ‘मादयध्वम्’ वृषा भवत, तदर्थं च  
‘यथाभागं’ स्वं स्वं भागं मनतिक्रम्य मया दत्तान् पिण्डान् ‘आह-  
षायध्वम्’ अग्नीवेति । वृषायध्वं मित्यस्यैतदर्थपरतां श्रुतिः स्वयं  
व्याचष्टे— “यथाभागं मग्नीतेत्येवेतदाहेति † ॥ २० ॥

जपानन्तरं परागावर्त्तनं विधत्ते— “अथ पराङ् पर्यावर्त्तत  
इति । पराङ्मुखः सन् पिण्डाभिमुख्यं विहाय ‡ पर्यावर्त्तते-  
त्यर्थः । एतदुपपादयति— “तिर इवेति । पितरो हि मनु-  
ष्येभ्यः तिरोभूताः ; अन्तर्द्धानशक्तियोगात् । अतः पितॄणां तिरो-  
धानेन भवितव्यम् । एतर्हि पिण्डान्तरपर्यावर्त्तमाने सति  
तेषां ‘तिर इव’ तिरोधानं मिव भवति । पर्यावर्त्तनकालस्य  
परिमाणं विधत्ते— “स वा इति § । स खलु परावर्त्तमानः  
‘आ तमितोः’ निरुद्धश्चासगतेरात्मनो यावत् तमनं ग्लानिः भवति,  
तावत् ‘आसीत इति’ केचित् ‘आहुः’ प्रतिपादयन्ति । “तमु  
ग्लानौ”—इत्यस्मात् ॥ “भावलक्षणे स्थेण्कञ्चदिवरिद्धतमि-

\* का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।

† वा० सं० २. ३१. १ ।

‡ ‘विच्छाय’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।

जनिभ्यस्तोसुन्”—इति \* तोसुन् प्रत्ययः । तत्रोपपत्ति माह—  
 “एतावानिति । एतावत्परिमाणो भवति । तस्मादेतावन्तं  
 काल मासीतेति । पक्षान्तर माह— “स वा इति । ‘सः’ खलु  
 ‘सुहृत्त’ द्वादशक्षणात्मको यो सुहृत्तसञ्ज्ञकः कालः , तावत्पर्य-  
 न्तम् ‘एव’ आसीतेत्यर्थः । एवकारः पूर्वोक्तपक्षव्यवच्छेदार्थः ।  
 ‘आसित्त्वा’—इति ‘क्त्वा’-प्रत्ययस्तु वक्ष्यमाणक्रियापेक्षः ॥ २१ ॥

उक्तकालानन्तरं णर्यावर्त्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते—  
 “अथेति † । ‘उपपत्त्यय’ पिण्डसमीपं परिप्राप्य । परिपूर्वा-  
 दयतेर्त्यपि “उपसर्गस्यायतौ”—इति ‡ लत्वम् । “अमीमद-  
 न्तेति § । मन्त्रं जपेत् । अर्थस्तु,— ‘पितरः’ पिण्डपितृ-  
 देवताः ! ‘अमीमदन्त’ तस्मा अभूवन् । तस्यर्थान्मादयतेर्त्यन्तात्  
 लुङि चङि रूपम् । ते च ‘यथाभागं’ स्वं स्वं भागं मनतिक्रम्य  
 ‘आह्वयिषत’ अभुजत । तत्र ‘आह्वयिषत’—इति षदस्य  
 विवक्षितं मयं माह— “यथेति । आङ्पूर्वो ह्रस्वतिरभ्यवहारे  
 वर्त्तते, तस्मात्लुङि बहुवचनान्तं मेतत् षदम्, अतः ‘आशिषुः’  
 ‘इति’ तस्य व्याख्यानम् । “अग्ं भोजने ॥”—इत्यस्मात्लुङि बहु-  
 वचने आशिषुरिति रूपम् ॥ २२ ॥

पिण्डदानात् प्राग्वेदानो मयि पित्रादीना मुदकावनेजन्तं  
 विधत्ते— “अथोदपात्र मिति ¶ । “असाववनेनिच्छ”-इति \*\*  
 तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु ‘असौ’-इत्यस्य स्थाने पित्रा-

\* पा० सू० ३. ४. १६ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १४ ।

‡ पा० सू० ८. २. १६ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ क्र० प० ६० धा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ क ।

\*\* एषोऽपि मन्त्र इहैव ब्राह्मणे आम्नातः ( १६५ पृ० १६ पं० ) ।

दीनां नामानि क्रमेण निर्दिशेत् । अर्थस्तु प्रागेव दर्शितः \* ।  
एतदवनेजनं लोकश्रवणारेणोपपादयति— तद्यथेति । ‘तत्’  
तत्र विषये निदर्शनं मभिधीयते । यथा ‘जक्षुषे’ भुक्तवते पुरु-  
षाय मुखप्रक्षालनार्थं हस्ते उदकम् ‘अभिषिञ्चेत्’, ‘एवम्’ एव  
‘तत्’ पिण्डदानानन्तरभावि जलावसेचनं मित्यर्थः । ‘जक्षुषे’  
इति, अटेलिटः कसौ “लिख्यन्तरस्याम्”—इति † घसादेशः,  
पुनश्चतुर्थ्येकवचने सम्प्रसारणे च रूपम् ॥ २३ ॥

नमस्कारं विधत्ते— “अथ नीवि मिति ‡ । ‘नीविः’  
परिधानीयस्य वाससो दशा, ताम् ‘उहह्य’ विस्त्रंस्य § पितॄन् ‘नम-  
स्करोति’ । तत्र विस्त्रंसने कारणं माह— “पितृदेवत्येति ।  
यतो ‘नीविः’ ‘पितृदेवत्या’ पितृदेवतार्था, पितॄणां तृप्तिकरीति  
यावत् । “देवतान्तात् तादर्थ्यं यत् ॥” । ‘तस्मात्’ तां ‘नीविम्’  
‘उहह्य’ विस्त्रंस्य प्रदर्श्य ते नमस्कृत्तव्या इत्यर्थः । नीवेः पितृ-  
देवत्यत्वं तेत्तिरीयकेऽप्यास्मात् ॥—“अग्नेस्तूषाधानं, वायोर्वातपानं,  
पितॄणां नीविः”—इत्यादि \*\* । नमस्कारस्य प्रयोजनं माह—“यज्ञो  
वा इति । नमस्कारेण हि पूजा गम्यते, ‘यज्ञः’ पूजात्मकः ;  
“यज देवपूजा”—इति†† यजतेस्तदर्थत्वात् । अतो नमश्शब्दो यज्ञा-  
त्मकः । तेन नमस्कारेण ‘एनान्’ पितॄन् ‘यज्ञियान्’ यागार्हान्  
‘एव’ ‘करोति’ । “यज्ञत्विस्रां ब्रह्मजौ”—इति ‡‡ अर्हार्थे घञ्

\* २०६ पृ० १५ पं० द्रष्टव्यः ।

† का० अ० मू० ४. १. १५ ।

॥ पा० मू० ५. ४. २४ ।

\*\* सायणीयं आख्यानं त्वस्याः श्रुतेः तै० सं० १. २. १ भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

†† भा० उ० १००२ धा० ।

† पा० मू० २. ४. ४० ।

§ ‘विमुञ्च’—इति क ।

॥ तै० सं० ६. १. १. ११ ।

‡‡ पा० मू० ५. १. ७१ ।

प्रत्ययः । विहितश्च नमस्कारो “नमो वः”—इति \* मन्त्रेण कर्त्तव्यः ।  
 उक्तं हि कात्यायनेन— “नीविं विस्त्रंस्य नमो व इत्यञ्जलिं  
 करोति”—इति † । तस्मिंश्च मन्त्रे “षड्भ्यो नमः”—इति प्रयु-  
 ज्यते, तत्तद्व्या मनुद्य स्तीति— “षट् कृत्वः”—इति ‡ । “नमो  
 वः पितरो रसाय”, “नमो वः पितरः शोषाय”—इत्येवं षड्वारं  
 नमस्कुर्यादित्यर्थः § । “ऋतवः पितर इति । वसन्ताद्युतुषु  
 प्रमीतस्य तत्तदनुरूपत्वप्राप्तेस्तादात्म्यव्यपदेशः । तथा चान्यत्र ॥  
 श्रूयते— “यस्मिन्नृतौ पुरुषः प्रमीयते, सोऽस्यामुष्मिंश्चोके भवति  
 ( यदि वसन्ते प्रमीयते, वसन्तो भवति ¶ )”—इत्यादि । तस्मात्  
 तेषां ऋतूनां षट्संख्यात्वयोगात् तादात्म्यापन्नानां पितृणां नम-  
 स्कारोऽपि षड्वारः कर्त्तव्य इति युक्तं मुक्तम्— “नमो वः  
 पितरः”—इति ।

नमस्कारमन्त्रो निगदव्याख्यात इत्यभिप्रेत्य तच्छेषं सुपादाय  
 व्याचष्टे— “गृहान्नः पितरो दत्त इति”—इति \*\* । शेषसहितस्य  
 तस्य मन्त्रस्यायं मर्थः— हे पितरः ! युष्मत्सम्बन्धिने ‘रसाय’  
 वसन्तर्त्तुजाताय नमोऽस्तु । हे पितरः ! युष्मत्सम्बन्धिने ग्रीष्म-  
 जन्याय ‘शोषाय’ शोषणाय नमोऽस्तु । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।

\* वा० सं० २. ३२. १ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १५ ख ।

‡ ‘षड्भिर्मन्त्रैः षडञ्जलिन्’— इति या० दे० ( ४. १. १५ सू० ) ।

§ ते च षट् मन्त्राः वा० सं० २. ३२. १—६ ।

॥ तै० ब्रा० १. ६. ८. ३ । तत्र ‘यस्मिन् वा ऋतौ’— इति पाठः ।

¶ “यदि वसन्ते”— इत्यादिरंशस्तत्र न दृश्यते ; सायणभाष्ये त्वस्ये-  
 षोऽश्वः, तै० सं० १. ८. ५ भाष्यं द्रष्टव्यम् । \*\* वा० सं० २. ३२. ८ ।



‘जीवः वर्षतो वृष्ट्यर्थक्रियमाणो वेगः \* । ‘स्वधा’-इति अन्ननाम†, व्रीह्यादिरूप मन्त्रश्च शरदादिषु पच्यत ; अतः शरदृतुसम्बन्धिने अन्नायेत्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोर्हिमेन सर्वेषां पीडनात् तद्रूपी पितृधर्मौ ‘घोरमन्यू’ । “नमो वः पितरः पितरो नमो वः”-इति ‡ व्यतिहारोक्तिरादरातिशयद्योतनार्था ।

एवं नमस्कृतान् पितॄन् प्रार्थयते-- हे ‘पितरः !’ ‘नः’ अस्मभ्यम् ‘गृहान्’ पुत्रपौत्रादिरूपान् ‘दत्त’ प्रयच्छत § । पितॄणां दानसामर्थ्यं मन्त्रशेषस्य चाशीःपरत्वं स्पष्ट मिति व्याचष्टे-- “गृहाणा मिति । ‘पितरः’ खलु ‘गृहाणाम्’ ईशते’ ईश्वरा भवन्ति । “अधीगर्थदयेशाम्”-इति || कर्मणि षष्ठी । ‘एतस्य’ पिण्डपितृयज्ञाख्यस्य ‘कर्मणः’ ‘एषा’ ‘आशीः’ फलप्रार्थना ‘उ’ एवेत्यर्थः ।

पिण्डशेषस्याघ्राणं विधत्ते-- “अथावजिघ्रतीति । “घ्रा गन्धो-पादाने ¶”-इत्यस्मात्पिण्डि “पाघ्राध्मा”-इति \*\* जिघ्रादेशः । तथा च अवघ्राणं ‘पिण्डान्’ पिण्डपात्रे †† ‘प्रत्यवधाय’ प्रतिक्षिप्य कर्त्तव्यम् । तच्चावघ्राणं ‘यजमानभागः’ यजमानस्य स्वकीयोऽग्न इति विधेयभागापेक्षया पुंलिङ्गनिर्देशः । स्त्रीर्णस्य वर्हिषः प्रतिपत्तिं विधत्ते-- “अग्नाविति । ‘अभ्यादधाति’ प्रतिपत्ती-त्यर्थः । उल्मुकस्यापि संसर्जनं विधत्ते-- “पुनरिति । “ये

\* “जीवाय, जीवनहेतुभूताय जलाय वर्षत्तवे”- इति महीधरः ।

† निघ० २. ७. १७ ।

‡ वा० सं० २. ३. ७ ।

§ वा० सं० २. ३२. ८ ।

|| पा० मू० २. ३. ५२ ।

¶ भा० प० ६९६ धा० ।

\*\* पा० मू० ७. ३. ७८ ।

†† ‘गात्रे’- इति कृ ।

रूपाणि”—इति मन्त्रेण यदुन्मुक्तं पुरस्तात् कृतम् \*, तदिदानीं  
पुनः संसृजेदित्यर्थः † ॥ २४ ॥ ४ [ ४. २. ] ॥

इति श्रीमायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

तदु होवाच कहोडः \* कौषीतकिः । अनयोञ्चु  
ऽअयं द्वावापृथिव्यो रुसोऽस्य रुसश्च हुत्वा देवेभ्यो-  
ऽथेम मश्नामेति तस्माद्वा ऽआग्रयणेष्ट्या यजत  
ऽइति ॥ १ ॥

तदु होवाच याज्ञवल्काः । देवाश्च वा  
ऽअमुराश्चोभये प्राजापत्याः परुषधरे ततो  
ऽमुराउभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च

\* २०५ पृ० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० “पितृयज्ञेन सुवर्गे लोकं भगमयत्”—इत्यादिः (१. ६. ६.)  
ग्रन्थ इह विचार्यः समन्तात्, तै० सं० १. ८. ५ अनुवाकश्चिह्नलोचयितव्यः ।

‡ ‘कहोडः’—इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ; तत्त्वतस्तु  
उपान्त्यो ल एव डः पठ्यतेऽस्यां शाखायाम् ।

पशुवः कृत्ययेव त्वद्विष्टेणैव त्वत्प्रलिलिपुरुतैवं  
चिद्देवानभिभवेमेति ततो न मनुष्या आशुर्न  
पशुव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजा अनाशकेन  
नोत्परावभूवुः ॥ २ ॥

तद्देवाः शुश्रूवुः । अनाशकेन ह वा ऽइमाः  
प्रजाः पुराभवन्तीति ते होचुर्हन्तेद् मासा मप-  
जिघांसा मेति केनेति यज्ञेनैवेति यज्ञेन ह स्म  
वै तद् देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्पा \* मासुऽर्ष-  
यश्च † ॥ ३ ॥

ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति तं मम-  
ममेत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुस्ते हासम्पादोचुराजि  
मेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जिष्यति तस्य न इदं  
भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजि माजन्त ॥ ४ ॥

ताविन्द्राग्नी ऽउदजयताम् । तस्मादेन्द्राग्नौ  
द्वादशकपालः पुरोडाशो भवतीन्द्राग्नी ह्यस्य भाग-  
धेय मुदजयतां तौ यवेन्द्राग्नी ऽउज्जिगीवांसौ  
तस्यतुस्तद्विष्टे देवा अन्वाजग्मुः ॥ ५ ॥

\* 'कल्प'— इति घ. ड ।

† 'मामुऽर्षयश्च'— इति क ।

क्षत्रं वा ऽइन्द्राग्नी \* । विश्वो विश्वे देवा  
युत्र वै क्षत्रं मुज्जयत्यन्वाभक्ता वै तत्र विद् तद्विष्टान्  
देवानन्वाभजतां तस्मादेषु वैश्वदेवश्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वा  
ऽइन्द्राग्नी नेत् क्षत्रं मभ्यारोहयाणीति तौ वा ऽउभा-  
वेव नवानां स्यातां यद्वि पुरोडाश इतरश्चरुरित-  
रस्तेनैव क्षत्रं मनभ्यारूढं तस्मादुभावेव नवानां  
स्याताम् ॥ ७ ॥

तु ऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः । अनयोर्व्या-  
ऽअयं द्यावापृथिव्यो रसो हुन्तेमे ऽअस्मिन्नाभजा-  
मेति ताभ्या मेतुं भागं सकल्पयन्नेतुं द्यावापृथिव्य  
मेककपालं पुरोडाशं तस्माद् द्यावापृथिव्य एक-  
कपालः पुरोडाशो भवति तस्येयं मेव कपालं मेकेव  
हीयं तस्मादेककपालो भवति ॥ ८ ॥

तस्य परिचक्षा † । यस्यै वै कस्यै च देवतायै  
हविर्गृह्यते सर्वं नैव स्विष्टकृदन्वाभक्तोऽथैतं सर्वं  
मेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षोती  
हुतः पर्यावर्त्तते ॥ ९ ॥

\* 'मी' — इति घ, ङ ।

† 'क्षा' — इति घ, ङ ।

तदाहुः । पर्याभूद्वा ऽअथ मेककपालो मोहि-  
 ष्यति राष्ट्र मिति नाख सा परिचक्षाहवनीयो वा  
 ऽआहुतीनां प्रतिष्ठा स यदाहवनीयं प्राप्यापि दश  
 कृत्वः पर्यावर्त्तेत न तदाद्रियेत यदीत्वन्ये \* वृदन्ति  
 कस्तत्सम्भ मुपेयात्तस्मादाज्यस्यैव यजेदाज्यं च वा  
 ऽअनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसस्तत् प्रत्यक्षं मेवैने  
 ऽएतत् स्वेन रुमेन मेधेन प्रौणाति तस्मादाज्यस्यैव  
 यजेत् † ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टोभयीना मोषधीनां  
 याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्या मिव  
 त्वद्विषु मिव त्वदुपजघ्नस्तुत आश्रन्मनुष्या आलिशन्त  
 पशवः ॥ ११ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य ‡  
 तथा कश्चन कृत्येव त्वद्विषेणेव त्वत् प्रलिम्पतीति  
 देवा अकुर्वन्निति त्वेवैष एतत् करोति यमु चैव  
 देवा भाग मुकल्पयन्त तमु चैवैभ्य एष एतद्भागं

\* 'यदीत्वन्ये'— इति क, ग ; 'यदीत्वंने'— इति च दृष्टं डा०-वेवरेण ।

† 'यजेत'— इति क, ग ।

‡ 'तन्नाहान्वेवैतस्य'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

करोतीमा उ चैवैतदुभयौरोषधोर्याश्च मनुष्या उप-  
जीवन्ति याश्च पशवस्ता अनमौवा अकिल्बिषाः  
कुरुते ता अस्थानमीवा अकिल्बिषा इमाः प्रजा  
उपजीवन्ति तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १२ ॥

तुख प्रथमजो गौर्दक्षिणा । अग्र \* मित्र हीद  
स यदोजानः स्याद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेतायैतेन  
यजेत यद्य ऽअनीजानः स्याच्चातुष्प्राश्व मेवैतमोदुन  
मन्वाहार्यपचने पचेयुस्तं ब्राह्मणा अश्नीयुः ॥ १३ ॥

इया वै देवा देवाः † । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः शुश्रुवाऽसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तद्यथा  
वृषट्कृतः ‡ हुत मेव मखैतद् भवति तत्रो यच्छ-  
क्रुयात्तद्वयान्नादक्षिणः हविः स्यादिति ह्याहुर्नाग्नि-  
होत्रे जुहुयात्समुद ह कुर्याद्यदग्निहोत्रे जुह-  
यादन्यद्वा ऽआग्रयण मन्यदग्निहोत्रं तस्मान्नाग्निहोत्रे  
जुहुयात् ॥ १४ ॥ ५ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [ ४. ३. ] ॥

\* 'अग्रिय'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'देवाः'— इति घ, ङ ।

‡ 'वृषट्कृतः'— इति घ, ङ ; 'वृषट्कृतः'— इति च इथो डा० वेबरेण ।

अथ विधित्तिताया आग्रयणेष्टमेतमेदेन प्रयोजनं दर्शयंस्तावद्  
कहोलस्य मतमुपन्यस्यति— “तदु होवाचेति । ‘तत्’ तत्र,  
वक्ष्यमाणे आग्रयणेष्टिविषये ‘उवाच’ उक्तवान् ‘कौषीतकिः’  
कुप्रीतकस्य पुत्रः । ता मुक्तिं दर्शयति— “अनयोरिति \* ।  
योऽयं व्रीहियवाद्योपध्यात्मको रसः , सः ‘अयम्’ ‘अनयोः’ द्यावा-  
पृथिव्योः’ ‘रसः’ ; द्युसखन्धिन्या वृद्ध्या भूमेरुत्पन्नत्वात् । ‘अस्य  
रसस्य’ । कर्मणि षष्ठी † । इमं रसं देवेभ्यः प्रथमं ‘हुत्वा’  
‘अयं’ अनन्तरं हुतशिष्टम् ‘इमम्’ ‘अग्राम’ भुञ्जामहे इत्यर्थः ।  
‘तस्मादिति, आग्रयणेष्टिविधिः ; यस्मादेवं कहोलेनोक्तम्,  
‘तस्मात्’ नवान्नस्य हुतशिष्टत्वसिद्धये ‘आग्राययेष्ट्या’ यष्टव्य  
मित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ याज्ञवल्काभिमतं प्रयोजनं दर्शयितुं प्रसीति— “तदु  
होवाचेति । तत्रेतिहासमाचष्टे— “देवाश्चेति । ‘प्राजापत्याः’  
प्रजापतेः पुत्राः ‘पसृधरे’ स्रग्दीं कृतवन्तः । “अपसृधेया  
मानृचुः”—इति ‡ क्वचित् सम्प्रसारणेन निपातनस्यैव लक्षणार्थ-  
त्वात् लिख्यपि सृधेः सम्प्रसारणम् । “उभयोरोषधीरिति ।  
उभयविधा ह्योषधयः,— मनुष्यान्नभूता व्रीहियवाद्याः , पश्व-  
न्नभूतास्तृणाद्याश्च , ताः सर्वाः ‘कृत्यथेव त्वत्’ त्वच्छब्द एकशब्द-  
पर्यायोऽविभक्तिकः । ‘त्वत्’ एकत्र ‘कृत्यथा’ व्यापादयन् ‘इव’,  
‘त्वत्’ अन्यत्र ‘विषेण’ च ‘प्रलिलिपुः’ प्रकर्षेण लिप्ता अकुर्वन् ।  
लेपनाभिप्रायमाह— “उतेव मिति । ‘एवम्’ अपि ‘देवान्’  
‘अभिभवेम’ इति तिरस्कृत्यमेति । ‘ततः’ अनन्तरम् असुर-

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. १ ।

† पा० सू० २. ३. ६६ ।

‡ पा० सू० ६. १. ३६ ।

कृतं विषलेपं ज्ञात्वा 'मनुष्याः' 'न आशुः' न बुभुक्षिरे, 'पशवश्च' 'न' भक्षयाञ्चक्रुः । केवलम् 'अनाशनेन' अनशनेन \* 'ता इमाः' सर्वाः 'प्रजाः' 'पराबभूवुः' पराभूता अभवन् ॥ २ ॥

“तद्दे देवाः शुश्रुवुरिति । देवाश्च तत्सर्वं माकर्ण्य केनोपायेन असुरकृतं मुषद्रवं परिहरामेति विचार्य, यज्ञेनेवेति निश्चित्य, 'एषां' मनुष्यादीनां 'यत्' 'कल्पां' कल्पनीयं सम्पाद्यम् 'आस' तत् अकल्पयन् । न केवलं देवा एव, 'ऋषयः' अप्येव मेव अकल्पयन् ॥ ३ ॥

“तं होचुरित्यादि । प्रजानां मशनकृषिसाधनम् 'इदं', नः' अस्माकं मध्ये 'कस्य भविष्यति ?' 'इति' विचारिते 'ते' सर्वे देवाः 'मम' इदं — 'मम' इदम् 'इति' 'न सम्पादयाञ्चक्रुः' सम्पादनं नासादितवन्तः । 'ते' च देवाः इत्थं परस्परं विप्रतिपत्तिं प्राप्य 'आजिम्' आजिधावनम्, तत्प्राप्तुपायं मेवाकल्पयन् । आजि-  
र्नाम गन्तव्यारधिभूतः पदार्थः, तम् ( अस्मिन् पदार्थे निध्यन्ने सति † ) 'अजामहे' धावाम । “अज गतिक्षेपण्योः”—इति ‡ । तथा च 'नः' अस्माकं मध्ये 'यः' उज्ज्यति, 'तस्य' 'इदं' 'हविः' 'भविष्यति', 'इति' विचार्य, 'तथा' 'इति' अङ्गीकृत्य, 'तस्मिन्' विषये तं आजिधावनं कृतवन्तः ॥ ४ ॥

“ताविन्द्राग्नी इति । 'तौ' प्रसिद्धौ 'इन्द्राग्नी' आजिधावनेन तद्देविः 'उदजयताम्' । यस्मादेवं तस्मादेव कारणात् 'अन्यान्' देवान् परित्यज्य आग्रयणेष्टौ प्रथमं हविः इन्द्राग्निदेवताकम्, द्वादशसु कपालेषु संस्कृतं पुरोडाशात्मकं भवति । अनेनाभि-

\* 'अनाशनेन' — इति च ।

† नास्त्येषोऽशः च-पुस्तके ।

‡ भा० प० २३० धा० ।



प्रायेण ऐन्द्राग्नयागः प्रथमः कर्तव्य इति विधिरुन्नीतो भवति ॥

वैश्वदेवचरुरूपं द्वितीयं हविर्विधातुं विश्वेषां देवानां भाजि-  
सम्बन्धमाह— “यत्रेति \* । ‘यत्र’ यस्मिन् समये उज्जितवन्तो  
‘इन्द्राग्नी’ ‘तस्थतुः’ । जयतेर्लिटः कसौ “सन्लिटोर्जेः”—इति †  
अभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् । ‘तत्’ तस्मिन् समये विश्वे  
देवा नाम गणरूपा देवाः आगतवन्तः ॥ ५ ॥

वैश्वदेवस्य हविषः ऐन्द्राग्नानन्तर्यं कारणान्तरमाह— “क्षत्रं  
वा इति । देवेषु मध्ये ‘इन्द्राग्नी’ ‘क्षत्रं’ क्षत्रियजातिः, ‘विश्वे  
देवाः’ ‘विश्वः’ व्येश्यजातिः । ‘यत्र’ खलु ‘क्षत्रं’ क्षत्रियो राज्या-  
दिकम् ‘उज्जयति’, ‘तत्र’ ‘विट्’ वैश्यजातिरपि ‘अन्वाभक्ता’  
भवति ; यस्मादेवं लोके, तस्मात् ताविन्द्राग्नी स्वर्विश्वः ‘विश्वान्  
देवान्’ ‘अन्वाभजताम्’ अन्वाभक्तान् कुरुताम् । “तस्मादित्यादि,  
वैश्वदेवयागविधिः ॥ ६ ॥

तस्य यागस्य पुराणव्रीहिनिष्पाद्यत्वं पूर्वपक्षत्वेन प्रतिपाद-  
यति— “तं वा इति । ‘पुराणानां’ पुरातनानां व्रीहीणां सम्ब-  
न्धिनं ‘तं’ वैश्वदेवं चरुं ‘कुर्यात्’ ‘इति आहुः’ अभिज्ञाः कथ-  
यन्ति ‡ । “क्षत्रं वा इति । तदुपपादनम्— “नेत् क्षत्र  
मिति । नैव क्षत्रियजातेरुपरि वैश्यजातिं तत्समत्वेन ‘आरो-  
ह्याणि’ आरूढां करवाणीति ; सर्वथा हि क्षत्रियवैश्ययोर्वेषम्येन  
भवितव्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेण वैषम्यं दर्शयन्नुभयोरपि  
हविषोर्नवधान्यप्रकृतित्वमाह— “तौ वा उभावेव नवाना मिति ।

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. २ ।

† पा० ७. ३. ५७ ।

‡ “पुराणानां वा चरुः”—इति का० श्रौ० ४. ६. ७ ।

“यद्वीति । ‘यत्’ यतः तयोरन्यतरः पुरोडाशः , अन्यतरश्चरुः ;  
‘तनेव’ वेल्लक्षणेन विशा ‘क्षत्रम् अनभ्यारूढत्’ क्षत्रियजाति-  
रनभ्यारूढा भवति । “तस्मादित्यादि , प्रतिज्ञापूरणार्थं निग-  
मनम् ॥ ७ ॥

अथ तस्या मेवाययणेष्टौ तृतीयं द्यावापृथिव्यं हविर्विधातु  
माह— “त उ हेति । ‘विश्वे देवाः’ ‘जबुः’ उक्तवन्तः । कय  
मिति, नवधान्यरूपं हविः ‘अनयोः द्यावापृथिव्योः रसः’ इति  
प्रागुपपादितम् \* । ‘हन्त’-इत्यनुकम्पायाम् । ‘अस्मिन्’ नव-  
हविषि ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ वयम् ‘आभजाम’ प्रापयामेत्यर्थः । ते  
च ‘ताभ्यां’ द्यावापृथिवीभ्याम् ‘एतं’ हविर्भागम् ‘अकल्पयन्’, य  
एष द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशः , तम् । “तस्मादिति ,  
द्यावापृथिव्ययागविधिः । तस्य द्यावापृथिव्यस्य हविषः एकस्मिन्नेव  
कपाले संस्कारमुपपादयति— “तस्येय मेवेति । ‘तस्य’ ‘इयं’  
भूमिः ‘एव’ ‘कपालम्’ पुरोडाशश्चपणाधिष्ठानम् ; ‘हि’ यस्मात्  
‘इयम्’ ‘एकैव’ एकाकारा भवति, ‘तस्मात्’ तद्देवत्यः पुरोडाशोऽपि  
‘एककपालः’ इति † ॥ ८ ॥

‘आज्येनैव द्यावापृथिव्योर्यागं विधितुः पुरोडाशपक्षे दोष  
मुपन्यस्यति— “तस्य परिचक्षेति । ‘तस्य’ एककपालस्य पुरो-  
डाशस्य काचित् ‘परिचना’ निन्दा विद्यते । ता मेव दर्श-  
यति— “यस्या इति । सर्वेषु हि यागेषु ‘स्विष्टकृद्’ यागः ‘अन्वा-  
भक्तः’ अनुप्राप्तोऽस्ति ; “शिषात् स्विष्टकृते समवदति”—इतीष्टशिष्ट-  
प्रतिपत्तित्वेन तस्य विहितत्वात् ‡ । अथैवं सति अत्रेककपालं

\* पुरस्तादिहैव २१६ पृ० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. ४ ।

‡ १ का० ६ प्र० १ ब्रा० द्रष्टव्यम् ।

पुरोडाशं 'सर्वं मेव \* जुहोति', हविरन्तरवत् स्विष्टकृन्नाग्नेऽग्नये 'न अवद्यति'; अतोऽस्यैककपालस्य स्विष्टकृद्यागाभावात् 'सा' एव 'परिचक्षा' निन्दा । दोषान्तरं मय्याह— "उतो हुत इति । 'उत उ' अपि च अग्नौ 'हुतः' सन् एककपालः पुरोडाशः 'पर्यावर्त्तते' पर्यावर्त्तते ॥ ८ ॥

"तदाहुरिति । 'तत्' तत्र विषये 'आहुः' ब्रह्मवादिनः कथयन्ति । किं मिति— 'अयम्' 'एककपालः' 'पर्याभूत्' पर्यावृत्तोऽभूत्, तेन पर्यावर्त्तनेन 'राष्ट्रम्' एव पर्यावृत्तं सत् † 'मोहिष्यति' मूढं भविष्यतीति । इत इत्यत आह— "आहवनीय इति । आहवनीयो हि सर्वाहुतीना माधारभूतः । तत्प्राप्तेः पूर्वं पर्यावर्त्तने दोषः, तदुत्तरकालन्तु 'अपि' 'दश कृत्वः' दशवारं 'पर्यावर्त्तते' । 'तत्' तत्र आदरो नैव कर्तव्यः । देवतोद्देशेन हविषः ‡ प्रक्षिप्तत्वादित्यभिप्रायः । तस्मात् स्विष्टकृन्नागाभावकृत एव निन्दा परिशिष्यते, तत्परिहाराय पक्षान्तरं माह— "यदीति । 'यदि तु' 'अन्ये' शाखिनः 'वदन्ति', 'कः' नाम 'तत्' उक्तदोषसन्धानं कर्तुम् 'उपेयात्' उपगच्छेत् ? अतो दोषसहित एककपालपक्षः परित्याज्यः § । किन्तर्हि द्यावापृथिव्यस्य यागस्य द्रव्यम् ?, तदाह— 'तस्मादिति । यदेतत् भ्रुवास्थ माज्यं सर्वयज्ञसाधारणम्, तस्य 'आज्यस्य एव' सकाशात् चतुर्गवत्तं भवदाय द्यावापृथिव्योर्यजेतत्यर्थः ॥ । इमं मर्थं प्रशं-

\* 'सर्वं हुत मेव'— इति च, कृ ।

† नास्थेतत् पदं च-पुस्तके ।

‡ 'हविषश्चोदितद्वारे'— इति च, 'हविषश्चोदितधारे'— इति कृ. ज ।

§ 'परित्याज्यः' इति च, कृ. ज । ॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. ६ ।

सति—“आज्यं हेति । “प्रत्यक्षं रस इति । आज्यस्य द्रवत्व-  
रूपयोगात् प्रत्यक्षरसत्वम् ; व्रीहियवादेस्तु धान्यस्य काठिन्यात्  
परोक्षत्वम् \* । “मेधेनेति । सारभूतेनेत्यर्थः ।

निन्दाया उत्तरस्य प्रशंसार्थं मभिप्रेत्य कात्यायनेनेतत् पक्ष-  
द्वयं मपि सूचितम्— “द्यावापृथिवीय एककपालः ०—० आज्यस्य  
वेति † । आपस्तम्बोऽपि— “अपि वैककपालेन कुर्वीत, आज्येन  
द्यावापृथिवी ददेत” —इत्युक्तवान् ॥ १० ॥

अस्या आग्रयणेश्वरनाश्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयितुं पुरा-  
वृत्तं मुदाहरति— “एतेनेति । ‘याश्च’ व्रीहियवाद्या ओषधीः  
‘मनुष्याः’ ‘उपजीवन्ति’, ‘याश्च’ तृणाद्याः ‘पशवः’ ‘उपजीवन्ति’,  
तासाम् ‘उभयीनाम् ओषधीनाम्’ इति सम्बन्धः । “कृत्या  
मिव त्वदिति । ओषधीषु कृत्या-विषादिकं यत् असुरैः प्रलिप्तम्,  
तदनेन यागेन देवा अपहतवन्त इत्यर्थः । “तत् इत्यादि । ततो  
देवेरन्नस्य निर्दोषकरणात् ‘मनुष्याः’ ‘आश्वन्’ अभुञ्जत, ‘पशवश्च’  
तृणादिकम् ‘आलिशन्त’ अभक्षयन् । “लिश अल्पीभावे”—इत्ययं  
धातुः‡, अत्र तृणादेरल्पीभवनहेतौ भक्षणे वर्तते ॥ ११ ॥

‘ एवं पुरावृत्तं मुदाहृत्य दृष्टान्तेनेदानीन्तनानुष्ठानेऽपि नवान्ना-  
श्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयति— “अथेति । ‘अथ’ इदानीं  
‘यत्’ यस्मात् कारणात् ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ आग्रयणेन  
‘यजते’ । ‘अह’, ‘नु’, ‘एव’—इति त्रयो निपाता अवधारणार्थाः ।  
‘तत्’ तस्मादेव कारणात् ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘तथा’ तथैव ओष-  
धीषु कृत्याया विषेण च न कोऽपि द्वेष्टा ‘प्रलिम्पति’ प्रक्षेपयति ।

\* ‘काठिन्यपरोक्षत्वम्’— इति च । † का० श्रौ० सू० ४. ६. ४—६ ।

‡ दि० आ० ७३ धा० ।

“लिप उपदेहे”—इति \* धातुः । “शे मुचादीनाम्”—इति † नुम् । “देवा इत्यादि । ‘देवाः’ खलु पुरा ‘इति’ एवम् ‘अकुर्वन्’, ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘इति त्वेव’ एव मेव तु ‘करोति’ । एतदेव विवृणोति— “य मु चैवेति । “अनमीवा अक्लिषा इति । अनमीवा रोगाः, तद्रहिताः ; क्लिषं रोगनिदानं पापम्, तद्रहिताश्च ‘कुरुते’ । “ता अस्येति, प्रयोजनान्वाख्यानम् ॥ १२ ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य प्रथमज इति । ‘तस्य’ आग्रयणस्य ‘प्रथमजः’ तस्मिन् संवत्सरे यजमानस्य गोष्ठे यो वत्सो जायते, सः ‘गौः’ अस्य यागस्य दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ‡ । कुत इत्यत आह— “अग्र मिवेति § । अग्रे भवम् अग्रियम् । “अग्राद् यद्, घक्चै च”—इति ॥ । ‘इदम्’ आग्रयणाख्यं ‘हि’ हविः ‘अग्रम्’, प्रथमजो वत्सयाग्रः ; अतस्तस्याग्रयणदक्षिणात्वं सूचितं मिति ।

ईजानानीजानयोरग्रयणविषयां व्यवस्थां दर्शयति— “स यदिति । ‘यद्’ यदि ‘सः’ यजमानः ‘ईजानः’ सोमयागेनेष्टवान् ‘स्यात्’ । यजेर्लिटः कानच् । केवलं हविर्यज्ञयाजी सन् ‘दर्शपूर्णमासाभ्याम्’ एव ‘यजेत’, ‘अथ’ अनन्तरं मेव ‘एतेन’ आग्रयणेन ‘यजेत’, न प्रागित्यर्थः ¶ । किन्तर्हि तदा कुर्यादिति,

\* तु० उ० १५२ धा० ।

† पा० सू० ७. १. ५६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. ८ ।

§ ‘अग्रिय मिवेति’— इति च, क् । एष एव पाठः सायणसम्मतो गम्यते ; घक्चै चेति सूत्रस्यापीहोक्तेखदर्शनात् ; परं सर्वमूलपुस्तकविरुद्धः ।

¶ पा० सू० ४. ४. ११६. ११७ । ¶ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० क ।

तदाह— “यद्यु इति । यदि तु दर्शपूर्णमासादिभिः ‘अनीजानः’ अनिष्टवान् ‘स्यात्’, तदा स यजमानः ‘चातुष्प्राश्यं’ चतुर्भिः ब्राह्मणैः प्राशितव्यं ‘तम्’ ‘ओदनम्’ अन्नं दक्षिणाग्नौ पक्त्वा, ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् \* ; ‘ब्राह्मणाः’ च ‘तम्’ ‘अग्नीयुः’ मुञ्जीरन् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणभोजनस्यापि यागोत्पादकत्वं सुपपादयति— “द्वया वा इति । “अहैवेति, हावपि निपाताववधारणार्थः । ‘शुश्रुवांसः’ शुश्रुवन्तः, बहुश्रुतार्था इत्यर्थः ; ‘अनूचानाः’ अनुगतानुष्ठानपराः, य एवङ्गुणाः, ‘ते’ मनुष्यदेवाः, मनुष्यरूपा देवाः । ‘तत्’ तथा सति ‘यथा’ वषट्कारेण देवेभ्यो दत्तम्, स्वाहाकारेण ‘हुतं’ च भवति, एव मेव ‘अस्य’ अनीजानस्य यजमानस्य ‘एतत्’ ब्राह्मणभोजनं भवतीत्यर्थः † ॥

यागे इव भोजनेऽपि दक्षिणादानं विधत्ते— “तन्नो इति । ‘तत्’ ब्राह्मणभोजनकालेऽपि ‘यत्’ किञ्चित् दातुं ‘शक्नुयात्’, ‘तत् दद्यात्’ ; ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ‘हविः’ ‘अदक्षिणं’ दक्षिणारहितं ‘न स्यात्’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ‡ ॥

केचित्त्वाग्रयणेष्टावधिकृतस्यानीजानस्य नवधान्येनाग्निहोत्रहोममभिधीयते । अत्र एव सूत्रितं कात्यायनेन— “नवेः सायम्प्रातरग्निहोत्रहोमः”—इति § । आपस्तम्बेनाप्युक्तम्— “अपि वा नवानां यवानां सायम्प्रातर्जुहुयात्”—इति । तदत्र निराकरोति— “नाग्निहोत्र इति । अग्निहोत्रकर्मणि नवं ॥

\* ‘दत्त्वा’— इति वृ ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ख ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ग ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ६. ११ ।

॥ ‘भवं’— इति च ।

हविर्न जुहुयात् । ‘यद्’ यदि ‘जुहुयात्’, तदा इन्द्राग्न्यादीना  
माग्रयणदेवताना मग्निहोत्रदेवगणेः \* सह ‘समदं’ कलहं ‘कुर्यात्’ ।  
असमुच्चयहेतुभूतं पृथक्त्वं दर्शयति — “अन्यद्वा इति । ‘आग्र-  
यणम्’ आग्रयणाख्यं कर्म, अग्निहोत्रात् ‘अन्यत्’ ; ‘अग्नि-  
होत्रं’ त्वाग्रयणात् ‘अन्यत्’ ; इति एतत्प्रकरणभेदात् नामधेय-  
भेदाच्चावसितम् । शब्दान्तराभ्याससंज्ञागुणनामधेयानि इह कर्म-  
भेदे प्रमाणत्वेन जैमिनिनोपन्यस्तानि † ॥ १४ ॥ ५ [ ४. ३. ]

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः ‡ ॥

\* ‘मग्निहोत्रदेवतया’— इति च ।

† “शब्दान्तरैः कर्मभेदः ( २. २. १. )”— इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

‡ “कण्डिकासंज्ञा ११३”— इति क, “यजुः ११३”— इति ग, घ-ङ्योः  
कवत् । तत्र १ ब्रा० २० क०, २ ब्रा० ४१ क०, ३ ब्रा० १४ क०, ४ ब्रा०  
९४ क०, ५ ब्रा० १४ क० ; सङ्कलनया ११३ सिद्धम् ॥

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे । प्रजा-  
कामो बहुः प्रजया पशुभिः स्थाः श्रियं गच्छेयं  
यशः स्था मन्नादः स्था मिति ॥ १ ॥

स वै दक्षो नाम । तद्यदेनेन सोऽग्रेऽयजत  
तस्माद्वाचायणयज्ञो नामोतेन मेके व्वसिष्ठयज्ञ  
इत्याचक्षत ऽएष वै व्वसिष्ठ एत मेव तदन्वाचक्षते  
सु एतेन यज्ञेनेजे सु एतेन यज्ञेनेष्ठा येयं प्रजापतेः  
प्रजातिर्य्या श्रीरेतद् बभूवैताः ह वै प्रजातिं  
प्रजायत ऽएताः श्रियं गच्छति यु एवं व्विद्वानेतेन  
यज्ञेन यजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ २ ॥



तेनो ह तत् ईजे । प्रतीदर्शः श्वैक्लः स ये तं \*  
 प्रत्यासुस्तेषां विवचन मिवास विवचन मिवा† ह वै  
 भवति यु एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ३ ॥

त माजगाम । सुप्ता सार्ज्यो ब्रह्मचर्य्यं  
 तस्मादेतुञ्च यज्ञ मनूचेऽन्य सु च सोऽनूच्य पुनः  
 सृञ्जयान् जगाम ‡ ते ह सृञ्जया विद्वान्ब्रह्मचर्य्यज्ञं वै  
 नोऽनूच्यागन्निति ते होचुः सह वै नस्तद्देवैरागन्यो  
 नो यज्ञ मनूच्यागन्निति स वै सहदेवः सार्ज्यस्तदु-  
 प्येतन्निवचन § मिवास्त्यन्यद्वा ऽअरे सुप्ता नाम दध  
 ऽइति सु एतेन यज्ञेनैजे सु एतेन यज्ञेनेष्टा येयं  
 सृञ्जयानां प्रजातिर्य्या श्रीरेतद् बभूवैतां ह वै प्रजा-  
 तिं प्रजायत ऽएतां श्रियं गच्छति यु एवं विद्वाने-  
 तेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ ४ ॥

\* 'स एतं'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः । 'सु ये तं'—  
 इति च दृष्टो डा०-वेबरिण ।

† 'मेव'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'सृञ्जयाजगाम'— इति क, ग ।

§ 'निर्वचन'— इति पाठः सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।

तेनो ह तत् ईजे । देवभागः श्रौतर्षः सु उभ-  
 येषां कुरुणाञ्च सृञ्जयानाञ्च पुरोहित आस परमता  
 वै सा यो न्वेवैकस्य राष्ट्रस्य पुरोहितो, सत्सा न्वेव  
 परमता किं सु यो द्वयोः परमता मिव ह वै  
 गच्छति य एवं विद्वानितेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ५ ॥

तेनो ह तत् ईजे । दक्षः पार्व्वतिस्तु ऽइमेऽप्ये-  
 तर्हि दाक्षायणा राज्यं मिवैव प्राप्ता राज्यं मिव ह  
 वै प्राप्नोति य एवं विद्वानितेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत स वा ऽएकैक एवानूचीनाहुं पुरो-  
 डाशो भवत्येतेनो हास्यासपुत्रानुपबाधा श्रीर्भवति  
 स वै दे पौर्णमास्यौ यजते दे ऽअमावास्ये दे वै मिथुनं  
 मिथुनं मेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥ ६ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्यां ते दे देवते दे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्र-  
 सान्नाय्यं ते दे देवते दे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ८ ॥

अथ यत् पूर्व्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां  
ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुन मेवैतत् प्रजननं  
क्रियते \* ॥ ९ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
मैत्रावरुणौ पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः  
पुरोडाशोऽथैतावेव मित्रावरुणौ हे देवते हे वै मिथुनं  
मिथुन मेवैतत् प्रजननं क्रियत ऽएतदु हास्य तद्रूपं  
येन बहुर्भवति येन प्रजायते ॥ १० ॥

अथ यत् पूर्व्वद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पीर्णमास्यां य मेवामु मुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशु मालु-  
भते सु एवास्य सः † ॥ ११ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रं  
सान्नाय्यं प्रातःसवनं मेवास्याग्नेयः पुरोडाश  
आग्नेयं हि प्रातःसवनं मथैन्द्रं सान्नाय्यं  
माध्यन्दिनं मेवास्य तत्सवनं मैन्द्रं हि माध्य-  
न्दिनं सवनम् ॥ १२ ॥

अथ यत् पूर्व्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमा-

\* 'क्रियते'— इति क, 'क्रियते'— इति ग ।

† 'सः'— इति घ, ङ ।

वास्यायां तृतीयसवनं मेवास्य तद्वैश्वदेवं वै तृतीय-  
सवनं मिन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः \* ॥ १३ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रा-  
वरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरो-  
डाशोऽथ या मेवामूं मैत्रावरुणीं व्वशा मनूबन्ध्या  
मालुभते सैवास्य सैवावरुणी पयस्या स पौर्णमासेन  
चामावाख्येन चेष्टा यावत्सौम्येनाध्वरेणेष्टा जुयति  
तावज्जयति तद् खुलु महायज्ञो भवति ॥ १४ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पौर्णमास्या मेतेन वा ऽइन्द्रो वृत्रं महन्नेनो ऽएव  
व्यजयत् याख्येयं विजितिस्तां तथो ऽएवैष एतेन  
पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव विज-  
यतेऽथ यत् सन्नयत्यामावाख्यं वै सान्नाय्यं दूरे तद्  
यदमावाख्येति क्षिप्रं ऽएवैतद्वृत्रं जघ्नुषे तं मेतेन  
रुसेनाप्रोणन् क्षिप्रे ह वै पाप्मानं मपहते य एवं  
विदुः पौर्णमास्यां सन्नयत्येष वै सोमो राजा  
देवानां मन्त्रं यच्चन्द्रमास्त मेतत् पूर्व्वेद्युरभिषुखन्ति  
प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्त मेतद्व्यजयन्ति यदपक्षीयते † ॥ १५ ॥

\* 'देवाः'— इति घ, ङ ।

† 'ते'— इति घ, ङ ।

अथ यत् पूर्व्वद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्या मभिषुणोत्येवैन मेतत्तस्मिन्नभिषुत ऽएत  
 रुमं दधात्येवैतेन रुसेन तीव्रीकरोति स्वदयति ह वै  
 देवेभ्यो हव्यं स्वदते हास्य देवेभ्यो हव्यं य एवं  
 व्विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयति ॥ १६ ॥

अथ यत् पूर्व्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजते ऽमावा-  
 ख्यायां दर्शपूर्णमासयोर्व्वै देवते स्त इन्द्राग्नी ऽएव ते  
 ऽएवैतदुज्जसा प्रत्यक्षं यजत्युज्जसा ह वा ऽअस्य  
 दर्शपूर्णमासाभ्या मिष्टं भवति य एव मेतद्  
 वेदुः ॥ १७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
 मैत्रावरुणौ पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः  
 पुरोडाशोऽथैतावेवार्द्धमासौ मित्रावरुणौ य एवा-  
 पूर्य्यते स व्वरुणो योऽपक्षीयते स मित्रस्तावेता  
 रात्रि मुभौ समागच्छतस्तदुभावेवैतत् सह † सन्तौ  
 प्रीणाति सुर्व्वं ह वा ऽअस्य प्रीतुं भवति सुर्व्वं मातं  
 य एव मेतद्देद ॥ १८ ॥

\* 'वेदुः'— इति ग, 'वेद'— इति घ, ङ ।

† 'वेवैतच्छह'— इति पाठश्च दृष्टो डा० वेवैरिण ।

तद्वा ऽएतां रात्रिम् \* । मित्रो व्वरुणे रेतः  
सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्यते तद्यदे-  
षात्र मैत्रावरुणी पयस्यावकृप्ततमा भवति ॥ १९ ॥

सान्नाय्यभाजना वा ऽअमावास्या । तद्दस्तुत्  
पौर्णमास्यां क्रियते स यज्ञावापि सन्नयेज्जामि  
कुर्यात् समुदं कुर्यात् तदेन मद्भ्य ओषधिभ्यः  
सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो  
जातः पश्चाद्दृशे ॥ २० ॥

मिथुनादिद्वा ऽएन मेतत् प्रजनयति । योषा  
पयस्या रेतो व्वाजिनं तद्वा ऽअनुष्टा † यन्मिथुना-  
ज्जायते तदेन मेतस्मान्मिथुनात् प्रजननात् प्रजनयति  
तस्मादिषात्र पयस्या भवति ॥ २१ ॥

अथ व्वाजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति । ऋतुवो  
वै व्वाजिनो रेतो व्वाजिनं तदनुष्ठयेवैतद्रेतः‡ सिञ्चते  
तद्दतुवो रेतः सित् मिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति  
तस्माद्वाजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति ॥ २२ ॥

\* 'रात्रि'— इति घ-ङ्योरपि ।

† 'अनुष्टा'— इति ग ।

‡ 'तदनुष्ठयेवैतद्रेतः'— इति क, ग ।

स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्  
 वैपरीत्य वृषा योषा मधिद्रवति तस्यां रेतः  
 सिञ्चति स वै प्रागेवाग्रे जुहोत्यग्ने व्वीहीत्यनु-  
 वषट्करोति तत् स्विष्टकृद्वाजन् स वै प्रागेव  
 जुहोति ॥ २३ ॥

अथ दिशो व्याधारयति । दिशः प्रदिश आदिशो \*  
 व्विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति पञ्च दिशः पञ्च-  
 र्तुवस्तुदतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥ २४ ॥

तदै पञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा  
 चाग्नीच्च यजमानः पञ्च वा ऽऋतुवस्तुदतूना मेवै-  
 तद् रूपं क्रियते तदुष्वेवैतद् रेतः सिक्तं प्रतिष्ठा-  
 पयति प्रथमो यजमानो भक्षयति प्रथमो रेतः परि-  
 गृह्णानीत्यथो ऽअप्युत्तमो मय्युत्तमे रेतः प्रतितिष्ठा-  
 दित्युपहृत उपह्वयस्तेति सोम मेवैतत् कुर्वन्ति  
 ॥ २५ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ४. ४. ] ॥

आवृत्तिगुणविकृतो दर्शपूर्णमासयागप्रयोग एव दाक्षायण-  
 यज्ञः, तं विधित्सुराख्यायिका माह— “प्रजापतिरिति ।

‘एतेन’ वक्ष्यमाणेन दाक्षायणनामकेन यज्ञेन \* ‘प्रजापतिः’ अहम् अविकृत एव सन् देवमनुष्यादिरूपया ‘प्रजया’, गवादिभिः ‘पशुभिः’ च ‘बहुः’ बहुविधः ‘स्याम्’ भवेयम्, उत्पन्नानां प्रजादीनां मशनार्थं ‘अयं’ सम्पदं गच्छेयं प्राप्नुयाम्, ततोऽहं ‘यशः’ यशस्वी ‘स्याम्’, ‘अन्नादः’ भवेयम् ‘इति’ । एव मेते दाक्षायणयज्ञं कृतवतः प्रजापतेः कामाः, तत इदानीं मपि तादृग्विधकामनायुक्त एव दाक्षायणयज्ञेऽधिक्रियत इत्यर्थः † ॥ १ ॥

तन्नाम निर्ब्रूते— “स वा इति । ‘सः’ खलु प्रजापतिः ‘दक्षो नाम’ अभवत्, तेन प्रथमं मिष्टवात्, ‘तस्मात्’ ‘दाक्षायणयज्ञः’ इत्युच्यते । नामान्तरं मपि कथयति— “उतेन मिति । ‘उत’ अपि च ‘एनम्’ ‘एके’ शाखिनः ‘वसिष्ठयज्ञ इति’ व्यवहरन्ति । ‘एषः’ एव खलु प्रजापतिः ‘वसिष्ठः’ नान्यः ; सर्वश्रेष्ठत्वात् । ‘एत मेव’ दाक्षायणयज्ञं ‘तत्’ तत्र वसिष्ठयज्ञ इति ‘अन्वाचक्षते’ । “एतेनेति । ‘सः’ दक्षशब्दवसिष्ठशब्दवाच्यः प्रजापतिः तच्छब्देन परामृश्यते । “एतद्बभूवेति । ‘एतत्’ एतर्हि ‘ययं’ ‘प्रजापतेः’ सकाशात् ‘प्रजापतिः’ प्रजानां सुत्यपतिः ‘बभूव’, ‘या’ च ‘श्रीः’ निरतिशया प्राजापत्यपदरूपा सम्पत् ‘बभूव’ ‡ । “एता मित्यादि । ‘यः’ ‘विद्वान्’ एतदनुष्ठानस्य फलं जानानः । ‘तस्मात्’ दाक्षायणयज्ञफलकामः ‘एतेन’ ‘यजेत’ ॥ २ ॥

\* “नामफलगुणयोगात् कर्मान्तरम्, गुणविधानं वा सन्निधिसम्पदचनाभ्याम्”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. २, ३ । श्र० ब्रा० ११. १. २. १० दर्शनात् सान्निध्यम्, ११. १. २. १३ दर्शनाच्च सम्पदचनं भवगम्यते ।

† “दाक्षायणयज्ञः प्रजापत्यन्नकामस्य”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. १ ।

‡ विशेषतस्त्विहोपरिष्ठाद् ( ११. १. २. १३. ) द्रष्टव्यम् ।



विहितस्य यामस्य फलान्तरहेतुत्वं मपि परकृत्युपन्या-  
सेन दर्शयति— “तनो हेति । ‘श्वेक्तः’ श्वेक्तस्य पुत्रः , नाम्ना  
‘प्रतीदर्शः’ । “उपसर्गस्य घञामनुष्ये बहुलम्”— इति \* बहुल-  
ग्रहणात् मनुष्यवाचित्वेऽपि घञन्त उत्तरपदे उपसर्गस्य दीर्घः ।  
“स एत ः” मिति । ‘एतं’ प्रतीदर्शम् । ‘सः’ इति व्यत्ययेनैक-  
वचनम् । ते तत्रत्या जनाः ‘प्रत्यासुः’ केनचित्कारणेन प्रति-  
चिक्षिपुः । “असु क्षेपणे ः”—इत्यस्माद्धिट् । तेन च दाक्षायण-  
यज्ञेनेष्टे सति ‘तेषां’ जनानां ‘विवचनं’ विशिष्टवचनं पक्षपात-  
वचनम् ( ‘इव’ ) एव ‘आस’ बभूव , अस्मिन् बहुमानं कृतवन्त  
इत्यर्थः । तद्वृष्टान्तेनेदानीं विददनुष्ठानस्यापि तत्फल माह—  
“विवचन मिव ह वा इति ॥ ३ ॥

पुनरप्यस्य यज्ञस्य विशिष्टफलान्तरहेतुत्वं प्रतिपादयितु  
माख्यायिकया परकृति मुदाहरति— “त माजगामेति । ‘तं’  
प्रतीदर्शं मुपदेशृत्वेनोपासीदन्, सृञ्जयपुत्रः ‘सुप्ता’ नाम ‘ब्रह्मचर्यम्’  
‘आजगाम’ प्राप्तवान् । ‘तस्मात्’ तदुपदेशुः प्रतीदर्शात् ‘एतं’  
दाक्षायणयज्ञम् ‘अन्य सु’ अन्य मपि ‘च’ ‘यज्ञम्’ ‘अनूचे’ ।  
‘सः’ सार्क्ष्यः ‘एतम् अनूच्य’ ‘पुनः’ ‘सृञ्जयान्’ तदाख्यान् जन-  
पदान् ‘जगाम’ ; ‘ते’ च ‘एनं’ ‘विदाञ्चक्रुः’ ज्ञातवन्तः ।  
“उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्”—इति § लिट्याम् प्रत्ययः । कथ  
मिति, तदाह— “यज्ञ मिति । ‘नः’ अस्मदर्थं ‘यज्ञम्’ ‘अनूच्य’

\* पा० सू० ६. ३. १२२ ।

† ‘स ये त’—इत्येव पाठोऽस्मदृष्ट-सर्वमूलपुस्तकेषु ।

‡ दि० प० १०३ धा० ।

§ पा० सू० ३. १. ३८ ।

अधीत्य 'आगन्' आगतोऽभूत् । गमेर्लुङि "मन्त्रे घस"—इति ०  
 च्लेर्लुक्, "हल्जराभ्यः"—इति १ ति-लोपः, "मो नो धातोः"—  
 इति ३ नत्वम् । 'इति' ज्ञात्वा ते सृञ्जया अब्रुवन्,— 'नः' अस्म-  
 दर्थं यः 'यज्ञम्' अधीत्यागमत्, 'सः' तत्सम्बन्धिभिः देवैः सह  
 अगमदिति । ततः प्रभृति 'सः' 'सार्ज्यः' 'सहदेवः' इति सृञ्जया  
 प्रसिद्धोऽभवत् ।

'तत्' तस्मात् कारणात् 'एतत्' एतर्हि, इदानीं मपि  
 ( 'निवचनं' ) निर्वचनं निरन्तरं वचनम् 'अस्ति' व्यवहारो  
 लोके § विद्यते । वचनस्य स्वरूपं दर्शयति— "अन्यदा इति ।  
 पूर्वं हि सार्ज्यः 'सुप्ता नाम' अभवत्, अधुना तु देवैः महागम-  
 नात् 'सहदेवः' इति 'अन्यत्' नाम 'दधे' धारितवान् इति ।  
 'सः' च सार्ज्यः स्वजनपदेषु 'एतेन' दाक्षायण्यज्ञेन 'ईजे' इष्ट-  
 वान् । "स एतेन यज्ञेनेष्टा"—इत्यादि, एतस्य सार्ज्यस्य फल-  
 प्राप्तिकथनम् ।

"एतां ह वै प्रजाति मिति, इदानीन्तनस्य विदुषोऽनु-  
 ष्ठातुः फलम् । "तस्मादा एतेनेति । यस्मात् सृञ्जयसम्बन्धि  
 प्रजात्यादिक मपि दाक्षायण्यज्ञफलम्, तस्मादपि कारणा-  
 दित्यर्थः ॥ ४ ॥

इतोऽपि दाक्षायण्यज्ञोऽनुष्ठेय इत्यभिप्रेत्यान्यां परकृति मुप-  
 न्यस्यति— "तेनो हेति । 'ततः' सार्ज्यानुष्ठानान्तरं 'तेन'  
 दाक्षायण्यज्ञेन 'श्रौतर्षः' श्रुतर्षेः पुत्रो 'देवभागः' नाम महर्षिः  
 'ईजे' इष्टवान् । 'सः' च तेन यागीन 'कुरूणां च सृञ्जयानां च'

\* पा० सू० २, ४, ८० ।

† पा० सू० ६, १, ६८ ।

‡ पा० सू० ८, २, ६४ ।

§ 'व्यवहारलोके'— इति च, कृ ।

राज्ञा सुभयविधाना मपि 'पुरोहितः' बभूव । पौरोहित्यस्य फलरूपता माह— “परमता वा इति । ‘या’ खलु ‘एकस्य’ अपि ‘राष्ट्रस्य’ ‘पुरोहितः’ ‘असत्’ भवति, ‘सा’ खलु ‘परमता’ उत्कृष्टता, तस्य सर्वश्रेष्ठं भवतीति यावत्; ‘यः’ तु ‘द्वयोः’ राष्ट्रयोः पुरोहितो भवति, सैव खल्वतिशयिता परमतेति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । इदानीन्तनविहदनुष्ठानस्यापि तत्फलमाह— “परमता मिवेति ॥ ५ ॥

फलान्तरप्रतिपादनायान्यां परकृतिमुपन्यस्यति— “तेनो ह तत ईज इति । पर्वतो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रः ‘पार्वतिः’, ‘दक्षः’, स एतेनेष्टा राज्यं प्राप्नोत् । ततः ‘एतर्हि’ इदानीं मपि ‘दाचायणाः’ तत्तत्तानभूता राजानः ‘राज्यं प्राप्ताः’ एव भवन्ति । “राज्यं मिव ह वा इति, अनुष्ठानतुः फलम् ।

अत्र हि दाचायण्यज्ञसम्पद्भूते द्वे पौर्णमास्ये द्वेऽमावास्ये यजेतेति दर्शपूर्णमासयोरनुष्ठानं वक्ष्यति \* । तत्र पौर्णमास्यां हो पुरोडाशो,— आग्नेयोऽग्नीषोमीयश्च ; अमावास्यायां मपि हो,— आग्नेय ऐन्द्राग्नश्च । तयोः प्रत्यहं ऐकैकशोऽनुष्ठानमाह— “स वा इति । ‘अनूचीनाहं’ प्रत्यहम् ‘एकैक एव’ ‘पुरोडाशो भवति’ पूर्वस्मिन् पूर्णमासप्रयोगे एक एव पुरोडाशः कर्तव्यः, उत्तरस्मिन् दिनेऽप्येकः पुरोडाशः प्रयोक्तव्यः । तत्राग्नीषोमीयी हावप्येकस्मिन्नित्यर्थः † । एवं दर्शप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् । ऐकैकशोऽनुष्ठानस्य फलमाह— “एतेनो हास्येति । ‘असपत्नानुपवाधा’ सपत्नेः शत्रुभिरवाधिता ।

\* “अत्र ह्येव सा सम्पत्सम्पद्यते, द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेते द्वे अमावास्ये, अत्रो एव खलु सा सम्पद् भवति”—इति उपरिष्ठाद् ११ का० १, २, १३ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।

प्रकृतयोरेव दर्शपूर्णमासयोर्योऽय माहत्तिलक्षणे गुणः  
फलायाभिधीयत इत्यवादिष्य, त मिदानीं विधत्ते — “स वा  
इति । हित्सङ्ख्यां प्रशंसति — “हे वै मिथुन मिति ॥ ६ ॥

पूर्वस्यां पौर्णमास्या मनुष्ठेयं यागं विधाय प्रशंसति — “अथ  
यत् पूर्वद्युरिति । “ते हे देवते इति । अग्नीषोमयोर्व्यासक्तयो-  
रेव देवतात्वात् अधिष्ठानदित्वापेक्षया देवतयोर्द्वित्वं मन्त-  
व्यम् ॥ ७ ॥

परस्मिन्महनि यागद्वयं विधत्ते — “अथ प्रातरिति । पूर्वद्यु-  
रग्नीषोमीयेष्टेष्टा परेद्युः प्रातः काले आग्नेयपुरोडाशकयागः  
प्रथमं कर्त्तव्यः, तत इन्द्रदेवताकं सान्नाय्यं दधि प्रयोक्तव्यम् \* ।  
एतद् यागद्वयं सम्भूय प्रशंसति — “ते हे इति ॥ ८ ॥

अमावास्याप्रयोगेऽपि पूर्वद्युः कर्त्तव्य माह — “अथ यत्  
पूर्वद्युरिति । प्रशंसति — “ते इति । अग्नीषोमीयवदत्रापि  
देवतादित्वं मवसेयम् † ॥ ९ ॥

परेद्युरनुष्ठेयं यागद्वयं विधाय प्रशंसति — “अथ प्रातरिति ।  
‘मैत्रावरुणी’ मित्रावरुणदेवताका, पयसो विह्वतिः ‘पयस्या’ ‡ ;  
तप्तं हि पयो दध्ना संस्कृतं सत् पयस्या भवति § । “नेद्यज्ञादि-  
त्यादि । ‘यज्ञात्’ प्रकृताद् यागात् ‘नेत्’ नेव ‘अयानि’ वियुक्ता  
गच्छानि ‘इति’ अनेनेवाभिप्रायेण आग्नेयः ‘पुरोडाशः’ क्रियते ;  
न तु पूर्णमासप्रयोगवान् देवतयोर्द्वित्वसम्पादनाय । यतः पयस्या-

\* “सान्नाय्यवत् प्रातः— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ५ ।

‡ “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ७ ।

§ “श्वते वा दध्ना नयति— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ८ ।

भाजौ 'मित्रावरुणी' स्वत एव 'ई देवते' अत इत्यर्थः । गत मण्यत् । "एतदु हास्येति । येन रूपेणानुष्ठाता प्रजया पशु-  
भिष 'बहुः' बहुविधो भवति । 'एतत्' एव मिथुनात्मकं हित्वम्  
'अस्य' यज्ञस्य 'तद्रूपम्' इत्यर्थः ॥ १० ॥

अस्य दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागरूपतां प्रतिपादयति—  
"अथ यदित्यादिना । "अमु सुपवसथ इति । सुत्यादिवसात्  
पूर्वं महारूपवसथः । प्रकरणान्तरे विहितत्वेन विप्रकर्षादमु मिति  
विप्रकृष्टवाचिना अदशशब्देनाग्नीषोमीयस्य पशोः परामर्शः ।  
"स एवास्येति । 'अस्य' यज्ञस्य पूर्वद्वुरनुष्ठेयो योऽग्नीषोमीयः  
पुरोडाशः, 'स एव सः' अग्नीषोमीयः पशुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रातरनुष्ठेययोराम्नेयैन्द्राग्न्योर्यागयोः प्रातर्माध्यन्दिनसवनरूपता  
मुपपादयति— "अथ प्रातरिति । आग्नेयपुरोडाशस्य प्रातस्सवनस्य  
चैकदेवताधिष्ठितत्वात् तादात्म्यम् ; सात्राथ्यमाध्यन्दिनसवनस्य  
चेन्द्रदेवत्वसाम्यात् तथात्वम् ॥ १२ ॥

दर्शं पूर्वद्वुरनुष्ठेयस्यैन्द्राग्नपुरोडाशस्य तृतीयसवनरूपता माह  
— "अथ यदिति । "इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः"—इति । इन्द्रा-  
ग्न्योर्विश्वेषु देवेष्वन्तर्भावात् ऐन्द्राग्नपुरोडाशतृतीयसवनयोरनेक-  
देवत्वसाम्याच्च तादात्म्यम् ॥ १३ ॥

दर्शं परेद्युः प्रातरनुष्ठेयस्य पयस्यायागस्यानूबन्ध्यारूपता  
माह— "अथ प्रातरिति । "नेद्यज्ञादिति । आग्नेयपुरोडाश-  
यागस्यानुष्ठानविहिताद्यज्ञादेव गच्छति ; प्रसंस्त्रंशो माभूदित्य-  
नेनैवाभिप्रायेण ; न तु तेन किञ्चिदपि सोमयागसाम्यं सम्पाद्यते ।  
"अमू मैत्रावरुणी मिति । सोमप्रकरणे विहितत्वेन विप्रकृष्टाया  
अनूबन्ध्याया अदशशब्देन परामर्शः । "सैवास्येति । 'अस्य'

दाक्षायणयज्ञस्य या 'मेवावरुणी पयस्या', सोमेऽनुष्ठीयमाना अनूबन्ध्या एव सेत्यर्थः । इयं दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागसाम्यं सम्पाद्य, तत एव हेतोः फलसाम्यं माह— “स पौर्णमासेन चेति । ‘सौम्येन’ सोमद्रव्यसाध्येन यागेनेत्यर्थः । “तदु खल्विति । ‘तत्’ तस्मादेव ‘खलु’ कारणात् दाक्षायण्यागो ‘महायज्ञः’ सोमयागो ‘भवति’; स हि महायज्ञ इत्याख्यायते । अत एव तैत्तिरीयके सोमयागप्रकरणे समाम्नायते— “ते देवा एतं महायज्ञं मपश्यन्”—इति \* ॥ १४ ॥

अथेतद्दाक्षायणं यज्ञं प्रकारान्तरेण प्रशंसन् पौर्णमासप्रयोगे पूर्वद्युरनुष्ठेयं अग्नीषोमीययागं मनूय स्तौति— “अथ यत् पूर्वद्युरिति । “एतेन वा इत्यादि । ‘एतेन’ खलु अग्नीषोमीययागेन पुरा ‘इन्द्रो वृत्रम् अहन्’ प्राणापानरूपयोरग्नीषोमयोर्हविषा वृत्रयोर्निष्क्रमणादि वृत्रो मृतः । तथा चाम्नायते— “तस्माज्जज्ञभ्यमानादग्नीषोमौ निरक्रामताम्, प्राणापानी वा एनं तदजहिता मिति† । ‘अस्य’ इन्द्रस्य ‘या इयं विजितिः’ प्रसिद्धा, ‘तां’ ‘व्यजयत’ इति सम्बन्धः । “विपराभ्यां जेः”—इत्यात्मनेपदम् ‡ । “तथो एवेति । इन्द्रो यथा, ‘तथा’ एव ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘एतेन’ अग्नीषोमीययागेन ‘पाप्मानं’ पापभूतं ‘द्विषन्तं’ द्वेष्टारं ‘भ्रातृव्यं’ शत्रुं ‘हन्ति’ ॥

पौर्णमास्यां ‘यः’ सान्नाय्ययागो विहितः, तं मनूय स्तौति— “अथ यदित्यादिना । “आमावास्यं वा इति । इन्द्रवीर्यस्य सन्नयनसाधनं दधिपयोरूपं हविः ‘आमावास्यं वै’ अमावास्या-

\* तै० सं० ३. २. २. ४।

† तै० सं० २. ५. २. ४।

‡ पा० सू० १. ३. १६।

सम्बद्ध मेव । ‘अमावास्या’ तिथिः ‘इति’ ‘यत्’, ‘तद्’ ‘दूरे’ ; प्रतिपदादिभिश्चतुर्दशीभिर्व्यवधानात् । पुरा खलु देवाः ‘क्षिप्रे एव’ अल्पकाले एव शीघ्रम् ‘एतत्’ इत्थं ‘वृत्रं’ ‘जघ्नुषे’ हन्तवे इन्द्राय । “क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्”—इति \* कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । ‘तं’ पौर्णमास्यां वृत्रं हतवन्त मिन्द्रम् ‘एतेन’ सान्नाय्य-रूपेण ‘रसेन’ ‘अप्रीणन्’ अतर्पयन् । ‘यः’ यजमानः ‘एवं विद्वान्’ पौर्णमास्या मिन्द्र मुद्दिष्य सान्नाय्ययागं करोति, स इन्द्रवत् क्षिप्र मेव सूक्ष्मं पापरूपं शत्रुम् अपहते’ हिनस्ति । तदेव मन्त्रग्रनं प्रकारान्तरेण स्तौति— “एष वा इति । योऽयं पौर्ण-मास्यां सम्पूर्णः ‘चन्द्रमाः’, ‘एषः’ खलु ‘राजा सोमः’ ‘देवाना मन्त्रम्’ ; ‘तं’ सोमरूपम् ‘एतत्’ अन्नम् ‘प्रातः भक्षयिष्यन्तः’ पूर्वदिवसे ‘अभिषुण्वन्ति’ रसभावं प्रापयन्ति । ‘तम् एतत्’ अपर-पक्षे ‘भक्षयन्ति’ । ‘यत्’ यस्माद् असौ प्रत्यहं तत्र ‘अपक्षीयते’, अतो भक्षयन्तीति सम्बन्धः ॥ १५ ॥

तथाविध मेवैतदनुष्ठान मित्याह— “अथ यत् पूर्वद्युरग्नी-षोमीयेणेति । “अभिषुणोत्येवैन मिति । पूर्वद्युः कर्तव्या-भिषवस्थानीयोऽय मग्नीषोमीययाग इत्यर्थः । ‘अभिषुते तस्मिन्’ सोमे ‘एतं’ सान्नाय्यरूपं ‘रसं’ परेद्युः ‘दधाति’ स्थापयति । ‘एतेन’ च सान्नाय्यरसेन तं सोमं ‘तीव्रीकरोति’ तीव्र मतिशयेन मदकरं करोति, तथा तेन सान्नाय्यरसेन ‘देवेभ्यः’ देवार्थं ‘हव्यं’ हविः ‘स्वदयति’ स्वादूकरोति । ‘अस्य’ यजमानस्य तत् ‘हव्यं’ हविः ‘देवेभ्यः’ ‘स्वदते’ रोचते । “रुच्यर्थानां प्रीयमाणः” इति † सम्प्रदानत्वात् देवेभ्य इति चतुर्थी ॥ १६ ॥

दर्शयागे पूर्वदिवस मनुष्ठेय मेन्द्रान्नयाग मनूद्य स्तौति—  
“अथ यदिति । ‘इन्द्रान्नी एव’ खलु ‘दर्शपूर्णमासयोर्देवते’ ;  
तत्रत्यप्रथमपुरोडाशस्याग्निदेवत्वत्वात् , साम्राय्यस्य चैन्द्रत्वात् । “त  
एवेतदित्यादि , निगदसिद्धम् ॥ १७ ॥

दर्शप्रयोगे परेद्युरनुष्ठेयावपि यागावनूद्य स्तौति— “अथ  
प्रातरिति । “अथैतावेवेत्यादि । पयस्याया देवते ‘मित्रवरुणौ’,  
‘एतावेव अर्हमासौ’ । एतदेव विवृणोति— “य एवेति । ‘य  
एव’ अर्हमासः ‘आ’ समन्तात् ‘पूर्यते’ वर्धमानया चन्द्रकलया  
पूर्णो भवति , ‘सः’ अमृतरससम्बन्धाद् ‘वरुणः’, स हि रसाभि-  
मानी देवः ; ‘यः’ अर्हमासः ‘अपचीयते’ क्षीयमाणचन्द्रकालयुक्तो  
भवति , ‘सः’ अपरपक्षः ‘मित्रः’ ; ‘तौ’ चन्द्रसूर्यात्मकौ मित्रा-  
वरुणौ ‘उभौ’ ‘एतां रात्रिं’ दर्शरात्रिं ‘समागच्छतः’ सह समाप्नुतः ।  
‘तत्’ तस्मात् कारणात् ‘एतत्’ एतेन मैत्रावरुणयागेन  
‘उभावेव’ तौ ‘सह सन्तौ’ सह भवन्तौ युगपत् ‘प्रीणाति’  
तर्पयति । “सर्वं ह वा अस्येति , वेदितुः फलम् ॥ १८ ॥

, मित्रावरुणदेवद्वयं प्रकारान्तरेण स्तौति— “तद्वा एता  
मिति । ‘एतां रात्रिम्’ । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया \* । ‘मित्रः’  
अपरपक्षाभिमानौ देवः , ‘वरुणे’ शुक्लपक्षाभिमानिने देवे ‘रेतः’  
सिञ्चति । ‘तत्’ तथा सति ‘एतेन रेतसा’ स शुक्लपक्षः ‘प्रजा-  
यते’ उत्पद्यते ; ‘यत्’ यतः कारणात् अस्मिन् चन्द्रः ‘आपूर्यते’ ।  
‘यत्’ यस्मात् एवम् , ‘तत्’ तस्मात् ‘एषा’ मित्रावरुणदेवताका  
‘पयस्या’ ‘अवक्लृप्तमा’ अतिशयेनावक्लृप्ता , क्लृप्तसामर्थ्या  
भवति ॥ १९ ॥

\* “कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे”— इति पा० सू० २. ३. ५ ।



इतोऽपि पयस्यायागो दर्शं युक्ततर इत्याह— “सान्नाय्यभाजना वा इति । ‘सान्नाय्यभाजना’ सान्नाय्ययागस्य स्थानभूता अमावास्या ; ऐन्द्रदध्मावास्याया मिति दधिपयसोर्यागस्य प्रकृतौ तत्र विहितत्वात् । ‘तत्’ तथा सति ते हे ऐन्द्रसान्नाय्ये ‘अदः’ विप्रकष्टः ‘पौर्णमास्याम्’ एव ‘क्रियते’ । यद्यपि ‘सः’ पौर्णमास्यां सान्नाय्यं यजमानः ‘अत्र’ दर्शं ‘अपि’ ‘सन्नयेत्’, तदा कृतस्यैव पुनःकरणात् ‘जामिता’ दोषः स्यात् ; अपि च दर्शपूर्णमासदेवतयोः परस्परं ‘समदं’ कलहं ‘कुर्यात्’ । पूर्णसासे कृतमैन्द्रं सान्नाय्यं परित्यज्य दर्शं मित्रावरुणदेवताका पयस्यैव कार्या । तस्या अपि दधिपयसोर्विकारत्वात् अमावास्यायाः सान्नाय्यभाजनत्वमपि न व्याहृत्यत इत्यर्थः । “तदेन मदभ्य इत्यादि । ‘तत्’ तेन दर्शेऽनुष्ठितेन सान्नाय्ययागेन अष्पु ओषधिवु च प्रविष्टम् ‘एनम्’ सोमं ततः ‘सम्भृत्य’ दधिपयोरूपेण सम्पाद्य , अग्नौ हुत्वा , तानि ‘आहुतिभ्यः’ सकाशात् ‘अधिजनयति’ । ‘स एषः’ चन्द्रः ( सान्नाय्याहुतिभ्यः जातः \* ) प्रतिपदि ‘पश्चाद् ददृशे’ कलारूपेण दृश्यते ॥ २० ॥

पयस्योत्पत्त्यनुनिष्ठादिनो वाजिनस्यापि † होमं विधितुः पयस्यावाजिने सम्भूय स्तौति— “मिथुनादिति । ‘एनं’ चन्द्रं ‘मिथुनात्’ एव हि खलु ‘एतत्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । किन्तर्हि मिथुनम् ? ‘पयस्या’ हि स्त्रीलिङ्गत्वाद् ‘योषा’ स्त्री , ‘वाजिनं’ हि ‘रैतः’ पुरुषस्य वीर्यस्थानीयम् ; ‘तत्’ खलु ‘अनुष्ठा’

\* नाख्येतत् पदद्वयं च-पुस्तके ।

† “दधिपयसोः सारभूतं यत् कठिनं सम्पद्यते , सा पयस्या ; यच्च उदकं पृथग् भवति , तद् वाजिनम्”— इति या० दे० ( का० सू० ४, ४, ६. ) ।

अनुष्ठानात् सम्यक् 'यत्' यत् खलु स्त्रीपुंसलक्षणात् 'मिश्रुनात्'  
'जायते' ॥ २१ ॥

इत्थं वाजिनस्य मिथुनसम्पत्त्यर्थत्वं मुक्त्वा तस्य होमं विधत्ते—  
“अथ वाजिभ्य इति \* । विहितं वाजिनहोमं प्रजोत्पत्तिहेतुत्वेन  
स्तीति— “ऋतवो वा इति । ‘ऋतवः’ खलु वाजिशब्दाभिधेयाः ,  
तेभ्यः । वाजिनहोमात् ऋतुष्वेव सर्वप्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’  
‘सिक्तं’ भवति ; तस्माच्च रेतसः सकाशात् ते ‘ऋतवः’ सर्वाः  
‘प्रजाः’ उत्पादयन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

तस्य वाजिनहोमस्य कालं विधातुं स्तीति— “स वा इति ।  
यज्ञस्य पश्चाद्भागे प्रस्तरपरिधिप्रहरणोत्तरकालं वाजिनहोमः  
कर्त्तव्यः । अत एवोक्तं कात्यायनेन— “वाजिनं निषिच्योत्करे  
करोति , ०—० प्रहृत्य त्वणं तेन चरति , विमुच्य वा सुचौ”—  
इति † । आपस्तम्बोऽप्याह स्म— “परीधीन् प्रहृत्य , संस्त्रवान्तं  
कृत्वा , वाजिनपात्रं मुपस्तीर्य”—इत्यादि । होमे विशेषं  
विधत्ते— “स वा इति । ‘सः’ खलु अध्वर्युः ‘अग्रे’ प्रथमं  
‘प्रागेव’ प्रागपवर्गं मत्स्यं वाजिनं ‘जुहोति’ । “अग्ने वीहि”—  
‘इति’ ‡ यदा होता ‘अनुवषट् करोति’, तदा स्विष्टकृत्स्थानीयं  
वाजिनशेषं मुत्तरपूर्वस्थां दिशि जुहोति § । “स वै प्रागेवेति ,  
प्रधानहोमस्य निगमनम् ॥ २३ ॥

हुतशिष्टेन वाजिनेन दिग्ब्याघारणं विधत्ते— “अथ दिशो  
व्याघारयतीति ॥ । दीर्घधारयाग्नौ प्राच्यादिदिक्षु पातनम् , व्याघा-

\* का० श्रौ० सू० ४. ४. ६ । † का० श्रौ० सू० ४. ४. ६— १२ ।

‡ ऐ० ब्रा० १. ४. ५ द्रष्टव्यम् । § का० श्रौ० सू० ४. ४. १६ क ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ४. १६ ख ।

रणम् । तन्मन्त्रा—“दिशः प्रदिश इत्यादयः ‡ । अनेन वाजि-  
नेन ‘दिशः’ दृष्टा भवन्तु । एव मुत्तरतापि योज्यम् । प्रधानभूताः  
‘दिशः’, दिङ्मध्यवर्तिन्यः ‘प्रदिशः’, ईषदिशः ‘आदिशः’, ‘विदिशः’  
आग्नेयादिकोणदिशः, ‘उद्दिशः’ ऊर्ध्वा दिशः । एवं पञ्चभिर्मन्त्रैः  
स्वाहाकारान्तैः प्राच्यादिक्रमेण पञ्चसु दिक्षु व्यावाराथं “दिग्भ्यः  
स्वाहा”—इति षष्ठेन पूर्वार्द्धे जुहुयात् । तदुक्तं सूत्रकृता—  
“वाजिनशेषेण दिशो व्याधारयति, दिश इति प्रतिमन्त्रम्; प्रदक्षिणं  
पुरस्तात् प्रथमं मुत्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्द्धे च”—इति † । तदेतद्  
व्याधारणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति ॥ २४ ॥

यजमानपञ्चमाना ऋत्विजां भक्षणं विधत्ते— “तद्वै पञ्च-  
वेति ‡ । तद्वक्षणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति । “हेमन्त-  
शिशिरयोः समासेन”—इति § ऋतूनां पञ्चत्वम् । यदेव पञ्चानां  
ऋत्विजां भक्षणम्, एतत् पञ्चसंख्यानां ऋतूनां मेव रूपं क्रियते ।  
“तत् तस्मात् ‘ऋतुषु’ प्राक् ‘सिक्तं’ रेतः” ‘प्रतिष्ठापयति’ प्रतिष्ठितं  
करोति ॥

यजमानस्य प्राथम्यं विधत्ते— “प्रथमो यजमान इति ॥ ।  
ऋत्विग्भ्यः ‘प्रथमः’ पूर्वभावी सन् अहं ‘रेतः’ ‘परिगृह्णानि’ स्वीक-  
रवाणि ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानस्य प्रथमभक्षणं मिल्यर्थः ॥

पक्षान्तरं माह— “अथो अप्युत्तम इति ¶ । पक्षान्तर-  
द्योतकः ‘अथो’-शब्दः । ऋत्विजाम् ‘उत्तमः’ चरमभावी सन्

\* वा० सं० ६, १६, १—५ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, १६, १७ । “स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्गत्वात्” १८ ।

‡ “होत्रध्वर्युज्जामोदजमानाः”— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, २६ ।

§ ऐ० ब्रा० १, १, १ द्रष्टव्यम् ।

॥ ¶ “प्रथमो वोभयतस्तु यजमानः”— इति का० श्रौ० सं० ४, ४, २७ ।

यजमानो भक्षयेत् । एव मपि विरोधो नास्तीति 'अपि'-शब्द-  
स्यार्थः । 'उत्तमे' चरमभाविनि यजमाने क्त्वाच्च 'रेतः' 'प्रति-  
तिष्ठात्' प्रतितिष्ठेत्, न मा मतिवर्त्तेत, इत्यनेनाभिप्रायेण यज-  
मानस्य चरमभक्षणं मित्वर्थः \* ॥

अथ मन्त्रानुष्ठापनपूर्वकं तद्वक्षणं कर्त्तव्यमिति विधत्ते—  
“उपहृत इति । “उपहृतः”—इत्यनुष्ठापनमन्त्रः, “उपहृत्यस्व”—  
इत्यनुष्ठापनमन्त्रः । एतच्च द्वादशलक्षणां तृतीये विचारितम् † ।  
कात्यायनेनाप्युक्तम्—“उपहृत्यस्वेत्यामन्त्रा भक्षणं उपहृत इति  
प्रसूतः”—इति ‡ । एवञ्च सति 'एतद्' वाजिनम् ऋत्विजः 'सोम  
मेव' सोमसदृशं मेव 'कुर्वन्ति'; उपहवसाधनं हि सोम-  
धर्मः § ॥ २५ ॥ १ [४. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

\* “ऋतूनां त्वा वाजिनां वाजिनं भक्षयामीति”—इत्यादयश्च मन्त्रविधयः  
का० औ० ४. ४. २३-२४-२५-सूत्रेषु द्रष्टव्याः ।

† मी० जे० सू० ३. ५. १६—५३ सूत्राणि, तेषु ६—१६ अधिकरणानि च  
द्रष्टव्यानि । विशेषतस्त्विह “वचनादनुज्ञातभक्षणम्, यदुपहृत उपहृत्यस्वेत्य-  
नेनानुष्ठापयेद्विज्ञातम्”—इति सूत्रद्वयं विवेच्यम् (४०, ४१ सू०; १४, १५ अधि०) ।

‡ का० औ० सू० ४. ४. १६ । “युक्तनामभिर्वा”—इति तदुत्तरम् (२०) ।

§ का० औ० सू० ४. ४. २१ । “दाक्षायर्षं वा दक्षिणा”—इति ( का०  
औ० सू० ४. ४. २८ ) पात्र दक्षिणाविधिः । ‘दाक्षायर्षं सुषर्षं सुष्यते ०—  
तच्च शतमानं रक्तिकाशतपरिमितम् ( २०. १. १५ सू० )’—इत्यादि  
च तत्र वृत्तौ याज्ञिक देवः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।  
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोरुहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
सप्राञ्चीन् पञ्चमीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुमौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मराजिद्विपसहितरथौ मायणिः सिङ्गणार्थी,  
व्यथ्राणीद्विष्वक्क्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं क्षपावान् गुडकृत मजडो राजते राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिमल्लत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
मायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

( अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽइदं मुय ऽएक एवास । सु  
ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत  
स प्रजा असृजत ता अख्य प्रजाः सृष्टाः परावभूवु-  
स्तानीमानि ब्रूयांसि पुरुषो वै प्रजापतंर्नेदिष्टं  
द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो ब्रूयांसि ॥ १ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैको-  
ऽभूव मेव मु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति सु द्वितीयाः  
ससृजे ता अख्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं  
यदन्यत् सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृज ऽद्वित्याहस्ता अख्य  
परैव बभूवुस्तु ऽद्विमे सर्पा एता ह न्वेव द्वयीर्याक्ष-  
वल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनर्ह्येवा \* ॥ २ ॥

सोऽर्चञ्छ्राम्यन् प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे । कथं नु  
मे प्रजाः † सृष्टाः पराभवन्तीति सु हैतदेव ददर्शन-  
शनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति सु आत्मन एवाग्ने  
स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे सु प्रजा असृजत ता

\* 'चा'— इति घ, ङ ।

† 'प्रजाः'— इति घ, ङ ।

अस्य प्रजाः स्तुनावेवाभिपद्य तास्तुतः सम-  
बभूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥ ३ ॥

तस्मादेतदृषिणाभ्युनूक्तम् । प्रजा ह तिस्रो  
ऽअत्याय मीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता एवैतदभ्य-  
नूक्तं न्यत्या अर्कं मभितो ब्विविश्र ऽइत्यग्निर्ब्वी  
ऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्नि मभितो  
निविष्टास्ता एवैतदभ्युनूक्तम् ॥ ४ ॥

महद्ब्र \* तस्यौ भुवनेष्वन्तरिति । प्रजापति मेवै-  
तदभ्युनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै  
हरितस्ता अयं व्यायुः पवमान आविष्टस्ता एवैष-  
ऽर्गभ्युनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव  
प्रजापतिः प्रजा अहजतेदं हि यदैव स्त्रियै स्तुना-  
वाप्यायेते ऽजुधः पशूना मुथैव यज्जायते तज्जायते  
तास्तुत स्तुनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥ ५ ॥

तद्वै पय एवान्नम् । एतदध्यये प्रजापतिरनु-  
मृजयत तद्वा ऽअन्न मेव प्रजा अन्नाद्भि सम्भवन्तीदं  
हि यासाम्पयो भवति स्तुनावेवाभिपद्य तास्तुतः सम्भ-  
वन्त्यथ यासाम्पयो न भवति जातु मेव ता अथा-

दयन्ति तुदु ता अन्नादेव सम्भवन्ति तस्मादन्न मेव  
प्रजाः ० ॥ ६ ॥

स युः प्रजाकामः । एतेन हविषा यजत ऽआ-  
त्मानमैवेतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतः † ॥ ७ ॥

स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।  
अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता सु प्रजापति-  
स्तस्मादाग्नेयो भवति ॥ ८ ॥

अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै सोमस्तुदग्नौ  
प्रजनयितुरि सोमः रेतः सिञ्चति तत् पुरस्तान्मिथुनं  
प्रजननम् ॥ ९ ॥

अथ सावित्रः ‡ । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो  
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां  
प्रसविता प्रजापतिर्मध्यतुः प्रजनयिता तस्मात्  
सावित्रो भवति ॥ १० ॥

अथ सारस्वतश्चरुर्भवति । पौष्णश्चरुर्योषा वै  
सुरस्वतौ वृषा पूषा ततः पुनर्मिथुनं प्रजननं मेतु-

\* 'प्रजाः'— इति घ, ङ ।

† 'भूतः'— इति घ, ङ ।

‡ 'त्रः'— इति घ, ङ ।



स्माद्वा ऽउभयुतो मिथुनात् प्रजुननात् प्रजापतिः  
 प्रजाः समृज ऽइतुश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुथो ऽएवैष  
 एतस्मादुभयत एव मिथुनात् प्रजुननात् प्रजाः  
 सृजत ऽइतुश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुस्माद्वा ऽएतानि  
 पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ११ ॥

अथातः पयस्याया एवायुतनम् । मारुतस्तु सप्त-  
 कुपालो विंशो वै मरुतो देवविंशस्तु हेतु मनि-  
 पेध्रा \* इव चेरुस्ताः प्रजापतिं यजमान मुपेत्योदुर्व्वि  
 वै तं मथिष्यामह ऽइमाः प्रजा या एतेन हविषा  
 खच्युस ऽइति ॥ १२ ॥

स ऐक्षत प्रजापतिः । परा मे पृर्व्वीः प्रजा  
 अभूवन्निमा उ चेदिमे विमयुते न ततः किञ्चन  
 परिशेच्यत ऽइति तेभ्य एतं भागं सकल्पयदेतं मारु-  
 तं सप्तकुपालं पुरोडाशं स एष मारुतः सप्त-  
 कुपालस्तद्यत् सप्तकुपालो भवति सप्त-सप्त हि  
 मारुतो गणरुस्मान् मारुतः सप्तकुपालः पुरोडाशो  
 भवति ॥ १३ ॥

तं वै स्वतवीभ्य इति कुर्यात् । स्वयं हि त

ऽएतं भागं मुकुर्व्वतोतो स्तुतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये  
न व्विन्दन्ति स उ खलु मारुत एव स्यात् स वा  
ऽएष प्रजाभ्य एवाहिंसायै क्रियते तस्मान्  
मारुतः \* ॥ १४ ॥

अथातः पयस्यैव † । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत् करोति तद्याः पूर्व्वैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता एतस्मात् पयस एतस्यै पयस्यायै सम्भवन्ति ॥ १५ ॥

तस्यां मिथुन मस्ति । योषा पयसा रेतो व्व्राजिनं तस्मान् मिथुनादिष्व मसस्मित मनु प्राजायत तद्यदेतस्मान् मिथुनादिष्व मसस्मित मनु प्राजायत तस्मादैष्वदेवी भवति ॥ १६ ॥

अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एतैर्व्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्य्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथो ऽएवैष एतद्या एतैर्हविर्भिः प्रजाः

\* 'मारुतः' — इति क, घ, ङ ।

† 'वै' — इति घ, ङ ।

सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति तस्माद्  
द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १७ ॥

अथात आहुदेव \* । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं  
व्विसृष्ट मसत् सर्व्वं मसद्वैश्वदेव मसदिति चेधा  
वर्हिः सन्नद्धं भवति तत् पुनरेकधैतद्वि प्रजुननस्य  
रूपं प्रजुनन मु ह्रीदं पिता माता यज्जायते तत्  
तृतीयं तस्मात् चेधा सत् पुनरेकधा प्रस्व उप-  
सन्नद्धा भवन्ति तं प्रस्तरं गृह्णाति प्रजुनन मु  
ह्रीदं प्रजुनन मु हि प्रस्वंस्तस्मात् प्रसुः प्रस्तरं  
गृह्णाति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति † । अग्निं  
ह वै जायमान मुनु प्रजापतेः प्रजा जज्ञिरे‡ तथो  
ऽएवैतस्याग्नि मेव जायमान मुनु प्रजा जायन्ते  
तस्मादासाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति § ॥ १९ ॥

नवप्रयाजं भवति । नवानुयाजं दृशाक्षरा वै  
व्विराड्यैता मुभयतो न्यूनां व्विराजं करोति

\* 'व'— इति घ, ङ ।

†, § 'मन्यन्ति'— इति ग ।

‡ 'जज्ञिरे'— इति च दृष्टो ङा०-विवरेण ।

प्रजुननायैतस्माद्वा ऽउभयतो न्यूनात् प्रजुननात् प्रजा-  
पतिः प्रजाः समृज ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुथो  
ऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजुननात् प्रजाः  
मृजत ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुत्स्मान्नवप्रयाजं  
भवति नवानुयाजम् ॥ २० ॥

त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्ति । ज्याय इव  
हीदु हविर्यज्ञाद्युत्र नवप्रयाजं नवानुयाज मुथो  
ऽअथेक मेव स्याद्वविर्यज्ञो हि तस्य प्रथमजो गौर्द-  
क्षिणा ॥ २१ ॥

एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञेनेष्टा येयं प्रजापतिः  
प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैतां ह वै प्रजातिं प्रजा-  
यत ऽएतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन  
युजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ २२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५, १. ] ॥

अथ चातुर्मास्यानि \* विधित्सुस्तत्र वैश्वदेवस्य प्रजासृष्टि-  
हेतुता मास्थायिकया प्रतिपादयति— “प्रजापतिर्ह वा इति ।

\* चातुर्मास्यशब्देन इतः क्रमाद् विधास्यमानानि वैश्वदेववरुणऽघाम  
साकमेधसुनामीरीयमग्निनि चत्वारि पर्वाण्यभिधीयन्ते ।

इदं दृश्यमानं चराचरात्मकं जगत् तत्समयसृष्टेः प्राक्काले प्रजापतिरेक एव आसीत् ; कार्यस्य जगतः कारणभूते प्रजापती लीनत्वात् । सः असहायः एक एव आसीदित्यर्थः ।

ततः सकाशात् प्रजासृष्टिं दर्शयति—“स ऐक्षतेत्यादिना । “अश्राम्यदिति । प्रजोत्पत्तिकारणपर्यालोचनया श्रान्तः खिन्नोऽभवदित्यर्थः । “अमु तपसि खेदे च” \* । “शमा मष्टानाम्”—इति † दीर्घः । स च श्रान्तः सन् प्रजोत्पत्तिकारणं तपस्तप्तवान् । “स प्रजा इत्यादि , निगदसिद्धम् ।

“तानीमानीति । या खलु सृष्टेः पराभूताः , ‘तानि इमानि’ ‘वयांसि’ जातानि , पक्षिरूपेणामवन्नित्यर्थः । एतदुपपादयति—“पुरुषो वा इति । ‘पुरुषः’ मनुष्यः खलु सृष्टानां प्रजानां मध्ये ‘प्रजापतेः’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमं कार्यम् । स च पादद्वयोपेतः , तत्परिणामरूपत्वात् पक्षिणोऽपि पादद्वयोपेता दृश्यन्ते । तस्माद् वयसां पुरुषसाधर्म्यात् तेषां तत्परिणामरूपत्वमवसेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

पुनरन्यथा प्रजासृष्टि माह—“स ऐक्षतेति । “यथा न्वेवेति । ‘यथा’ खलु ‘पुरा’ प्रजासृष्टेः पूर्वम् ‘एकः’ असहायः ‘अभूवम्’, ‘अप्येतद्दि’ इदानीं प्रजासृष्ट्युत्तरकाल मपि तथैव ‘एकः एव अस्मि इति’ । एव मीक्षित्वा ‘सः’ पुनः अन्याः प्रजाः ‘ससृजे’, पूर्वसृष्टप्रजापेक्षया आसां द्वितीयत्वम् । “परेवेति । ‘अस्य’ ‘ताः’ अपि प्रजाः पराभूताः ‘एव’ अभवन् । ‘तत्’—इति विधेयापेक्षं नपुंसकत्वम् ; ताः पराभूताः द्वितीयसृष्ट्युत्पन्नाः प्रजाः ,

\* दि० प० ६८ धा० ।

† पा० सू० ७. ३. ७४ ।

यत् 'इदं' 'क्षुद्रम्' अल्पशरीरं 'सरीसृपं' सर्पणशीलं सर्पव्यति-  
रिक्तं प्राणिजातं दृश्यते, तदात्मना परिणता इत्यर्थः । "तृतीयाः  
ससृज इत्याहु रिति । पुनरपि स प्रजापतिः सृष्टिद्वयापेक्षया  
'तृतीयाः' अन्याः प्रजाः 'ससृजे' सृष्टवान् 'इति' 'आहुः' अभिज्ञाः  
कथयन्ति । 'ताः' अपि 'अस्य' परामूताः अभवन् । 'ते इमे'  
सर्परूपेण दृश्यन्ते ॥

तृतीयसृष्टावाहुरिति यः परोक्षनिर्देशः, तदभिप्राय माह  
—“एता हेति । 'एताः' पूर्वीक्ताः 'द्वयीः' द्विविधाः 'एव' प्रजाः  
प्रजापतिना सृष्टाः इति 'आज्ञवल्क्यः' महर्षिः 'उवाच' उक्तवान्,  
न तृतीयानां प्रजानां सृष्टिः; 'ऋचा' ऋग्वेदेण \* 'पुरः' 'द्वयी'  
द्विविधा अपि 'प्रजाः' सृष्टा इति प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

स चोदाहरिष्यते — “सोऽर्चन्नित्यादि । त्रिवारं सृष्टानां  
प्रजानां पराभवकारणं किं मिति विचार्य 'सः' खलु 'एतत् एव'  
कारणं 'ददर्श' । एतच्छब्दनिर्दिष्टं दर्शयति — “अनशनत-  
येति । उत्पन्नानां प्रजानां मशनराहित्यं पराभवकारणं मित्यर्थः ।  
उत्पत्त्यमानानां प्रजानां मनशनत्वं माभूदिति प्रजापतिना कल्पित  
मशन माह — “स आत्मन एवेति । 'अग्रे' सृष्टेः प्रागेव प्रजा-  
पतिः 'आत्मनः' स्वशरीरस्य एव सम्बन्धिनोः 'स्तनयोः' 'पयः'  
'आप्याययाञ्चक्रे' आप्यायितं पूरितं कृतवान् । एव मशनं  
प्रकल्प्य अनन्तरं या प्रजाः असृजत, 'अस्य' प्रजापतेः 'ताः'  
सृष्टाः 'प्रजाः' पयसा पूर्यो 'स्तनौ' 'अभिपद्य' जीवनवत्योऽभवन् ।  
'ततः' अनन्तरं 'ताः' प्रजाः 'सम्बभूवुः' सम्यगुत्पन्ना लब्धात्मानो-  
ऽभवन् । पराभवं न प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

\* त मिमं मन्त्र मिहैवोपरिष्ठात् चतुर्थपञ्चमयोरुद्घृत्य आख्यास्यते ।

उक्तेऽर्थे ऋद्धन्तं संवादयति— “तस्मादिति । यस्मादर्थे  
एव मासीत्, तस्मात् कारणात् तदुक्त मर्थजातम् ‘ऋषिणा’ मन्त्रेण  
‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् \* । तत्र प्रथमपाद मनूद्योक्तार्थ-  
परता माह— “प्रजा हेति । ‘तिस्रः’ त्रिविधाः ‘प्रजाः’  
‘अलायम्’ अत्ययं विनाशम् ‘इयुः’ जग्मुः । ‘ह’-शब्द एतद्-  
ब्राह्मणप्रसिद्धिं द्योतयति † । “तद्या इति । ‘याः’ खलु प्रजाः  
त्रिविधा सृष्टा अन्नाभावहेतुना ‘पराभूताः’, ‘एतत्’ एतेन मन्त्र-  
पादेन ता एवाभिलक्ष्य ‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् ॥

द्वितीयपाद मनूद्य व्याचष्टे— “न्यन्या इति । पयोरूप  
मशनं प्राप्य ‘अन्याः’ प्रजाः ‘अकम्’ अर्चनीय मग्निम् ‘अभितः’  
सर्वतः ‘निविविशे’ निविवेशिरे । “नेर्विशः”—इति ‡ आत्मने-  
पदम्, “इरयो रे”—इति § रे-आदेशः । “तद्या इत्यादि ।  
‘तत्’ तत्र ‘या इमाः प्रजाः’ ‘अपराभूताः’, ‘ताः’ एव, जाठररूपेण  
लौकिकवेदिकभेदेन वावस्थितम् ‘अग्निं’ स्वस्वव्यापाराय पशुपविष्टा  
वर्तन्ते । एतदेतेन पादेन प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

तृतीयपाद मनूद्य व्याचष्टे— “महद् तस्याविति । इत्थं  
देवमनुष्यादिरूपासु प्रजासु सतीषु तस्मिन् प्रजापतिः ‘भुव-

\* ऋ० सं० ८. १०१. १४ ।

† भाष्यकारस्येदं वचनमशङ्क्यम् ; अस्य हि ब्राह्मणग्रन्थस्य ऋग्वेदीय-  
मन्त्रग्रन्थात् परतन्त्रत्वात् । अत एवात्र ऋद्धन्तमानोपन्यासः सङ्गच्छते ।  
वस्तुतः सर्व एव ब्राह्मणग्रन्थाः सर्वेभ्य एव मन्त्रग्रन्थेभ्यः परभवा इत्येति-  
हासिकसिद्धान्त एव ।

‡ पा० सू० १. ३. १७ ।

§ पा० सू० ६. ४. ७६ ।

नेषु 'अन्तः' मध्ये 'महत्' \* अधिकं 'तस्थौ' सर्वोत्कर्षणावस्थितः । गत मन्यत् ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “पवमान इति । ‘दिशो वे हरितः’ दिशो हि हरिच्छब्दवाच्याः , अतः ‘ताः’ ‘अयं’ पुरोवर्त्ती ‘पवमानः’ वायुः ‘आविष्टः’ दृश्यते । अतस्तुरीयपादेन अयमर्थः प्रतिपाद्यत इति । “ता एवेति , उक्तार्थनिगमनम् । ‘ताः’ उक्ताः प्रजाः ‘एव’ अभिलक्ष्येत्यर्थः † ॥

प्रजापतिकृतायाः सृष्टेरविच्छेदेनानुवृत्तिं दर्शयति— “ता इमा इति । ‘यथैव’ येन हि प्रकारेण पुरा ‘प्रजापतिः प्रजाः असृजत’, ‘तथैव’ तेनैव प्रकारेण ‘ता इमाः’ मनुष्याद्याः ‘प्रजाः’ ‘प्रजायन्ते’ उत्पद्यन्ते । एतदेवोपपादयति— “इदं हीति । इदानीं स हि ‘यदेव’ खलु लोके ‘स्त्रियै’ स्त्रियाः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । ‘स्तनौ’ ‘आप्यायेत’ पयसा पूरितौ भवतः । व्यन्ययेनेकवचनम् § । गवादिपशूनाम् ‘जधः’ च पयसा पूर्णं भवति । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘एव’ ‘यत् जायते’ ‘तत्’ एव ‘जायते’, अन्यदजायमानं विपद्यत इत्यर्थः । “तास्तत इति । ‘ताः’ उत्पन्नाः प्रजाः

\* ‘बृहत्’— इति सुद्रितायाः शाकलशाखाया आश्वलायनशाखाया वा पाठः । तदेवं शतपथब्राह्मणान्तु शाकलाभिधानां पञ्चानां माश्वलायन्यादीनां माविर्भावात् पूर्वतनमिति गम्यते । नाप्येतेन मन्त्रसंहिताभ्य इदं पुरातनमिति भ्रमितव्यम् ।

† ऐतरेयकारण्यके त्वेष मन्त्रो विशेषतो व्याख्यातः । ऐ० आ० २ ब्रा० १ अ० १ ख० ४-८ । तत्र ‘तिसः’ इत्यस्य ‘वज्रावगधाश्चिरपादाः’— इति व्याख्या समान्नाता । सायणकृतं तद्व्याख्यानान्तु न समीचीनं मन्यामहे ।

‡ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

§ पा० सू० ३. १. ८५ । इह कारिका द्रष्टव्या ।



‘ततः’ जननानन्तरं पयोधरी ‘स्तनी एव’ ‘अभिपद्य’ अभि-  
प्राप्य स्तन्यपानेन ‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, न विपद्यन्ते ॥ ५ ॥

पयसोऽन्नरूपता माह— “तदे पय इति । ‘तत्’ तत्र खलु  
जन्मानन्तरकाले ‘पय एव’ प्रजानाम् ‘अन्नम्’ भवति । ‘हि’  
यस्मात् ‘अग्रे’ इतरान्नष्टटेः प्राक् ‘एतत्’ एव ‘अन्नम्’ ‘प्रजापतिः’  
‘अजनयत’ उत्पादितवान्, तस्मादिदं मेव मुख्यं मन्त्रं मित्यर्थः ।  
तस्य चान्नस्य कार्यकारणयोरभेदोपचारेण प्रजारूपता मुप-  
पादयति— “अन्नं मेवेति । ‘हि’ यस्मात् ‘प्रजाः’ ‘अन्नात्’  
‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, तस्मात् तदात्मिका इत्यर्थः । ‘इदं हि’  
इदानीं हीत्यर्थः । “जातं मेवेति । स्तन्याभावे जातस्य शिशो-  
र्जीवनासम्भवात् तज्जीवनार्थं जननानन्तरं मेव ‘ताः’ प्रजाः स्तन्य-  
मेव ‘अदयन्ति’ भोजयन्ति \* । स्पष्टं मन्यत् । इत्य मन्त्र-  
हेतुकं प्रजापतेः प्रजासर्जनं सुपोद्घातत्वेनोपन्यस्तम् ॥ ६ ॥

अथोपोद्घातिकेषु वैश्वदेवहविरूपादयंस्तद् दर्शयिष्यंस्तावत्  
वैश्वदेवयागं विधत्ते— “स यः प्रजाकाम इति † । ‘यः’ यजमानः  
प्रजाकामः, ‘सः’ ‘एतेन’ वैश्वदेवाख्यपर्वरूपेण ‘हविषा’ यजेत, तस्य  
प्रजाफलसाधनत्वं मुपपादयति— “आत्मानं मेवेति । स यजमानः  
‘आत्मानं मेव’ प्रजापतिरूपं मापन्नम् ‘एतद्’ वैश्वदेवाख्यं ‘यज्ञं’  
विधत्ते’ वैश्वदेवयज्ञं सात्मानं करोतीत्यर्थः । अतो वैश्वदेवेनेष्टवतः  
प्रजापतेः प्रजोत्पत्तिसाधनत्वं मुन्नीतं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधाय प्रशंसति— “स वा इति ‡ ।

\* ‘आदयन्ति भाजयन्ति’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १. १—२० ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १. ५ । आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः ।

‘आग्नेयः’ अग्निदेवता अस्य । “सास्य देवता”—इत्यर्थः \* “अग्ने-  
र्दक्”—इति † ढक् । अष्टसु कपालेषु संस्कृतः ‘अष्टाकपालः’ ।  
‘अग्निः प्रजनयिता’ मातापितृभ्यां भुक्तस्थानस्य जाठराग्निपरि-  
पाकवशेन शुक्रशोणितात्मना परिणामादग्नेः प्रजनयितृत्वम् ; अतः  
एव प्रजापतिः सोऽग्निरित्यर्थः ॥ ८ ॥

द्वितीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सौम्य इति ‡ । सोमो  
देवता अस्य ‘सौम्यः’ । “सोमाट् व्यण्”—इति व्यण् । ‘प्रजनयितरि’  
उत्पादयितरि ‘अग्नौ’ सोमात्मकं ‘रितः’ ‘सिञ्चति’, तदेव ‘तत्’  
प्रजोत्पत्तिसाधनं ‘पुरस्तात्’ क्रियमाणं मेकं ‘मिथुनं’ सम्पन्नं  
भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ तृतीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सावित्र इति § ।  
सौम्ययागानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । सविता देवता अस्य  
‘सावित्रः’ । ‘प्रसविता’ प्रेरयिता । स एव ‘प्रजापतिः’ वैश्व-  
देवादिः । आग्नेयादीनां पञ्चानां यागानां मध्ये इज्यमानः सन्  
‘सविता’ ‘मध्यतः’ प्रजानां ‘प्रजनयिता’ भवति ॥ १० ॥

चतुर्थपञ्चमे हविषी विधाय सम्भूय प्रशंसति— “अथ सार-  
स्वत इति || । सरस्वती देवता अस्य ‘सारस्वतः’ ¶ । “तत्  
पुनर्मिथुनं मित्यादि । आदावनुष्ठितादग्रे क्रियमाणादित्यर्थः ।  
“इतश्चोष्वा इत्यादि । ‘इतः’ अस्मात् भूलोकादारभ्योपरितन-

\* पा० सू० ४. २. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३३ ।

‡ “सौम्यश्चरुः”—इति का० श्रौ० सू० ५. १. ६ ।

§ “सावित्रो दादशकपालोऽष्टाकपालो वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. १. ७ ।

|| “सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः प्रपिष्टानाम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. १. ८, ९ ।

¶ “योषा वै सरस्वती”—इत्यर्थवादादिह सरस्वत्या देवतात्वं, न तु सरस्वतः ।

लोकवर्त्तिनीः 'प्रजाः' 'उभयतः' अवस्थितात् 'मिथुनात्' प्रजा-  
पतिः सृष्टवानित्यर्थः । इदानीन्तनयजमानोऽपि एव मेव मिथुन-  
हयानुष्ठानेन द्विविधाः प्रजाः सृजतीत्याह— "तयो एवेति ।  
"तस्मादित्यादि , विहितानां हविषां निगमनम् ॥ ११ ॥

एवं पञ्चभिर्हविर्भिरुत्पादितानां प्रजानां स्थित्यर्थं प्रजापतिना  
कल्पितं पयस्यारूप मन्त्रं दर्शयितव्य मिति पयस्यायागस्य स्थानं  
प्रतिजानीते— "अथात इति । 'अथ' एवं प्रजासृष्टेरनन्तरं  
यतः सृष्टानां प्रजानां मन्त्रं मपेक्षितम् , 'अतः' 'पयस्याया एव'  
पयोविकारद्रव्यसाध्यस्य यागस्य एतत् 'आयतनं' स्थान मित्यर्थः ।  
अथैवं पयस्यायाग एव षष्ठोऽनुष्ठेय इति , नेत्याह— "मारुतस्तु  
इति । 'तु'-शब्दः पयस्यायागस्य न्यायप्राप्तं षष्ठस्थानत्वं व्यावर्त्त-  
यति ; 'मारुतः सप्तकपालः' एव षष्ठोऽनुष्ठेय इत्यर्थः \* ।

एतदाख्यायिकयोपपादयति— "विशो वे मरुत इत्यादिना ।  
वैश्यजातयो हि मरुतः ; ते च देवतारूपत्वाद् 'देवविशः' खलु  
'अनिषेद्धा इव'† अनिषेधुकाः , नियन्त्रहिता इव स्वतन्त्राः  
'चेरुः' । 'ताः' स्वातन्त्र्ये वर्त्तमानाः आद्यैः पञ्चभिः हविर्भिः  
प्रजा उत्पादितवन्तं 'प्रजापतिं यजमानम्' 'उपेत्य' उपगत्य 'जुचुः'  
—'ते' त्वदीयाः 'इमाः' उत्पन्नाः 'प्रजाः' वयं 'विमथिष्यामः'  
हिंसिष्यामः , 'याः' प्रजाः 'एतेन' वैश्वदेवपर्वात्मना 'हविषा' त्वं  
'स्रक्ष्यसे' सृष्टाः करिष्यसि ॥ १२ ॥

एवं मरुद्भिरुक्ते सति 'सः' 'प्रजापतिः' 'ऐक्षत' पर्यालोचित-  
वान् । 'मे' मदीयाः 'पूर्वाः' पूर्वसृष्टाः 'प्रजाः' 'पराभूवन्' ।

\* का० औ० सू० ५. १. १६, १७ ।

† 'अनिषेधा इव'—इति च ।

‘इमाः’ प्रजाः ‘इमे’ मरुतः ‘विमथ्नन्ते’ बाधन्ते चेत् ‘ततः’ अनन्तरं ‘किम्’ अपि सृष्टं ‘न परिशिष्यते’ परिशिषितं न भविष्यति । ‘इति’ एवं मरुद्भ्यो भीतः सन्, ‘तेभ्यः’ ‘एतं’ सप्तदश-कपालरूपं ‘भागं’ कल्पितवान् । अतः प्राप्तस्थान मपि पयस्था-यागं परित्यज्य ‘स एष मारुतः’ यागः इदानीं मपि षष्ठत्वेनानुष्ठी-यते । सप्तसङ्ख्या मनूय प्रशंसति— “तद्यदिति । मरुतो हि सप्तगणाः, तेष्वेकेकस्मिन् गणेषु सप्त सप्त मरुतः । ते चैकोन-पञ्चाशत्सङ्ख्याकाः अग्निस्थापनप्रकरणे “ईदृङ् चान्यादृङ् च”— इत्यादिभिर्मन्त्रैस्तत्तन्नाम्ना प्रतिपादिताः \* ॥ १३ ॥

तेषां किञ्चिद् विशेषण मुपक्षिपति— “तं वे स्वतवोभ्य इतीति † । ‘तं’ खलु सप्तकपालं पुरोडाशं ‘स्वतवोभ्यः’ ‘इति’ विशेषणविशिष्टेभ्यो मरुद्भ्यः ‘कुर्यात्’ । ‘तवः’ इति बल-नाम ‡ । स्वायत्तं तवो बलं येषां ते स्वतवसः । अस्य विशेषणस्यान्वर्थता माह— “स्वयं हीति । ‘ते’ मरुतः ‘स्वयं हि’ स्वपौरुषेणैव हि ‘एतं भागम्’ ‘अकुर्वन्’ स्वीकृतवन्तः, ‘अतस्ते स्वतवसः सम्पन्ना इत्यर्थः ।

प्रागुक्त मेव पक्षं निगमयितुं कारण मुपन्यस्यति— “अत इति । यदि तु ‘स्वतवोभ्यः’ प्रतिपादिके § ‘याज्यानुवाक्ये’ ‘न’ लभते, तदा सः’ एव प्रागुक्तः केवलः ‘मारुत एव’ यागो

\* तै० सं० ४. ६. ५. १५—२१ द्रष्टव्याः । “सप्तगणा वै मरुतः” इति च तै० ब्रा० २. ७. २ ।

† ‘स्वतवोभ्यः’—इति का०-श्रौ०-सू०-सम्मतः पाठः । “स्वतवोभ्य इति क्वान्दसं-रूपम्”— इति तत्र या० दे० । ‡ निघ० २. ६. ५ ।

§ ‘स्वतवः-प्रतिपादिके’— इति वा स्यादिति पाठः ।

भवति । एतच्च पञ्चदशं : कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्— “मरुद्भ्यः स्वतवोभ्यः सप्तकपालो मारुतो वेति \* ।

“स वा एष इति । ‘सः’ खलु ‘एषः’ मारुतो यागः ‘प्रजाभ्यः’ प्रजानाम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी† । ‘अहिंसायै’ मरुत्-  
लतबाधराहित्याय ‘एव’ ‘क्रियते’ । “तस्मादिति । मारुत-  
यागस्य निगमनम् ॥ १४ ॥

पयस्यायागं विधत्ते— “अथात इति ‡ । ‘अथ’-शब्दो मारुतयागानन्तर्ये । यतः सृष्टाः प्रजा मारुतयागेन तत्कृत-  
हिंसायाः परिहृतत्वात् सुखेनावस्थिताः यत्र माकाङ्क्षन्ते, अतः पयोरूप मन्त्रं तेभ्यो जनयितुं पयस्यायागः कर्त्तव्य इत्यर्थः । तस्य प्रजावृद्धिहेतुत्व माह— “पयसो वा इत्यादि । सृष्ट्यादौ प्रजापतिना सृज्यमानास्ताः ‘प्रजाः’ तदीयस्तन्वरूपात् ‘पयसः’ सकाशात् ‘सम्भृताः’ प्रवर्द्धिताः यतः, एव मिदानी मपि सर्वाः प्रजाः पयस एव ‘सम्भवन्ति’ जन्मानन्तरं तत्क्षणे एव पयो-  
लक्षण मन्त्रं प्राप्य वर्द्धन्ते । पयोरूपस्य तस्थान्नस्य सम्पत्ति मन्त्र दर्शयितुं मुक्त मर्थं मनुवदति— “तद्यत एवेति । ‘तत्’ तथा सतीत्यर्थः । ‘एतत्’ एतेन पयस्यायागेन ‘तदेव’ प्रजावृद्धिहेतुभूतं पयः ‘आभ्यः’ प्रजाभ्यः ‘करोति’ सम्पादयति । अत एवेदानीं पूर्वसृष्टानां प्रजानां मभिवृद्धिर्दृश्यत इत्याह— “तथा इति । ‘पूर्वैः’ प्रागुक्तैरान्नेयादिभिः पञ्चभिः ‘हविर्भिः’ । “एतस्मात्

\* का० श्रौ० सू० ५. १. १६, १७ ।

† पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

‡ ‘वैश्वदेवी पयस्या’— इति का० श्रौ० सू० ५. १. १८ ।

पयस इति । दध्ना संस्कृतः पयोविकारः पयस्या \* । असौ  
 चामिचा-शब्देनान्यत्रान्नायते— “तप्ते पयसि दध्यानयति सा  
 वैश्वदेव्यामिचा, वाजिभ्यो वाजिनम्”—इति † । कात्यायनोऽपि  
 पयस्यां प्रकृत्य सूत्रयामास— “शृते वा दध्यानयति, वाजिनं  
 निषिष्योत्करे करोति”—इति ‡ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । एतस्याः  
 पयस्यायाः प्रकृतिभूतं पयः ॥ ; एतस्मादुत्पन्नाः प्रजा वर्द्धन्त  
 इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं यागोपयुक्तं द्रव्यं प्रशस्य तस्य वैश्वदेवत्वं प्रतिपादयति—  
 “तस्या मित्यादिना । ‘तस्यां’ पयस्यायां प्रजननसाधनं ‘मिथुनं’

\* “आमिचापयस्येति चानर्थान्तरम्”—इति या० दे० ( का० श्रौ०  
 सू० ४. ३. १० ) । “पयस्या भवति, पयो हि वा एतस्मादपक्रामति”—  
 इति ऐ० ब्रा० २. ३. ६ । “आख्यस्य वा एतद्रूपं यदामिचा”— इति  
 तै० ब्रा० १. ६. २०. ४ । तथाच वज्रदेशादिप्रसिद्धा ‘क्वाना’ एव पयस्या,  
 सैवामिचा चेति स्फुटम् ।

† “वैश्वदेव्यामिचा”— इत्यादि, “वाजिनो यजति, अग्निर्वायुस्सूर्यस्तं  
 वै वाजिनः”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. ६. २, ३; तै० स० १. ८. २ । आमि-  
 चाया निःसृतं यज्ञीरं तदेव वाजिनशब्दाभिधेय मिति च तद्वाच्योक्ते  
 रेवावगम्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ४. ८, ९ । “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी”—  
 इति तत्पूर्वसूत्रम् । अत एव पयस्यां प्रकृत्येत्युक्तम् ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

॥ अत्र चोपरिष्ठात् ३ का० ३ अ० ३ ब्रा० २ क० ( ३ भा० १६५,  
 १७१ पृ० ) दशविधानां गद्यानां परिचयो द्रष्टव्यः ।

विद्यते । ‘पयस्या’-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् ‘योषा’, तदनु-  
निष्पादि ‘वाजिनं’ ‘रेतः’ पुंसो वीर्यम् ; ‘तस्मात् मिथुनात्’ ‘अस-  
न्धितम्’ अपरिमितम् इदं ‘विश्वं’ देवमनुष्याद्यात्मकम् ‘अनु प्राजा-  
यत’ अनुक्रमेण प्रजायते, प्रजात मभूत् । “तद्यदेतस्मादिति,  
प्रतिपादितार्थस्य हेतुत्वाभिधानम् । “तस्मादिति । यस्मात्  
विश्वोत्पत्तिहेतुः पयस्या, तस्माद् विश्वदेवदेवत्या कार्ये-  
त्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्तिमं हविर्विधत्ते— “अथेति \* । द्यावापृथिव्यौ देवते  
अस्येति ‘द्यावापृथिव्यः’ । “द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वत्”—इति-  
सूत्रेण † यत् । तत्र हि चकारेण यदित्यनुकथ्यते । तदेतत्पुरा-  
कृति मुदाहृतदृष्टान्तेन उपपादयति—“एतैर्वा इत्यादिना ।  
“द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णादिति । अधस्तात् पृथिव्या, उप-  
रिष्ठात् व्युलोकेन, तदुभयलोकवर्तिनीः सृष्टाः प्रजाः ‘पर्यगृह्णात्’  
परितो वेष्टितवान् । याश्च ‘इमाः’ प्रजाः आभ्यां ‘द्यावापृथिवीभ्यां’  
‘परिगृहीताः’ परिवेष्टिता एव वर्तन्ते, न पुनः स्वतो निग-  
च्छन्ति । “तथो एवेति । यथा प्रजापतिः, ‘तथो’ तथैव ‘एषः’  
इदानीन्तनो यजमानोऽपि ‘यः एतैः हविर्भिः प्रजाः सृजते’, सृष्ट्वा  
च पयस्यायागेन तासां पयोरूप मन्त्रं परिकल्प्य, द्यावापृथिव्य-  
यागेन ‘द्यावापृथिवीभ्यां’ ‘ताः’ ‘परिगृह्णाति’ परिवेष्टयतीत्यर्थः ॥

एवं विश्वदेवपर्वणि अष्टौ प्रधानयागा विहिताः ‡, तद्धित-

\* “द्यावापृथिवीय एककपालः”— इति का० श्रौ० सू० ५. १. १६ ।

† पा० सू० ४. २. ३२ ।

‡ “एतद् वैश्वदेवम्”— इति का० श्रौ० सू० ५. १. २० वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

निर्देशौषधिद्रव्यत्वाल्लिङ्गसामान्याद् दर्शपूर्णमासविधयस्तत्राति-  
दिष्टाः ; “प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या” इति \* ॥ १७ ॥

तत्र यानि वैशिष्ट्यकानि † अङ्गानि तानीदानीं विधातुं प्रति-  
जानीते— “अथात आवृदेवेति । ‘अथ’-इति आनन्तर्यम् । यतः  
प्रधानानां मङ्गापेक्षा, अतः कारणात् । ‘आवृत्’ शब्दः प्रकार-  
वाची । चोदकप्राप्ताया मितिकर्त्तव्यतायां प्रकारविशेषः कथ्यते ;  
न त्वन्यत् किञ्चिन्नूतनं मतं प्रतिपाद्यत इति ‘एवं’-कारार्थः ।  
अग्निमन्थनादेर्वैशिष्ट्यकस्याङ्गस्य विधास्यमानत्वात् सहचरित ‡  
मुत्तरवेद्यावपनं मपि प्रसक्तम्, तन्निषेधति— “नोपक्रिरन्तीति ।  
‘उत्तरवेदि’ ‘नोपक्रिरन्ति’ नोपक्षिपन्ति, नोपवपन्तीत्यर्थः ।  
ऋत्विजां बहुत्वाद् बहुवचनम् । “कृ विक्षेपे”—इति § धातुः ।  
तत्र हेतुमाह—“विस्मृष्टमिति । सत्यां ह्युत्तरवेदौ तत्रानुष्ठीय-  
मानं मेतत् कर्म तथा निरुद्धगति स्यात् ; तदभावे तत्कृतनिरोधा-  
भावात् क्रियमाणं कर्म ‘विस्मृष्टं’ व्यापनशीलम् ‘असत्’ भवेत् ;  
अत एव परिच्छेदाभावात् ‘सर्वे’ कृत्स्नं सम्पूर्णम् ‘असत्’ भवेत् ।  
कात्स्न्यादेव तद् ‘वैश्वदेवम्’ विश्वदेवसम्बन्धयोग्यम् ‘असद्’  
भवेत् ; न ह्यसर्वस्य सर्वदेवसम्बन्धो घटते ; अतो विस्मृष्टत्वादिसिद्धये  
उत्तरवेदिर्न कार्येत्यभिप्रायः ॥

\* “प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या”—इत्येवंरूपेणानुमानिकवचनेन—  
इत्यादि का० श्रौ० ४. ३. ३ मूत्रयाख्यायां याज्ञिकदेवः । तच्चानुमानं  
“दर्शपूर्णमासधर्मा इष्टिप्रशुषु सामर्थ्याद् दर्शनाच्च ; वैश्वदेवधर्माश्चातुर्मा-  
स्येषु वचनप्रवृत्तिभ्याम्”—इत्येवमादिभ्यो वचनेभ्य एव बोधवतीति ।

† ‘वैशिष्ट्यकानि’—इति च ।

‡ ‘सहवाचित’—इति च ।

§ तु० प० १२८ धा० ।



बर्हिःराहरणे विशेषं विधत्ते— “त्रेधा बर्हिरिति \* । ‘त्रेधा’ त्रिविधं ‘बर्हिः’ प्रथमं सन्नद्ध, ‘तत्’ एव ‘पुनः’ ‘एकधा’ एकावधं सन्नद्धति । त्रिशब्दात् एकशब्दाच्च “सङ्ख्याया विधायै धा”—इति † धा-प्रत्ययः । प्रजोत्पत्त्यनुकूलत्वेनेतत् स्तीति— “एतद्गीति । यदेतत् त्रिधावद्वयस्य बर्हिषः पुनरेकधा संहतम्, ‘एतत्’ खलु ‘प्रजननस्य’ प्रजोत्पत्तेः स्वरूपम् । तदेतत् त्रैविध्यं प्रजननगतं दर्शयति— “प्रजननं मु हीति । ‘पिता, माता’, ‘यत् जायते’ यज्जायमान मपत्यम् ‘तत्’, एतत् ‘तृतीयं’ तृतयम् ; इदं मेव हि ‘प्रजननं’ प्रजातिः ‡ ; अस्य हि मातापितृादिरूपेण त्रिविधत्वात्, प्रजननरूपेण चेकत्वात्, तत्साधनभूतस्य बर्हिष-सुधर्मभाक्त्वं सूचितं मित्यर्थः । तस्मिन्नेव बर्हिषि धर्मविशेषं विधत्ते— “प्रसू इति § । प्रसुवते फलानीति ‘प्रसूः’ पुष्यिता-ङ्गुराः ||, ते ‘उपसन्नहाः’ भवेयुः । “षूङ् प्राणिगर्भविमोचने” ¶ । प्रपूर्वादस्मात् “सत्-सृ-हिष”— इति \*\* क्तिप् । “शोः सुपि”— इति †† यण् । प्रसूतयुक्तानां कुशानां प्रस्तरत्वेन ग्रहणं विधत्ते— “तं प्रस्तरं मिति ‡‡ । ‘तम्’—इति प्रस्तरापेक्षयेकवचनम् । प्रसूभिः कुशैः प्रस्तराख्यं मुष्टिं सन्धरेदित्यर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. १. २५ ।

† पा० सू० ५. ३. ४२ ।

‡ तैत्तिरीयके ( ब्रा० १. ६. ३. ) हीदं सष्ट मन्नातम्— “त्रिवृद् बर्हि-र्भवति, माता पिता पुत्रः”—इत्यादि ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १. २६ क ।

|| ‘पुष्यितकुशाः’— इति छ ।

¶ अदा० प० २० धा० ।

\*\* पा० सू० ३. २. ६१ ।

†† पा० सू० ६. ४. ८३ ।

‡‡ का० श्रौ० सू० ५. १. २६ ख ।

एतस्य प्रकृतिकर्मानुकल्पना माह — “प्रजननं सु हीद मिति ।  
‘इदं हि’ वैश्वदेवाख्यं कर्म ‘प्रजननं’ प्रजोत्पत्तिसाधनम्, ‘प्रस्वः’  
प्रसूतयुक्ताः कुशाश्च फलोत्पत्तिहेतवः ; अतः साधर्म्यात् प्रसूतकुश-  
मयं प्रस्तरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रकृतितोऽप्राप्तत्वात् तत्कालविशिष्ट \* मग्निमन्यनं विधत्ते—  
“आसाद्य हवींषीति † । प्रकृतिवद्विवासादनान्तं कृत्वा अग्नि-  
मन्यनं कुर्यादित्यर्थः । तदेतत् प्रशंसति—“अग्निः ‡ हेति ।  
प्रथमसृष्टौ प्रजापतिरग्निं जनयित्वा तदनन्तरं मेव अन्याः प्रजाः  
सृष्टवान् ; अत इहान्नेर्जननं प्रजोत्पत्तिकारणं भवतीत्यर्थः । अत  
एव प्रागान्नातम्— “तद् या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्नि  
मभितो निविष्टाः”—इति § ॥ १९ ॥

चोदकप्राप्तानां प्रजानां सङ्ख्यानन्तरं विधत्ते § — “नवप्रयाजं  
भवतीति । नव प्रयाजाः अनुयाजाश्च यस्मिन् तत् ‘नवप्रयाजं,  
नवानुयाजं’ ; तथा कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥ । नवसङ्ख्यां प्रशंसति—  
“दशाक्षरेति । “उभयत इति । प्रधानयागात् पुरस्तादुपरि-  
ष्टाच्च । “न्यूनादिति । एकाक्षरेण ‘न्यूनात्’ । “एतस्माद्वा  
इत्यादि । ‘एतस्मात्’ उभयतोऽनुष्ठीयमानात् प्रयाजानुयाज-  
रूपात् एकाक्षरन्यूनात् ‘प्रजननात्’ प्रजननसाधनादित्यर्थः । “इत-  
श्चोद्धा इति । प्रयाजरूपात् प्रथमाद् विराजो भूलोकादारभ्योद्धा-

\* ‘प्रकृतितोऽप्राप्तकालविशिष्ट’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १. २७ ।

‡ पुरस्तादिहैव चतुर्थकण्डिकायां ( २५१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ ‘सङ्ख्यानन्तरं माह’— इत्येव च-पुस्तके ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. २. ७ ।

वर्त्तिनीः प्रजाः सृष्टवान् । उपरिष्ठात् क्रियमाणादनुयाजरूपाद्  
विराजो भूलोकात् अवाचीनाः प्रजाः सृष्टवान् । स्पष्ट-  
मन्यत् ॥ २० ॥

चोदकप्राप्तस्य समिष्टयजुषोऽपि सङ्ख्यानं विधाय प्रशं-  
सति \* — “त्वीणीति । तानि च सूक्तता दर्शितानि— “त्वीणि  
समिष्टयजूंषि जुहोति, देवा गातुविदो यज्ञ यज्ञ मेष त इति †” —  
इति । “ज्याय इव हीद मिति । अन्यस्माद्विर्यज्ञाद् दर्शपूर्ण-  
मासाद् ‘इदं’ वैश्वदेवपर्वरूपं हविः ‘ज्याय इव’ प्रवृद्ध मिव हि ।  
ज्यायस्त्वे कारण माह— “यत्वेति । ‘यत्’ यस्मिन् कर्मणि ‘नव-  
प्रयाजं नवानुयाजं’ भवति, तद्धि प्रकृतेर्ज्यायो भवति ; प्रकृतौ  
प्रयाजानां पञ्चत्वात् अनुयाजानां त्रिवत्त्वाच्च ॥

पक्षान्तर माह— “अथो इति । ‘एक मेव’ समिष्टयजुर्भवति,  
न तु त्वीणि ‡ । तत्र कारण माह— “हविर्यज्ञ इति ।  
‘हि’-शब्दो हेतौ । दक्षिणां विधत्ते— “तस्येति । यजमानस्य  
गोष्ठे प्रथमं जातः ‘प्रथमजः’, तादृशो ‘गौः’, ‘तस्य’ वैश्वदेव-  
पर्वणो दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

विहितस्य वैश्वदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वं सदृष्टान्तमुप-  
संहरति— “एतेनेत्यादिना § । “एतद् बभूवेति ॥ । ‘एतत्’

\* ‘सङ्ख्यानं माह’—इत्थेव च-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० ५. २. ६ ; वा० सं० ८. २१, २२, २२ ।

‡ “एकं वा वैश्वदेवे”— इति का० श्रौ० सू० ५. २. १२ ।

§ “प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. २. २० ।

॥ यानि विशेषवक्तव्यानि नेहान्वातानि तानि सर्वाण्येव प्रायः कात्याय-  
नेन सूत्रितानि ; तत्रैव तानि द्रष्टव्यानि ( श्रौ० सू० ५. १. २. ) ।

एतर्हि 'प्रजापतेः' 'या श्रीः' बभूवेत्यर्थः । "तस्मादिति । उप-  
संहृतस्य यागविधेर्निगमनम् \* ॥ २२ ॥ २ [ ५.१. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजाः सृजते ता अस्य  
प्रजाः सृष्टा व्यरुणस्य युवान् † जक्षुर्व्यरुण्यो ह वा  
ऽअग्रे युवस्तद्यन्वेव ‡ व्यरुणस्य युवान् प्रादंसस्माद्  
वरुणप्रघासा नाम ॥ १ ॥

ता व्यरुणो जग्राह । ता व्यरुणसृष्टीताः  
पुरिदौर्क्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिथिरे च निषेदुश्च  
प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सव्वी  
देवता अपचक्रमस्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न परा-  
बभूवुः ॥ २ ॥

\* ते० ब्रा० १. ६. १—३, ते० स० १. ८. १. २; एष्वनुवाकेषु चैतद्  
वैश्वदेवयागविधानादिकं मान्नातम्, तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यमिति ॥

† 'यवान्'— इति क, ग ।

‡ 'न्वेव'— इति क ।

ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत् ।  
 तद्याश्चैवाद्य प्रजा जाता आसन् याश्चाजातास्ता  
 उभयीर्व्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत् \* ता अख्यानमीवा  
 अकिल्बिषाः † प्रजाः प्राजायन्त ‡ ॥ ३ ॥

अथ यदेष एतैश्चतुर्थे मासि यजते । तन्नाह  
 न्वेवैतस्य तथा प्रजा व्वरुणो गृह्णातीति देवा  
 अकुर्व्वन्निति त्वेवैष § एतत्करोति याश्च त्वेवाद्य ॥  
 प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्व्वरुणपाशात् प्र-  
 मुञ्चति ता अख्यानमीवा अकिल्बिषाः ¶ प्रजाः प्रजा-  
 यन्ते \*\* तस्माद्वा ऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजते ॥ ४ ॥

तद्वै द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः । तद्यद् द्वे वेदी  
 द्वावग्नी भवतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद् द्वे वेदी  
 द्वावग्नी भवतः ॥ ५ ॥

स उत्तरस्था मेव वेदी । उत्तरवेदिमुपकिरति न

\* 'प्रामुञ्चत्'—इति पाठश्च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'अकिल्बिषाः'—इति क, ख ।

‡ 'प्राजायते'—इति घ, ङ ।

§ 'न्वेवैष'—इति घ, ङ ।

॥ 'न्वेवास्य'—इति घ, ङ ।

¶ 'अकिल्बिषाः'—इति क, ग ।

\*\* 'प्राजायते'—इति घ, ङ ।

दक्षिणस्यां क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः क्षत्रं मेवै-  
तद्दिश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रिय  
मधुस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुत्तरस्या मेव  
वेदा ऽउत्तरवेदि मुपकिरति न दक्षिणस्याम् ॥ ६ ॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्वै  
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो वरुण-  
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदितुश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मा-  
द्वा ऽएतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नौ द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।  
प्राणोदानौ वा ऽइन्द्राग्नी तद्यथा पुण्यं चक्रुषे  
पुण्यं कुर्यादेवं तत्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न  
परावभूवस्तत् प्राणोदानाभ्या मेवैतत् प्रजा भिषज्यति  
प्राणोदानौ प्रजासु दधाति तस्मादैन्द्राग्नौ द्वादश-  
कपालः पुरोडाशो भवति ॥ ८ ॥

उभयत्र पयस्ये भवतः । पयसो वै प्रजाः  
सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः  
सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः  
प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मादुभयत्र पयस्ये  
भवतः ॥ ९ ॥

व्वारुण्युत्तरा भवति । व्वरुणो ह वा ऽअस्य  
 प्रजा अगृह्णात्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चति मारुती दक्षिणाजामितायै न्वेव मारुती  
 भवति जामि ह कुर्याद्यदुभे व्वारुण्यौ स्याता मतो  
 ह वा ऽअस्य दक्षिणतो मरुतः प्रजा अजि-  
 घांसंस्तानेतेन भागेनाशमयत् तस्मान्मारुती  
 दक्षिणा ॥ १० ॥

तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति । कं वै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कुम्बेवैष एतत्  
 प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति । शं व्वै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत कुम्बेवैष  
 एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ॥ १२ ॥

अथ काय एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
 कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन  
 पुरोडाशेनाकुरुत कुम्बेवैष एतत् प्रजाभ्यः काये-  
 नैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते तस्मात् काय  
 एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १३ ॥

अथ पूर्व्वेद्युः । अन्वाहार्यपचने ऽतुष्टानिव

युवान् कृत्वा तानोषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि  
कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरि-  
क्तानि ॥ १४ ॥

तत्रापि मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति । तयो-  
र्मेषे च मेष्यां च यदुनैडकीरुणा \* विन्देत्ताः  
प्रणिज्य निशेषयेद्यद्गु अत्रनैडकीर्णं विन्देद्यो  
अपि कुशोर्णा एव स्युः ॥ १५ ॥

तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः । एष वै प्रत्यक्षं  
व्वरुणस्य पशुर्यन्मेषस्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाशात्  
प्रजाः प्रमुञ्चति यवमयौ भवतो युवान् हि जक्षुषी-  
र्व्वरुणो ऽगृह्णान्मिथुनौ भवतो मिथुनादेवैतद्  
व्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ १६ ॥

स उत्तरस्या मेव प्रयस्यायां मेषी मेव दधाति ।  
दक्षिणस्यां मेष मेव मिव हि मिथुनं क्लृप्तं मुत्तरतो  
हि स्त्री पुमांस मुपशेते ॥ १७ ॥

स सर्वाण्येव हवीर्ष्यध्वर्युः † । उत्तरस्यां व्वेदा-

\* 'यदुनैलकीरुणा'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेवरः ।  
इहोत्तरत्र 'अत्रनैलकीर्ण'— इति चैव मेव ।

† 'र्युः'— इति च, ड ।



वासादयत्यथैता मेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता  
दक्षिणस्यां वेदावासादयति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यति । अग्निं  
मन्यित्वानुप्रहृत्याभिजुहोत्यथाध्वर्युरेवाहाग्नये समिध्य-  
मानायानुब्रूहीति ता ऽउभावेव ध्मावभ्याधत्त उभौ  
समिधौ परिशिष्टे ऽउभौ पूर्वावाधारावाधारयतो  
ऽथाध्वर्युरेवाहाग्निमग्नीत् सम्मृङ्गीत्यसम्मृष्ट मेव  
भवति सम्प्रेषितम् ॥ १९ ॥

अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नीं मुदा-  
नेध्यन् पृच्छति केन चरसीति व्वरुण्यं व्या ऽएतत्  
स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तः-  
शल्या \* जुहवदिति तस्मात् पृच्छति निरुक्तं व्या  
ऽएनः कुनीयो भवति सत्यं हि भवति तस्मादेव  
पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यैत-  
दहितं स्यात् ॥ २० ॥

तां व्याचयति । प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च  
रिशादसः । करभेण सजोषस इति यथा पुरोऽनु-  
वाक्येव मेषैतयैवैनानेतेभ्यः पाचेभ्यो ह्वयति ॥ २१ ॥

तानि वै प्रतिपुरुषम् \* । यावन्तो गृह्याः स्यु-  
स्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत् प्रतिपुरुष मेवै-  
तदेकैकेन या अथ प्रजा जातास्ता व्वरुणपाशात्  
प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तद्या एवाथ  
प्रजा अजातास्ता व्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति तस्मा-  
देकेनातिरिक्तानि भवन्ति ॥ २२ ॥

पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ह्यशन मृश्यते यव-  
मयानि भवन्ति यवान् हि जक्षुषीर्व्वरुणो ऽगृह्णाच्छूर्पेण  
जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पुत्री जुहोति मिथुना-  
देवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ २३ ॥

पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो जुहोति । अहुतादो  
वै विशो विशो वै मरुतो यत्र वै प्रजापतेः प्रजा  
व्वरुणगृहीताः परिदीर्क्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च  
शिथिरे † च निषेदुश्च तद्भासां मरुतः पाप्मानं  
व्विमेशिरे तयो ऽएवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं  
व्विमथते तस्मात् पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो  
जुहोति ॥ २४ ॥

\* 'षं'— इति घ, ङ ।

† 'शिथिरे'— इति 'च' इष्टो डा०-वेवरेण ।

स \* वै दक्षिणेऽग्नी जुहोति । यद् ग्रामे  
 यदुरण्य ऽइति ग्रामे वा ह्युरण्ये वैनः क्रियते  
 यत्सभायां यदिन्द्रिय ऽइति यत्सभाया मिति युन्मा-  
 नुष ऽइति तदाह यदिन्द्रिय ऽइति यदेवचेति  
 तदाह यदेनश्चक्रमा व्यय मिदं तद्वयजामहे स्वाहेति  
 यत् किञ्च व्यय मेनश्चक्रमेदं व्ययं तस्मात् सुव्यस्मात्  
 प्रमुच्यामह ऽइत्येवैतदाह ॥ २५ ॥

अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यत्र वै प्रजापतेः  
 प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमथिरे तुङ्गेचाञ्चक्र  
 ऽइमे ह मे प्रजा न विमथीरन्निति ॥ २६ ॥

स एता मैन्द्रीं मरुत्वती मजयत् । क्षत्रं वा  
 इन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा नि-  
 षिद्धा † असन्निति तस्मादैन्द्री ‡ ॥ २७ ॥

सो षू णः । इन्द्रावपृत्सु देवैरुस्ति हि ष्मा  
 ते शुभिन्नवयाः । महश्चियुष्य मीढुषो यव्या  
 हविष्मतो मरुतो व्वन्दते गीरिति § ॥ २८ ॥

\* 'सा'—इति क, ग।

† 'निषिद्धा'—इति च इथो डा०-वेवरेण।

‡ 'की'—इति च, क।

§ 'गीरिति'—इति क, घ, ङ।

अथैनां व्वाचयति । अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्य-  
 क्रन् हि कर्म कर्मकृतः सह व्वाचा मयोभवेति सह  
 हि व्वाचाक्रन् देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म  
 कृत्वास्तं प्रेत सचामुव इत्यन्यतो ह्योढया सह  
 भवन्ति \* तस्मादाह सचामुव इत्यस्तं प्रेतेति जघ-  
 नार्धो वा ऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी ता मेतत् प्राचीं  
 यज्ञं प्रासीषदद् गृहा वा ऽअस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तुद्  
 गृहेष्वेवैना मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ २६ ॥

प्रतिपराणीयोदैति प्रतिप्रस्थाता † । सम्मृज-  
 न्यग्निं सम्मृष्टे ऽग्नौ ता ऽउभावेवोत्तरावाधारावा-  
 धारयतो ऽथाध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते प्रवृतो  
 होतोत्तरस्यै वेदेर्हीटपदन ऽउपविशत्युपविश्य  
 प्रसीति ता ऽउभावेव प्रसूतौ सुच आदायाति-  
 क्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह समिधो यजेति  
 यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानुयमानौ  
 नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥ ३० ॥

अथाध्वर्युरेवाहाग्नये ऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-

\* 'भवति'—इति क, ग; डा०-वेबरेण च डट् ।

† 'ता'—इति क, 'ता'—इति घ, ङ ।

भागं ता उभावेव चतुराज्यस्त्रावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह्मिं यजेति ता  
ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३१ ॥

अथाध्वर्युरेवाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य  
माज्यभागं ता ऽउभावेव चतुराज्यस्त्रावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह सोमं यजेति  
ता ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३२ ॥

तद्यत् किञ्च व्वाचा कर्तव्यम् । अध्वर्युरेव  
तत् करोति न प्रतिप्रस्थाता तद्यदध्वर्युरेवाश्चा-  
वयतीहैव यत्र वषट् क्रियते ॥ ३३ ॥

कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता । क्षत्रं वै व्वरुणी  
विंशो मरुतस्तत् क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरा मनु-  
वर्त्मानं करोति प्रत्युद्यामिनीं ह क्षत्राय विंशं  
कुर्याद्यदपि प्रतिप्रस्थाताश्चावयेत्तस्मान्न प्रतिप्रस्थाता-  
श्चावयति ॥ ३४ ॥

पाणावेव प्रतिप्रस्थाता । सुचौ कृत्वोपास्तौ  
ऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरत्याग्नेयेनाष्टाकपालेन  
पुरोडाशेन सौम्येन चरुणा सावित्रेण द्वादशकपालेन  
वाष्टाकपालेन वा पुरोडाशेन सारस्वतेन चरुणा

पौष्णेन चरुणेद्वाग्नेन द्वादशकपालेन पुरोडाशेन  
॥ ३५ ॥

अथैताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ विपरि-  
हरतः । स यो मेषो भवति मारुत्यां तं व्वारुण्या  
सुवदधाति या मेषी भवति व्वारुण्यां तां मारुत्या  
सुवदधाति तद्यदेवं विपरिहरतः क्षत्रं वै वुरुणो  
व्वीर्यं पुमान्वीर्यं मेवैतत् क्षत्रे धत्तो ऽवीर्या वै स्त्री  
व्विशो मरुतस्तुदवीर्या मेवैतद्दिशं कुरुतस्तुस्मादेवं वि-  
परिहरतः ॥ ३६ ॥

अथाध्वर्गुरवाह व्वरुणायानुब्रूहीति । स  
उपस्तृणीत ऽआज्यं मथास्यै व्वारुण्ये पयस्यायै द्विरु-  
द्यति सो ऽन्यतरुणावदानेन सह मेषं सुवदधात्यथो-  
परिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽअति-  
क्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह व्वरुणं यजेति व्वषट्कृते  
जुहोति ॥ ३७ ॥

सव्ये पाणावध्वर्युः \* । सुचौ कृत्वा दक्षिणेन  
प्रतिप्रस्थातुर्व्वी सो ऽन्वारुभ्याह मरुद्भ्यो ऽनुब्रूही-  
त्युपस्तृणीत ऽआज्यं प्रतिप्रस्थाताथास्यै मारुत्यै

\* 'र्युः'—इति ध, ङ ।

पयस्यायै द्विरुवद्यति सो ऽन्यतरेणावदानेन सह  
 मेषी मवदधात्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
 नक्तावदाने ऽतिक्रामत्याध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो  
 यजेति व्षट्कृते जुहोति ॥ ३८ ॥

अथाध्वर्युरेव कायेन \* । एककपालेन पुरो-  
 ङाशेन प्रचरति कायेनेककपालेन पुरोङाशेन  
 प्रचर्याध्वर्युरेवाहाग्नये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति स  
 सर्व्वेषा मेव हविषा मध्वर्युः सकृत्सकृदुवद्यत्यथैतस्या  
 ऽएव पयस्यायै प्रतिप्रस्थाता सकृदुवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
 द्विराज्यस्याभिघारयतस्ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽति-  
 क्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति ता  
 ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३९ ॥

अथाध्वर्युरेव प्राशिञ्च मवद्यति । इडां समव-  
 दाय प्रतिप्रस्थात्रे ऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता  
 मारुत्यै पयस्यायै द्विरुवद्यत्यथोपरिष्ठाद् द्विराज्यस्या-  
 भिघारयत्युपहृत्य मार्जयन्ते ॥ ४० ॥

अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिध  
 माधायान्नि मन्तौत्संमृडूति स सुचोरेवाध्वर्युः पृष-

दाज्यं व्यानयते ऽथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं  
 भवति तत्सु द्वेधा व्यानयत ऽउतो तुत्र पृषदाज्यं  
 न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत् सु द्वेधा व्यानयते  
 ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह  
 देवान्यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थेऽनुयाजे समा-  
 नयमानौ नवभिरनुयाजैश्चरतस्तद्वन्नवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजं तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा ब्रूतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजम् ॥ ४१ ॥

ता ऽउभाविव सादयित्वा सुचो व्यूहतः । सुचो  
 व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधिं मभिपद्याश्चाव्या-  
 ध्वर्युरेवाहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो  
 मानुषः सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते  
 ऽथेता ऽउभाविव प्रस्तारौ समुल्लुम्पत ऽउभावनुप्रहरत  
 उभौ तृणे ऽअपगृह्योपासाते यदा होता सूक्तवाक  
 माह \* ॥ ४२ ॥

अथाग्नीदाहानुप्रहरति । ता ऽउभाविवानुप्रह-  
 रत ऽउभावात्माना ऽउपस्पृशेते ॥ ४३ ॥



अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदुगच्छावयु  
 श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शं यो-  
 ब्रहीत्यध्वर्युरेवैतदाह ता ऽउभावेव परिधीननुग्रह-  
 रत उभौ सुचः सम्प्रगृह्य स्फ्ये सादयतः ॥ ४४ ॥

अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य । पत्नीः संयाजयत्यु-  
 पास्त ऽएव प्रतिप्रस्थाता पत्नीः संयाज्योदैत्यध्वर्युः \*  
 ॥ ४५ ॥

तूष्णीं समिष्टयजुषि जुहोति । तूष्णीं मेव प्रति-  
 प्रस्थाता सुचं प्रगृह्णाति तद्ये वैश्वदेवेन यजमानयो-  
 र्वाससी परिहिते स्वातां ते ऽएवात्रापि स्वाता म-  
 यास्यै व्वारुण्यै पयसायै क्षामकर्षमिश्च मादायावभृथं  
 यन्ति व्वारुण्यं व्वा ऽएतन्निर्व्वरुणतायै तत्र न साम  
 गीयते न ह्यत्र साम्ना किञ्चन क्रियते तूष्णीं मेवेत्या-  
 भ्यवेत्योपमारयति ॥ ४६ ॥

अवभृथ निचुम्पुण । निचेरुरसि निचुम्पुणः † ।  
 अव देवैर्देवकृत मेनो ऽयासिष मव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं  
 पुरुराव्गो देव रिषस्याहीति काम् हैते यस्मै

\* 'दैत्यध्वर्युः'—इति ग-पाठः, डा०-वेबरदृष्टश्च ।

† 'मः'—इति घ, ङ ।

कामयेत तस्मै दद्यान्न हि दीक्षितवसने भुवतः सु  
यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवः सर्वस्मात् पाप्मनो  
निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोह्याग्नी ऽउदव-  
सायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदा-  
वग्निहोचं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा निर्मु-  
ध्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्नयज्ञऽइव वा ऽएष  
युच्चातुर्मास्यान्यथेषु कृष्णः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्  
पौर्णमासं तत् कृष्णेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति  
तस्मादुदवस्यति ॥ ४८ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

विधिक्षितस्य वरुणप्रघासाख्यस्य \* द्वितीयस्य पर्वणो वरुण-  
पाशविमोचनहेतुत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयंस्तद्विधिं मुन्नयति †  
— “वैश्वदेवेन वा इत्यादिना । पुरा वैश्वदेवयागेन प्रजापतिना  
सृष्टाः ‘प्रजाः’ वरुणसम्बन्धिनो ‘यवान्’ ‘जक्षुः’ [ भक्षयामासुः ।  
यवस्य वरुणदेवव्यत्व माह— “वरुणो हेति । ‘अग्रे’ सृष्टिसमये  
सृज्यमानः ‘यवः’ वरुणसम्बन्धी ‘एव’ अभवत् । अतो यवो  
वरुणस्य स्वभूतः । तद्वसङ्गात् वरुणप्रघासोऽस्य नाम निर्वृत्तम् ।

\* पुरस्तात् २५६ ए० \* टीप्पनी द्रष्टव्या ।

† ‘मुपनयति’—इति च ।

“तद्यदिति । ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’ यस्मात् ‘एव’ कारणात्  
 ‘वरुणस्य’ स्वभूतान् ‘यवान्’ ‘प्रादन्’ प्रकर्षेणाभक्षयन्, ‘तस्माद्’  
 वरुणसम्बन्धियवप्रघासनात् ‘प्रजाः’ ‘वरुणप्रघासाः’ । तत्पाश-  
 गृहीतानां तासां पाशविमोचनाय क्रियमाणा यागा अग्न्युपचारेण  
 वरुणप्रयासाख्याः सञ्जाता इत्यर्थः । ‘जक्षुः’-इति, अदेर्लिटि  
 लुङि च ‘लुङसनोर्घञ्’-“लिव्यन्यतरस्याम्”-इति \* घञ्ज्ञादेशे  
 रूपम् ॥ १ ॥

यवादनानन्तरं वरुणकृत्य माह— “ता इति । ‘परिदीर्क्षाः’  
 परितो दीर्क्षाः, परितो दीर्यमाणावयवाः । “दृ विदारणे”-  
 इति, † अस्मात् निष्ठायां “श्रुक् किति”-इति ‡ इट्-प्रतिषेधः,  
 “ऋत इडातोः”-इतीत्वम् §, “त्वादिभ्यः”-इति ॥ निष्ठातका-  
 रस्य नकारः । “अन्यथेत्यादि । वरुणपाशग्रहणादेव हेतोः  
 ‘अन्यः’ चेष्टमानाः, हस्तपादादिधूननं कुर्वाणाः, ‘प्राणत्वञ्च’  
 प्राणनव्यापारं श्वासोच्छ्वासादिलक्षणं कुर्वन्त्यः, ‘शिथिले च,  
 निषेदुश्च’ शयनासनाभ्यां मेव कालं नीतवत्यः, न पुनर्व्यापारा-  
 न्तरक्षमा बभूवुरित्यर्थः । “प्राणोदानौ हेत्यादि । ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्यः सकाशात् केवलं प्राणोदानावेव ‘नापचक्रमतुः’ ; ‘अन्याः’  
 तु ‘सर्वाः’ वाक्चक्षुरादीन्द्रियाधिष्ठातृदेवता अग्न्याद्याः ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्योऽपक्रान्ताः ; आसा मिन्द्रियपाटव मपि प्रस्मृष्टमित्यर्थः ।  
 “तयोर्हेवेति । ‘तयोः’ प्राणापानयोरेवानपक्रमणहेतोः ‘अस्य’  
 प्रजापतेः ‘प्रजाः’ ‘न पराबभूवुः’ न विनष्टाः ॥ २ ॥

\* अदा० प० १ धा० । पा० सू० २. ४. ३७, ४० ।

† क्दा० प० २० धा० ।

‡ पा० सू० ७. २. ११ ।

§ पा० सू० ७. १. १०० ।

॥ पा० सू० ८. २. ४४ ।

“ता एतेनेत्यादि । वरुणपाशग्रहणजनित मुक्तविधं प्रकारं  
मालोक्य ‘प्रजापतिः’ ‘एतेन’ वरुणप्रघासाख्येन ‘हविषा’ ‘ताः’  
प्रजाः ‘अभिषज्यत्’ अचिकित्सत् । “भिषज् चिकित्सायाम्”—  
इति धातुः \* । तेन च भेषजेन ‘जाताः’ ‘अजाताः’ जनिष्यमाणा-  
श्चोभयविधाः ‘प्रजाः’ ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रामुञ्चत्’ । तस्य विमोचने  
सति ‘अस्य’ प्रजापतेः प्रजाः ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः, ‘अकिष्कि-  
षाः’ रोगनिदानभूतपापरहिताश्च अभवन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

विधत्ते— “अथ यदिति । ‘अथ’-शब्दो वैश्वदेवानन्तर्ये ।  
‘एषः’ यजमानः वैश्वदेवानन्तरं ‘चतुर्थं मासि’ ( सम्पूर्णे सति † )  
‘एते’ वक्ष्यमाणैर्हविर्भिः ‘यजते’ ‡ । अप्राप्तार्थत्वाद् वर्त्तमान-  
निर्देशः । विधिरुन्नेतव्यः । यच्छब्दो हेतौ ; यस्माद्वरुणप्रघासैर्यजते,  
‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘तु’, ‘एव’— इति निपाताः । ‘नेव’  
खलु ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘प्रजाः’ तथा ‘वरुणो गृह्णाति इति’ ।

“देवा इत्यादि । पुरा खलु ‘देवाः’ एव मेव वरुणप्रघासम्  
‘अकुर्वन्’ । ‘तु’-शब्दोऽप्यर्थः । ‘एषः’ अपि यजमानः ‘इति’  
एवम्, ‘एव’ ‘एतत्’ एतर्हि ‘करोति’ ।

इत्थं मनुष्यकर्तृकयागस्य देवकर्तृकेन योगेन साम्यात् तादृक्-  
फलसाधनत्वं माह— “याश्चेति । उक्तार्थं मेतत् । “तस्माद्वा  
इति, वरुणप्रघासविधेर्निगमनम् ॥ ४ ॥

\* भिषज्यतिः कष्टादिः ।

† एते पदे च-पुस्तकादन्यत्र न दृश्येते ।

‡ “अथ यच्चतुर्थं चतुर्थं मासेषु स चातुर्यास्ययाजी । वसन्ते वैश्वदेवेन  
भजेत, प्राष्टवि वरुणप्रघासैः, शरदि शाकमेधैः”—इति आप० श्रौ० सू०  
८, ४, १३ । का० श्रौ० ५, २, १६, २० सूत्रे चेद् विवेक्तव्ये ।

|                                                                                                                                                                                |              |           |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|-----------|
| <b>Padumawati, Face. 1-4 @ 2/</b> .....                                                                                                                                        | <b>Rs. 8</b> | <b>0</b>  |
| <b>Paricīpta Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5 each...</b> .....                                                                                                                  | <b>1</b>     | <b>14</b> |
| <b>Prāk ta-Pāṅgalam, Fasc. 1-7 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                             | <b>2</b>     | <b>10</b> |
| <b>Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/ each</b> .....                                                                                                             | <b>1</b>     | <b>14</b> |
| <b>Ditto (English) Part II, Fasc. I</b> .....                                                                                                                                  | <b>12</b>    |           |
| <b>Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. I</b> .....                                                                                                                                  | <b>1</b>     | <b>8</b>  |
| <b>Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each</b> .....                                                                       | <b>7</b>     | <b>8</b>  |
| <b>Parācara, Institutes of (English)</b> .....                                                                                                                                 | <b>0</b>     | <b>12</b> |
| <b>Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/2 each</b> .....                                                                                                                 | <b>2</b>     | <b>4</b>  |
| <b>*Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/ each Fasc...</b> .....                                                              | <b>12</b>    | <b>6</b>  |
| <b>Sāṅkhya Sūtra V tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/</b> .....                                                                                                                        | <b>1</b>     | <b>8</b>  |
| <b>Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/2 each</b> .....                                                                                                                              | <b>2</b>     | <b>4</b>  |
| <b>Sraddha Kriya Kaumudi, Fasc. 1-6</b> .....                                                                                                                                  | <b>2</b>     | <b>4</b>  |
| <b>Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. I @ 1/2</b> .....                                                                                                                             | <b>0</b>     | <b>12</b> |
| <b>Suddhi Kaumudi, Fasc. 1-3</b> .....                                                                                                                                         | <b>1</b>     | <b>2</b>  |
| <b>*Taittoreya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                 | <b>9</b>     | <b>0</b>  |
| <b>Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                      | <b>7</b>     | <b>2</b>  |
| <b>Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/2</b> .....                                                                                                                          | <b>3</b>     | <b>0</b>  |
| <b>Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/ each</b> ..... | <b>14</b>    | <b>4</b>  |
| <b>Tattvarthadīpikā Sūtram, Fasc. 1-3</b> .....                                                                                                                                | <b>1</b>     | <b>2</b>  |
| <b>Trikāṇḍa-Maṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/</b> .....                                                                                                                          | <b>1</b>     | <b>2</b>  |
| <b>Upamitā bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/ each</b> .....                                                                                                          | <b>3</b>     | <b>0</b>  |
| <b>Uvāsagadasāo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/2</b> .....                                                                                                                  | <b>4</b>     | <b>8</b>  |
| <b>Vallala Carita, Fasc. I</b> .....                                                                                                                                           | <b>0</b>     | <b>6</b>  |
| <b>Varsa K yā Kaumudi, Fasc. 1-6 @ 1/</b> .....                                                                                                                                | <b>2</b>     | <b>4</b>  |
| <b>*Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/ each</b> .....                                                                                             | <b>4</b>     | <b>8</b>  |
| <b>Vidhano Parigata, Fasc. 1-7</b> .....                                                                                                                                       | <b>2</b>     | <b>10</b> |
| <b>Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                       | <b>2</b>     | <b>10</b> |
| <b>Vijat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6</b> .....                                                                                                                                  | <b>2</b>     | <b>4</b>  |

#### *Tibetan Series.*

|                                                                                                              |           |          |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|----------|
| <b>Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/ each</b> .....                                                            | <b>4</b>  | <b>0</b> |
| <b>Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each</b> .....                | <b>14</b> | <b>0</b> |
| <b>Rtogs brjod dpag khkharī Śiñ (Tib. &amp; Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each</b> ..... | <b>10</b> | <b>0</b> |

#### *Arabic and Persian Series.*

|                                                                                                                                                                                                   |           |           |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----------|
| <b>*Ālanigīrṇāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                              | <b>4</b>  | <b>14</b> |
| <b>Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/2</b> .....                                                                                                                                      | <b>2</b>  | <b>4</b>  |
| <b>Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                            | <b>22</b> | <b>0</b>  |
| <b>Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/2 each</b> .....                                                                                               | <b>29</b> | <b>12</b> |
| <b>Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                  | <b>37</b> | <b>0</b>  |
| <b>Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/ each</b> .....                                                                                                                          | <b>9</b>  | <b>0</b>  |
| <b>Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger</b> .....                                                                                                                                              | <b>0</b>  | <b>6</b>  |
| <b>Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-10 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                | <b>7</b>  | <b>2</b>  |
| <b>Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2</b> .....                                                                                                                                        | <b>2</b>  | <b>0</b>  |
| <b>Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each</b> .....                                                                  | <b>3</b>  | <b>0</b>  |
| <b>Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each</b> .....                                                                                                             | <b>21</b> | <b>0</b>  |
| <b>Farhang-i-Rashīdī, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                       | <b>14</b> | <b>0</b>  |
| <b>Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shī'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/2 each</b> .....                                                                                                         | <b>3</b>  | <b>0</b>  |
| <b>Futūh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                 | <b>3</b>  | <b>6</b>  |
| <b>Ditto of Āzādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                           | <b>1</b>  | <b>8</b>  |
| <b>Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. I</b> .....                                                                                                                           | <b>0</b>  | <b>12</b> |
| <b>History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/2 each</b> .....                                                                                                                               | <b>4</b>  | <b>8</b>  |
| <b>Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each</b> .....                                                                                                                                  | <b>1</b>  | <b>2</b>  |
| <b>Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/2 each</b> .....                                                                                                                                  | <b>38</b> | <b>4</b>  |
| <b>Magīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6 each</b> ..... | <b>13</b> | <b>2</b>  |
| <b>Maghāzī of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each</b> .....                                                                                                                                       | <b>1</b>  | <b>14</b> |

\* The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

“ता एतेनेत्यादि । वरुणपाशग्रहणजनित मुक्तविधं प्रकारं  
मालीक्य ‘प्रजापतिः’ ‘एतेन’ वरुणप्रघासाख्येन ‘हविषा’ ‘ताः’  
प्रजाः ‘अभिषज्यत्’ अचिकित्सत् । “भिषज् चिकित्सायाम्”—  
इति धातुः \* । तेन च भेषजेन ‘जाताः’ ‘अजाताः’ जनिष्यमाणा-  
श्चोभयविधाः ‘प्रजाः’ ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रामुञ्चत्’ । तस्य विमोचने  
सति ‘अस्य’ प्रजापतेः प्रजाः ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः, ‘अकिंश्चि-  
षाः’ रोगनिदानभूतपापरहिताश्च अभवन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

विधत्ते— “अथ यदिति । ‘अथ’-शब्दो वैश्वदेवानन्तर्ये ।  
‘एषः’ यजमानः वैश्वदेवानन्तरं ‘चतुर्थे मासि’ ( सम्पूर्णे सति † )  
‘एतेः’ वक्ष्यमाणैर्हविर्भिः ‘यजते’ ‡ । अप्राप्तार्थत्वाद् वर्त्तमान-  
निर्देशः । विधिरुन्नेतव्यः । यच्छब्दो हेतौ ; यस्माद्वरुणप्रघासैर्यजते,  
‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘तु’, ‘एव’— इति निपाताः । ‘नैव’  
खलु ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘प्रजाः’ तथा ‘वरुणो गृह्णाति इति’ ।

“देवा इत्यादि । पुरा खलु ‘देवाः’ एव मेव वरुणप्रघासम्  
‘अकुर्वन्’ । ‘तु’-शब्दोऽप्यर्थः । ‘एषः’ अपि यजमानः ‘इति’  
एवम् ‘एव’ ‘एतत्’ एतर्हि ‘करोति’ ।

इत्थं मनुष्यकर्तृकयागस्य देवकर्तृकेन यागेन साम्यात् तादृक्-  
फलसाधनत्वं माह— “याश्चेति । उक्तार्थं मेतत् । “तस्मादा  
इति, वरुणप्रघासविधिर्निगमनम् ॥ ४ ॥

\* भिषज्यतिः कण्डादिः ।

† एते पदे च-पुस्तकादन्यत्र न दृश्येते ।

‡ “अथ यस्त्वर्तु चतुर्थे मासेषु स चातुर्यास्त्ययाजी । वसन्ते वैश्वदेवेन  
धजेत, प्राष्ट्वि वरुणप्रघासेः, शरदि शाकमेधैः”—इति आप० श्रौ० सू०  
८, ४, १३ । का० श्रौ० ५, २, १६, २० सूत्रे चेह विवेक्तव्ये ।

|                                                                                                                                                                    |         |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------|
| Padumawati, Face. 1-4 @ 1/2                                                                                                                                        | Rs. 8 0 |
| Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5 each...                                                                                                                   | 1 14    |
| Prāk ta-Paingalam, Fasc. 1-7 @ 1/5 each                                                                                                                            | 2 10    |
| Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/5 each                                                                                                             | 1 14    |
| Ditto (English) Part II, Fasc. 1                                                                                                                                   | 12      |
| Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1                                                                                                                                   | 1 8     |
| Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/5 each                                                                       | 7 8     |
| Parācara, Institutes of (English)                                                                                                                                  | 0 12    |
| Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/2 each                                                                                                                  | 2 4     |
| *Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/5 each Fasc.                                                                | 12 6    |
| Sāṁkhyā Sūtra V tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/5                                                                                                                        | 1 8     |
| Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/2 each                                                                                                                               | 2 4     |
| Śraddha Kriyā Kaumudī, Fasc. 1-6                                                                                                                                   | 2 4     |
| Sucrutā Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 1/2                                                                                                                              | 0 12    |
| Suddhī Kaumudī, Fasc. 1 3                                                                                                                                          | 1 2     |
| *Taittereya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/5 each                                                                                                                 | 9 0     |
| Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/5 each                                                                                                                      | 7 2     |
| Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/2                                                                                                                           | 3 0     |
| Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/5 each | 14 4    |
| Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3                                                                                                                                | 1 2     |
| Trīkāṇḍa-Mādanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/5                                                                                                                           | 1 2     |
| Upamitā-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/5 each                                                                                                          | 3 0     |
| Uvāsagadasāo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/2                                                                                                                   | 4 8     |
| Vallala Carita, Fasc. 1                                                                                                                                            | 0 6     |
| Varṣa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/5                                                                                                                                | 2 4     |
| *Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/5 each                                                                                             | 4 8     |
| Vidhano Parigata, Fasc. 1-7                                                                                                                                        | 2 10    |
| Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/5 each                                                                                                                       | 2 10    |
| Vijhat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6                                                                                                                                  | 2 4     |

*Tibetan Series.*

|                                                                                            |      |
|--------------------------------------------------------------------------------------------|------|
| Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/5 each                                                      | 4 0  |
| Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/5 each          | 14 0 |
| Rtogs brjod dpag khari Śiñ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/5 each | 10 0 |

*Arabic and Persian Series.*

|                                                                                                                                                                                      |       |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------|
| *Ālanigīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/5 each                                                                                                                             | 4 14  |
| Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/2                                                                                                                                      | 2 4   |
| Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/5 each                                                                                                                                           | 22 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5 @ 1/2 each                                                                                                | 29 12 |
| Akharnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/5 each                                                                                                                                 | 37 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/5 each                                                                                                                         | 9 0   |
| Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger                                                                                                                                              | 0 6   |
| Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/5 each                                                                                                                               | 7 2   |
| Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2                                                                                                                                        | 2 0   |
| Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/5 each                                                                 | 3 0   |
| Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/5 each                                                                                                            | 21 0  |
| Farhang-i-Rashidi, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/5 each                                                                                                                                      | 14 0  |
| Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/2 each                                                                                                         | 3 0   |
| Futūh-ush Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/5 each                                                                                                                                | 3 6   |
| Ditto of Azādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/5 each                                                                                                                                          | 1 8   |
| Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1                                                                                                                           | 0 12  |
| History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/2 each                                                                                                                               | 4 8   |
| Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/5 each                                                                                                                                 | 1 2   |
| Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/2 each                                                                                                                                  | 38 4  |
| Magīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6 each | 13 2  |
| Maghāzi of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each                                                                                                                                       | 1 14  |

\* The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

|                                                                                                                         |    |    |    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----|----|----|
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 1/ each ...                                                                  | Rs | 5  | 10 |
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (English). Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes ; Vol. III, Fasc. 1 @ 12/ each ... | 12 | 0  |    |
| Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each ...                                                                     | 7  | 2  |    |
| Ma'āgiri-i-Ā'amgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/ each ...                                                                     | 2  | 4  |    |
| Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1 ...                                                                                     | 0  | 6  |    |
| Nizāmī's-Khīradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 12/ each ...                                                       | 1  | 8  |    |
| Riyāzu-s-Salātīn, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each ...                                                                        | 1  | 14 |    |
| Ditto (English) Fasc. 1-5 ...                                                                                           | 3  | 12 |    |
| Tabaqāt-i-Nāsirī, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each ...                                                                        | 1  | 14 |    |
| Ditto (English) Fasc. 1-14 @ 12/ each ...                                                                               | 10 | 8  |    |
| Ditto Index ...                                                                                                         | 1  | 0  |    |
| Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each ...                                                | 2  | 10 |    |
| Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each ...                                               | 2  | 4  |    |
| Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1½/ each ...                                                                      | 3  | 0  |    |
| Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1 ...                                                                                | 0  | 12 |    |
| Wis o Rāmīn, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each ...                                                                             | 1  | 14 |    |
| Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 1/ each ...                                                         | 6  | 6  |    |

### ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each ... 20 0
  2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 1/ per No. ; and from 1870 to date @ 1½/ per No.
  3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1896 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1½/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. 1, No. 1, 1905, @ 1-s per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members.
  5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0  
A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., *J.A.S.B.*, 1878) ... 4 0  
Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., *J.A.S.B.*, 1858) ... 2 0  
Catalogue of Mammals and Birds of Burma, by E. Blyth (Extra No., *J.A.S.B.*, 1875) ... 4 0
  6. Anis-ul-Musharrahīn ... 3
  7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3
  8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
  9. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 1½/ each ... 32 0
  10. Jawāmlu-l'ilm ir-riyyāzī, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
  11. Khizānatu-l'ilm ... 4 0
  12. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each ... 40 0
  13. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
  14. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
  15. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös ... 10 0
  16. Ditto Grammar ... 8 0
  17. Kacmīracabdhātā, parts I and II @ 1½/ ... 3 0
  18. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
  19. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0  
 Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

*N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.*

7-9-'05.

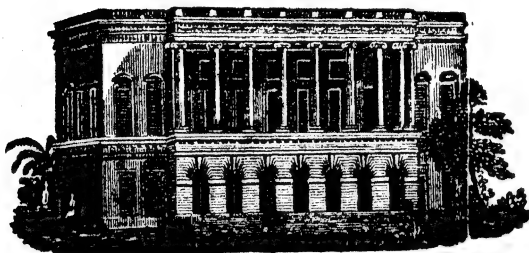
BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-P.



BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1158.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशख्यभाष्यसहितम् ॥

THE ÇĀTAPATHA BRĀHMAṆA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,  
WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCĀRYA.

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS IV,

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,
1906.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM
THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,
15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk * cannot be supplied—some
of the Fasciculi being out of stock.*

BIBLIOTHECA INDICA.

Sanskrit Series.

*Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 2,4 @ 1/ each	Rs.	0	12
Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2		0	12
*Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/ each		4	2
Aitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/		8	10
Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. 1		0	12
Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/ each		2	4
Acvavaidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each		1	14
Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each		10	0
A Lower Ladakhi version of Kesarsaga, Fasc. 1		1	0
Bāla Bhaṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2		0	12
Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/ each		1	2
Bhāṭṭa Dipikā Vol. I, Fasc. 1-5		1	14
Bṛhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each		1	8
Bṛhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/ each		2	4
Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3		1	2
Çatadusani, Fasc. 1-2		0	12
Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each		8	0
Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-5, Vol III Fasc 1-7		7	2
Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-12 @ 1/6 each		4	8
*Çaturvarga Çintāmanī, (Text) Vol. I, Fasc. 1-25; III. Part I, Fasc. 1-15, Part II, Fasc. 1-10 @ 1/ each; Vol. IV, Fasc. 1-5		21	12
Çlokavārtika, (English) Fasc. 1-5		3	12
*Çrāṭya Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/ each		4	8
Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/ each; Vol 4, Fasc. 1		6	0
Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each		1	2
Dan Kriya Kaumundi, Fasc. 1-2		0	12
Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7		2	10
Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1		0	0
Kāla Viveka, Fasc. 1-6		2	4
Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/2 each		4	8
Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/2 each		10	8
Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/ each		3	6
Lalitā-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/2 each		2	4
Maṇḍana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/ each		4	2
Mahā-bhāṣya-pradīpodyota, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-4, @ 1/ each		9	6
Manuṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each		1	2
Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/2 each		6	12
*Mināṁsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/ each		4	14
Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/		2	4
*Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/ each		3	0
Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/		2	10
Nityacarapradīph, Fasc. 1-6		2	4
Nyāyabinduṭikā, (Text)		0	10
Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/ each		3	0

तेषु वरुणप्रघासेषु चोदकतो वेदेगाहवनीयस्य चैकत्वे प्रामे-
दित्वं विधत्ते — “तद्वै द्वे इति * । ‘तत्’ तत्र वरुणप्रघासेषु ।
वेद्याहवनीययोर्द्वित्वं मनूय प्रयोजनकथनेन स्तौति — “तद्य-
दिति । दक्षिणत उत्तरतश्च स्थिताभ्यां वेदिभ्यां मग्निभ्याम्
‘तदुभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च पार्श्वद्वयादेव ‘वरुणपाशात्’
‘प्रजाः’ ‘प्रमुञ्चति’ । “इतद्योर्द्धा इति प्रागुक्तार्थम् † ॥ ५ ॥

उत्तरवेदिनिवपनं विधत्ते — “स इति । हयोर्वेद्योर्या ‘उत्तरा’
उत्तरदिगवस्थिता तस्या मेव वेद्या माहवनीयायतने ‘उत्तरवेदिम्’
‘उपकिरति’ उपक्षिपति । एवकारयोर्व्यावर्त्यं दर्शयति — “न
दक्षिणस्या मिति । ‘दक्षिणस्यां’ वेदी उत्तरवेदिः ‘न’ कार्येत्यर्थः ।
तच्चोत्तरवेदिनिर्माणं सूत्रकृतापि दर्शितम् — “उत्तरवेदिं निव-
पति उत्तरस्यां, शम्या मादाय चात्वालं मिसीते” — इति ‡ ॥

तदेतत् स्तौति — “क्षत्रं वा इति । “यान्येतानि देवता
क्षत्राणीन्द्रो वरुणः” — इति अग्रे समाम्नास्यते § ; अतो वरुणो देवेषु
मध्ये क्षत्रियः, मरुतो देवविशः । तत्रोत्तरस्या मादो वरुण इज्यते
दक्षिणस्यां मरुतः । अत एवेदानीं लोके तत्रा दृश्यत इति
प्रसिद्धिमुदाहरति — “तस्मादिति ॥ ६ ॥

वैश्वदेवे पर्वणि आदितो यान्याग्नेयादीनि पञ्च हवींषि ।
नान्यत्रापि विधत्ते — “अथेतानीति । अयोगव्यवच्छेदार्थं

* का० श्रौ० सू० ५. ३. ६ — १८ ।

† पुरस्तादिहैव २७०८० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ३. १६, २० । तत्रान्यथापि द्रष्टव्यम् । ३३ सू०

§ शत० ब्रा० १४. ४. २. २३ ।

पुरस्तादिहैवाध्याये १ ब्रा० अष्टमऋणीतो द्रष्टव्यः ।

एवकारः । तदेतत् स्तौति— “एतैर्वा इति । एतानि वरुण
पाशविमोचने विहितानि हवींषि प्रजापतिः साधनत्वेन यतः
प्रागुक्तवान्, अतोऽत्रापि तेषां मनुष्ठानं मुपपन्नं मित्यर्थः । “इत-
श्चोद्धा इति, व्याख्यातम् * ॥ ७ ॥

षष्ठं भागं विधत्ते † — “अथेन्द्राग्न इति । तत् प्रशंसति—
“प्राणोदानावित्यादिना । “तद्यथेति । तत्र लोके यथा ‘पुण्यं’
शोभनं मुपकारं कृतवन्तं प्रत्युपकाररूपं ‘पुण्यं’ शोभनं ‘कुर्यात्’,
‘एवम्’ एव तदिन्द्राग्न्योर्हविर्निर्वपणम् । ताभ्यां कृतं मुपकारं
दर्शयति— “तयोरिति । प्राणोदानात्मकयोस्तयोरवस्थानादेव कार-
णात् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘प्रजा न पराबभूतः’ । प्रागान्नातम्—
“प्राणोदानौ हवाभ्यो नापचकमतुः”—इति ‡ । “तत् प्राणो-
दानाभ्यां मित्यादि । ‘तत्’ तस्मात् प्राणोदानरूपयोरिन्द्राग्न्यो-
र्यागाभ्याम् ‘एव’ ‘एतत्’ ‘प्रजाः’ वरुणपाशगृहीताः चिकित्सति
तौ ‘प्राणोदानौ’ एव तासु ‘प्रजासु’ स्थापयति । “तस्मादिति
प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ८ ॥

वेदिद्वयेऽपि पयस्यां विधत्ते— “उभयत्रेति § । ‘उभयत्र
अध्वर्युकर्तृकाया सुत्तरस्यां वेद्यां प्रतिप्रस्थातृकर्तृकायां दक्षि-
णस्यां च । (द्वे ||) ‘पयस्ये’ हविषी ‘भवतः’ । वरुणपाश-

* पुरस्तादिहैव २७० ए० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

† ‘षष्ठं’ हविरिन्द्राग्नौ दादशकपालः पुरोडाशो भवति— इति का०
श्रौ० ५. ४. २२ सू० । ‡ अत्रैव २७२ ए० १४ पं० ।

§ ‘अध्वरोक्तं सुत्तरम्’—इति का० श्रौ० स० १. १०. ५ । “दक्षिणं
प्रतिप्रस्थातुः”—इति च का० श्रौ० सू० ५. ४. २५ ।

॥ च-पुस्तकादन्यत्र नैतत् पदं मस्ति ।

विमोचनानुकूलं पयस्यायाः प्रतिपादयति — “पयसी वा इति । पुरा प्रजापतिना सृष्टाः ‘प्रजाः’ तदीयस्तन्यरूपात् ‘पयसः’ ‘सम्भूताः’ वर्द्धिताः, इदानीं मपि मानुषाः स्तन्यरूपात् पयस इव ‘सम्भवन्ति’ वर्द्धन्ति । “तद्यत एवेति, अस्यार्थस्यानुवादः । ‘तत एव’ सम्भूतिहेतोः ‘पयसः’ कारणात् ‘उभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च पार्श्वद्वयात् , प्रजानां वरुणपाशविमोचनं कृतवान् भवति ॥ ८ ॥

अध्वर्युकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति — “वारुणीति * । उत्तरस्यां वेद्यां या पयस्या, सा वरुणदेवताका कार्या । ‘तत्’ प्रत्यक्ष मिति । देवतान्तरयागेन वरुणपाशविमोचनं परोक्षम् , वरुणदेवताकेन तु यागेन ‘तत्’ पाशविमोचनं ‘प्रत्यक्षम्’ एवेति वरुणदेवताकत्वं युक्ततर मित्यर्थः ।

प्रतिप्रस्थातृकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति — “मारुती †” दक्षिणेति । दक्षिणस्यां वेदौ क्रियमाणा पयस्या मरुदेवताका भवेत् । “अजामिताया इति । वरुणदेवतां परित्यज्य ‘अस्याः’ पयस्याया यत् मरुल्लक्षणदेवतान्तरकरणम् , तत् जामितादोषराहिलाय भवति । व्यतिरेकेण तदेवाह — “जामीति । ‘यद्’ यदि ‘उभे’ अपि दक्षिणोत्तरपयस्ये वरुणदेवताके ‘स्याताम्’ तदा प्रयुक्तस्या एव देवतायाः पुनःप्रयोगो नवीकरणाभावात् अलसतारूपजामितादोषः स्यादित्यर्थः ।

मारुतत्वे कारणान्तर माह — “अतो ह वा इति । ‘अतः’ अस्मद्वक्ष्यमाणादपि हेतोः दक्षिणा पयस्या मारुती कार्या । अस्य हि प्रजापतेः सम्बन्धिनी प्रजा पुरा दक्षिणतः स्थितानां मरुता

‘वारुणी अध्वर्योः’—इति का० श्रौ० ५. ४. २३ सू० या० दे० ।

‘मारुती सहाज्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्याम्’—इति का० श्रौ० ५. ५. ५ ।

मुपशमनाय दक्षिणतः क्रियमाणेषां पयस्या मासुती कार्य-
त्यर्थः ॥ १० ॥

करीराणां मावपनं विधाय स्तीति — “तयोरिति । तयो-
रुभयोः पयस्ययोः करीराणि प्रक्षिपेत् ॥ मधुराः फलविशेषाः
करीराणि ; तानि चोत्तरापथे प्रसिद्धानि ॥ “कं वा इत्यादि ।
‘करीरैः’ एतैः करीरफलैः ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाभ्यः’ अस्माकं ‘कं’
सुखम् ‘अकुरुत’ तस्मादिदानीं मध्येव यजमानस्तदावपनेन सुख
मेव प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

शमीपर्णानां मावपनं विधत्ते — “तयोरिति । ‘शमीपला-
शानि’ शम्याः पर्णानीत्यर्थः । “शं वा इत्यादि । ‘शम्’ उपद्र-
वाणां शमनमित्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् । अत एवोक्तं कात्यायनेन —
“उभयोः करीराण्यावपति शमीपलाशमिश्राणि”—इति § ॥ १२ ॥

अथान्तिमहं विधत्ते — “अथ काय इति । कः प्रजापति-
देवता अस्य ‘सास्यदेवता’—इत्यणि § “कस्येत्”—इति ‘क’-

“वाजिने निधियोभयोः करीराण्यावपति”—इति का० श्रौ० सू०
५. ५. १ । “यतीनां भवदमानानां शोर्षाणि परापतन् ते खजूरा अभ-
वन् तेषां रसजङ्घोऽपतत्तानि करीराण्यभवन्सौम्यानि वै करीराणि
सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टिं व्यावयति यत् करीराणि भवन्ति”—
इति तै० सं० २. ४. ६. ४ ।

† राजस्थान प्रदेशीय जयपुर पत्तनादावपि बहु जायन्त इमानि सुमिष्ट-
क्षुद्रफलानि ; अवहृथन्ते चैतदामानि शाकार्यं मपीति दृष्टम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १ । “शमी नाम कण्टकी वृक्षः, तस्य पर्णानि
शमीपलाशानि । करीरोऽपि अपर्णः कण्टकीवृक्षः, तस्य फलानि करी-
राणि । शमीपर्णानां करीरफलानाञ्च तुल्यत्वम्”— इत्यादि च तत्र या० दे०

§, ॥ पा० सू० ४. २. २४, २५

शब्दस्येकारान्तादेशः । एतस्य हविषः प्रयोजनमाह— “कं वा इति । सुखात्मको हि प्रजापतिः ‘क’-शब्दवाच्यः । अतस्तद्देवतात्मेन यागेन सुखकारणमुपपन्नमिति भावः ॥ १३ ॥

करम्भपात्राणां निर्माणं विधत्ते— “अथ पूर्वद्युरिति । यस्मिन् दिवसे वरुणप्रवासप्रागः, ततः ‘पूर्वद्युः’ पूर्वं दिवसे । “अन्वाहार्यपचने इति । अन्वाहार्यी नामेष्टिः । दक्षिणदिग्भागे मरुतो ‘जिघांसन्’ हन्तुमैच्छन्; तान् प्रजापतिरेतेन पयस्धारूपेण भागेन ‘अशमयत्’ शमितवानिति यावत्, तस्माद् । दक्षिणात्वेन देय ओदनो यस्मिन् पच्यते स तथोक्तः । तस्मिन् दक्षिणाग्नौ ‘अतुषान्’ तुषरहितान् ‘कृत्वा’, सम्पूर्य्य ‘तान्’ ‘ईष-दिव’ अत्यल्पमिव ‘उपतप्य’ अपयित्वोदकेनालोड्य, तैः ‘करम्भ-पात्राणि’ भ्रष्टयवचूर्णाः * करम्भाः, तन्मयानि पात्राणि ‘कुर्वन्ति’ अध्वर्युयजमानादयः † । कियन्ति तानि पात्राणीत्यपेक्षाया माह— “यावन्त इति । यावत्सङ्ख्याका यजमानस्य ‘गृह्याः’ स्वगृहे वर्त्तमानाः पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञातयो भवेयुः, ‘तावन्ति’ तावत्सङ्ख्या-कानि करम्भपात्राणि कार्याणि । तानि च जनिष्यमाणापत्या-र्यम् ‘एकेन’ ‘अतिरिक्तानि’ अधिकानि कार्याणि ‡ ॥ १४ ॥

करम्भपात्रावशिष्टाद् यवपिष्टादेव मेषमेघीलक्षणमिथुनस्य

* ‘पिष्टचूर्णाः’—इति च ।

† करम्भो दध्ना संयुताः सक्तवः, तन्मयानि पात्राणि करम्भ-पात्राणीति का० श्रौ० ५. ५. २ सू० या० दे० ।

‡ “यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकानि”—इति का० श्रौ० सू० ५. ३. ३ । तत्र इतोऽतिरिक्ते क्षेमे मुचे— “प्रजायां वा जातयुतेः, त्रीणि वा नित्यन्वात्” इति ४. ५ ।

निर्माणं विधत्ते — “तत्रापीति । ‘अपि’-शब्द एवकारार्थः । ‘तत्र’ करम्भपात्रनिर्माणसमये एव , तेनैव पिष्टेन मेषमेष्यौ कर्त्तव्ये * । “तयोरिति । सम्भूयानुदितयोः । ‘मेषे च मेष्याञ्च’ इति पृथगुपादानं विस्मयार्थम् । “यद्यनैडकीः †” इति । एङ्को ‡ मेषः, तत्-सम्बन्धरहिता अनैडक्यः, ‘ऊर्णाः’ कम्बलोपादानभूतानि तज्जातीयानि रोममयानि § सूत्राणि । यदि तास्तथाविधा ऊर्णाः ‘विन्देत्’ लभेत, तदा ‘ताः’ ‘प्रणिज्य’ प्रक्षाल्य, तयोः मेषमेष्योः ‘निश्लेषयेत्’ संश्लेषयेत् ॥ । ‘यद्यु’ यदि खलु “अनैडकीः” ऊर्णाः “न विन्देत्” न लभेत, तर्हि “कुशोर्णा एव स्युः” कुशमया एवो-र्णाः , तयोः संश्लेषणीयाः भवेयुः ¶ ॥ १५ ॥

मेषमेष्योः करण मनूय स्तौति — “तद्यदिति । “वरुणस्य पशुर्यन्मेष इति । ‘यद्’ ‘एषः’ खलु ‘प्रत्यक्षः’ ‘वरुणस्य’ हविर्भूतः ‘पशुः’ । अत एव पश्वेकादशिन्याम् “अधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्ण एकशितिपात् पेतुः”—इत्याम्नायते * * । पेतुो विगतपुंस्को मेष इति हि तत्रार्थः । “यवान् हीति । ‘हि’ यस्माद् ‘यवान्’ ‘जक्षुषीः’ भक्षितवतीः प्रजाः ‘वरुणः’ “अष्ट-ज्ञात्”, ‘अतस्तद्यवप्रत्यर्पणाय मेषमेष्योर्यवत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः ।

* का० श्रौ० सू० ५. ३. ६ । निस्तुषा मभ्यष्टयवकरम्भस्तैव मेष मेषा-कारं प्रतिरूपकम् मेषीं मेषाकारां प्रतिकृतिञ्च करोति”—इति या० दे० ।

†, ‡ ‘नैलकीः’, ‘एलको’ च ।

§ तज्जातीयरोममयाणि—इति च ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ३. ७ ।

¶ का० श्रौ० सू० ५. ३. ८

* * वा० सं० २६. ५८

तयोः स्त्रीपुंस्वरूपता मनूय स्तौति— “मिथुनौ भवत इति ।
‘मिथुनाद्’—इत्येतद् ‘वरुणपाशाद्’—इत्यस्य विशेषणम् । द्वैरूप्याधि-
करणाद् दक्षिणस्यां मेघो न मोचनहेतुः * ॥ १६ ॥

अथ तयोः प्रक्षेपं विधत्ते— “स इति । अध्वर्युकर्तृकायाम्
‘उत्तरस्याम् पयस्यायां’ ‘मेषीम्’ ‘अवदधाति’ प्रक्षिपति । प्रति-
प्रस्थात्कर्तृकायां ‘दक्षिणस्यां’ ‘मेषं’ प्रक्षिपति । अनयोर्दक्षिणो-
त्तरभावं लोकन्यायेनोपपादयति— “एव मिवेति † ॥ १७ ॥

हविषा मासादनं विधत्ते— “स सर्वाण्येवेति । आग्नेयादीनि
‘सर्वाण्येव हवींषि’ ‘उत्तरस्यां’ ‘वेदौ’ वेद्यां ‘सः अध्वर्युः’ ‘आसा-
दयेत्’, ‘प्रतिप्रस्थाता’ तु ‘एताम्’ मारुतीं ‘पयस्या मेव’ ‘दक्षि-
णस्यां’ वेद्या मासादये दित्वर्थः ‡ ॥ १८ ॥

हविरासादनोत्तरकाल मग्निमन्यनं विधत्ते— “आसाद्येति ।
‘अग्निं मयित्वेत्यादि । अग्निमन्यनानन्तरजातम् ‘अग्निम्’ आह-
वनीये “भवतन्नः”—इति § मन्त्रेण ‘अनुप्रहृत्य’ प्रक्षिप्य, “अग्ना-
वग्निः”—इति ॥ मन्त्रेणाभिजुहुयात् । एतच्चाग्निमन्यनादिकम् ¶
‘अध्वर्युः’ एकः ‘एव’ कुर्यात् ; न प्रतिप्रस्थातेत्यभिप्रायः । दक्षि-
णोत्तरयोरुभयोरप्याहवनीययोराहुत्यधिकरणत्वेनेष्वादीनां समि-
न्धनीयत्वात् तद्धेतुभूतः सामिधेनीप्रेषोऽपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्तभ्या
मुभाभ्यां प्रयोक्तव्य इत्याशङ्क्याह— “अथाध्वर्युरेवेति । ‘एव’-कारः

* का० श्रौ० सू० ५. ५. २, ३ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. ५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ४ ।

§ वा० सं० ५. ३ ।

॥ वा० सं० ५. ४ ।

¶ “अग्नये मथ्यमानायानुवाचयति, मन्यति गायत्रेणेति (का० श्रौ०
५. २.)”—इत्यादीनि सूत्राणीहोक्तानि ।

प्रतिप्रस्थातृव्यावृत्त्यर्थः । एकस्याहवनीयस्य देशभेदेन द्विधावस्थानात्, प्रतिप्रस्थातुराहवनीयान्तराभावात्, प्रेथस्य च होतुरुभयत्रैकत्वाद्, अध्वर्युणोच्यमान एव प्रेष उभयत्रोपकरोति, ता उभौ समिधावित्यभिप्रायः । इध्माधानादिकन्तु ताभ्यां समनुष्ठेयमित्याह— “ता उभाविति । ‘तौ’ अध्वर्युप्रतिस्थातारौ ‘उभौ’ । अथाध्वर्युरेव कर्तव्यमाह— अथाध्वर्युरेवेति । हे ‘अग्नीत् !’ ‘अग्निम्’ आहवनीयं ‘समृद्धि’ सम्मार्जनेन संस्करु । “असंसृष्टमेवेति । करम्भपात्राणां होमस्य कालविधिः । अग्निमग्निदिति सम्प्रेषे कृतं तदर्थत्वात् आग्नीध्रेणानुतिष्ठत इत्यर्थः * ॥ १८ ॥

तस्य च करम्भपात्राणां होमस्य पत्नीकर्तृकत्वं विधित्सुस्तस्या सम्भावितस्य पुरुषान्तरसम्पत्तिजनितस्यैनसः प्रश्नं दर्शयति— “अथ प्रतिप्रस्थातेति । अग्निमग्नीदिति सम्प्रेषानन्तरं ‘प्रतिपरे’ति निवर्तते, पत्नी यत्रास्ते तं देशं प्रतिगच्छेदित्यर्थः । ‘सः’ च प्रतिप्रस्थाता ‘पत्नीम्’ ‘उदानेथ्यन्’ उदागमयिष्यन् । तां पत्नीं ‘पृच्छन्ति’,— त्वं ‘केन’ जारिण ‘चरसि’ वर्तसे ‘इति’ † । पुरुषान्तरसङ्गतेर्दीपान्तरतामाह— “वरुण्यमिति । येन पापेन हेतुना वरुणपाशबन्धो भवति, तत् पापं ‘वरुण्यम्’ । ‘अन्यस्य पुरुषस्य पत्नी ‘सती’, ‘अन्येन’ पुरुषान्तरेण सह ‘चरति’ वर्तते यत्, एतत् वरुण्यमेव ‘स्वीकरोति’ । प्रष्टुः प्रतिप्रस्थातुरभिप्रायमाह— “अथो इति । ‘अथो’ अपि च एषा पत्नी ‘अन्तःशल्या’ ‡ शरीरमध्ये दुश्चरितजनितेन पापरूपेण शल्येन § युक्ता सती ‘इत्’ नैव ‘मे’ मदीयेऽग्नी ‘जुहवत्’ ‘इति’ । ‘तस्मात्’ कृतस

* का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ क ।

† का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ ख ।

‡ ‘शल्या’, ‘प्रत्यने’ च ।

पापस्य कनीयस्त्वम् । “तस्माद् वेवेति । ‘उ’-शब्दोऽपीत्यर्थे ,
‘एव’-कारो भिन्नक्रमः । तस्मादपि कारणात् पृच्छत्येवेत्यर्थः * ।

विपक्षे बाधोपन्यासेन पत्न्या अपि यथार्थभाषणं कर्त्तव्य-
मिति विधत्ते— “सेति । ‘यत्’ यदि ‘सा’ पत्नी पृष्ट मर्थं ‘न
प्रतिजानीत’ न प्रतिब्रूयात् , ‘तत्’ तदा, ‘अस्यै’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी,
अस्याः पत्न्याः ‘ज्ञातिभ्यः’ ‘अहितम्’ अनिष्टं स्यात् , तस्माद्
वस्तुतो विद्यमानं वृत्तान्तं माचक्षीतेत्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्या-
स्नायते— “यज्जारं सन्तं न प्रब्रूयात् , प्रियं ज्ञातिं रुन्ध्यात् ,
असौ मे जार इति निर्दिशेदिति †” । तदुक्तं कात्यायनेन — “प्रति-
प्रस्थाता पत्नी मानिष्यद्राह केन चरसीति संस्तुतानाचष्टे”—इति ‡ ।
संस्तुताः परिजाता जारा इत्यर्थः ॥ २० ॥

तस्या वाचनं विधत्ते— “तां वाचयतीति । “प्रघासिनः”
-इत्यादिर्वाचनीयो मन्त्रः § । तस्याय मर्थः— ‘प्रघासिनः’
प्रघासः प्रघसनीयं भोज्यं हविः , तदतो ‘मरुतः’ ‘शुक्रज्योतिश्च
चित्ज्योतिश्च”—इत्यादिना प्रतिपादितनामधेयान् एकीनपञ्चा-
शत्संख्याकान् देवान् ‘हवामहे’ आह्वयामः । यतो ‘रिशादभः’
रिशाः हिंसकाः शत्रवः , तेषां निरसितारः । ‘करम्भेण’ करम्भ-

* पत्नी एतावन्तो मे जारा इति नामग्राहं कथयति , अमुना
अमुना जारेण सह चरामीति वा ; नो चेन्नान्येनेति । यदि लज्जादि-
वशात् न कथयति, प्रति जारं लक्षणानि उद्गृह्णाति । का० श्रौ० ५. ५.
७-१० सू० इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ५. २ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ६. ७ ।

§ वा० सं० ३. ४४. १ ।

पात्ररूपेण हविषा 'सजोषसः' समानप्रीतयश्च भवन्ति , तान् मरुत इति ।

एतन्मन्त्रं पुरोऽनुवाक्यानुवचनसादृश्येन स्तौति — “यथेति । ‘पुरोऽनुवाक्या’ हि यज्यमाणदेवताह्वानार्था , ‘एवम् एव’ , ‘एषा’ प्रवासिन इत्यृक् । अतः ‘एतया एव’ ‘एतान्’ मरुतः ‘एतेभ्यः’ ‘पात्रेभ्यः’ करम्भपात्रेभ्यः ‘ह्वयति’ होष्यमाणं करम्भपात्रलक्षणं हविर्भोक्तु माह्वयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

“करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्णाः स्युस्तावन्ति”—इति वाक्येन प्राग्विहितम् * , तदनु स्तौति — “तानि वा इति । ‘प्रतिपुरुषं’ पुरुषं पुरुषं प्रत्येकैकं करम्भपात्रं भवति । यावन्त इत्याद्युक्तार्थम् । पुरुषसङ्ख्याया पात्रनिर्माणस्य प्रयोजन माह— “तत् प्रतिपुरुष मिति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘याः प्रजाः जाताः’, ‘ताः’ ‘प्रतिपुरुषं’ प्रत्येकम् ‘एकैकेन’ पात्रेण ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रमुञ्चति’ । एतदतिरिक्ततामनूद्य स्तौति— “एकेनेति । जनिष्यमाणानां प्रजानां वरुणपाशविमोचनार्थं मेक मतिरिक्तं कर्त्तव्य मित्यर्थः ॥ २२ ॥

पुरोडाशादिरूपतां विहाय पात्ररूपेण निर्माणमुपपादयति— “पात्राणीति । ‘हि’ यस्मात् ‘पात्रेषु’ कांस्यादिनिर्भिर्तेषु ‘अश- नम्’ अन्नम् ‘अश्यते’ भुज्यते , अतो मरुतां पयस्यारूपस्यान्नस्य भोजनीयपात्ररूपेणैव निर्मातव्यानीत्यर्थः । यवमयत्वं मनूद्य स्तौति— “यवमयानीति । ‘जक्षुषीः’ भक्षितवतीरित्यर्थः । अथ तेषां करम्भपात्राणां होमं विधत्ते — “शूर्पेणेति † । जुह्वादि

* पुरस्तात् पृ० २७६ पं० १ द्रष्टव्यम् ।

† “करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्ध्वनि कृत्वा दक्षिणे ऽग्नौ प्रत्यङ्मुखो जायापती वा”—इत्यादि का० श्रौ० सू० ५. ५. ११ ।

पात्रं विहाय शूर्पेणैव तानि जुहुयात् । तेन हि 'शूर्पेण' तुषनिर्व-
पनद्वारा * 'अशनम्' अन्नं 'क्रियते', अतः न चात्र शूर्पो हेत्वर्थः
शङ्कनीयः ; "हेतुर्वास्यादर्थवत्तोपपत्तिभ्याम्, सुतिसु शब्दपूर्व-
त्वात्"—इत्यधिकरणे † सुतिस्त्वेनान्वयस्य प्रतिपादितत्वात् । "पत्नी
जुहोतीति कर्तृविधिः ‡, मिथुनदेवेलादि तत्प्रशंसा । स्त्रिया
अपि कर्तृत्वेन होमिऽन्वयात् मिथुनं सम्पद्यते । तथाच यजमान-
पत्नीरूपात् मिथुनादेवेत्ययं मर्थः सिध्यति ॥ २३ ॥

स्रुवाधारहोमादेः पूर्वभावित्वं करम्भपात्रहोमस्य विधत्ते—
“पुरेति । यज्ञो वषट्कारप्रदानो यजतिचोदित आग्नेयः, आहु-
तयः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतिचोदिताः । एतत्पूर्वभावित्वं सुप-
पादयति— “अहुताद इति । अहुतं होमसंस्काररहितम् अदन्ति
भक्षयन्त्यहुतादः । मरुतां वैश्यजातित्वेन अहुतादानधर्मवत्त्वात्
सर्वहोमात् पूर्वं तेभ्यो हविःप्रदानं युक्तं मिति भावः । इतोऽपि
करम्भपात्राणां पूर्वहोम इत्याह— “यत्वेति । 'परिदीर्क्षाः'—इत्या-
दिकं व्याख्यातम् § । 'यत्र' यदा खलु 'प्रजापतेः प्रजाः' 'वरुण-
गृहीताः' परिदीर्क्षत्वादि-रोगग्रस्ता अभवन्, 'तत्' तदा 'आसां'
प्रजानां प्रधानं 'मरुतः' 'विमेषिरे' विलोपयन्ति ॥ स्म, संश्ले-

* 'लुरापवनद्वारा'—इति च ।

† मी० जे० सू० १, २, २६—३० ; अधि ३ ।

‡ 'करम्भपात्राणि पत्नी जुहोति, जुहृस्थानापत्नेन शूर्पेण ; मस्तक-
स्योपरि शूर्पं कृत्वा । यदा पत्नीयजमानौ जुहुतो नैकाकिनी पत्नी'
—इति तत्र वृत्तौ या० दे० ।

§ २८७ पृ० ८ पङ्क्तिं द्रष्टव्यम् ।

॥ 'विलोपयन्ति'—इति च ।

षितवन्त इत्यर्थः । ‘तथो एव’ ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘प्रजानां’
वरुणपाशगृहीतानां ‘पाप्मानं’ पाशविमोचनात् प्रागेव मरुतः
‘विमथ्रते’ संविश्लेषयन्ति । ‘तस्माद्’ वरुणपाशविमोचनार्थाद्
यज्ञात्, ‘आहुतिभ्यः’ च पूर्वमेव करम्भपात्राणां होमेन् मरुतां
शंसनं * युक्तमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अग्निविशेषं विधत्ते — “सा वा इति । ‘सा’ खलु पत्नी
‘दक्षिणे’ दक्षिणस्यां वेद्या मवस्थिते आहवनीये ‘अग्नी’ ‘जुहोति’ ।
“यद् ग्रामे इति † । तं पदशोऽनूय व्याचष्टे — “यद् ग्रामे
इत्यादिना ‡ । ‘यत् एनः क्रियते’, ‘तत्’ ग्रामे वा अरण्ये वा
भवति । “यत् सभाया मिति, द्वितीयपादस्य कात्कर्त्तव्यनानुवादः ।
तत्र प्रथमाह मनूय सभाशब्दं व्याचष्टे — “यत्सभाया मिति ।
यत्सनुषसङ्घैः एनः क्रियत इति योऽर्थः, अयमेव यत्सभाया
मिति मन्त्रभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । यदिन्द्रियपदस्य देवसङ्घ-
परत्वं माह — “यदिन्द्रिय इति । ‘इन्द्रिये’ इन्द्रसम्बन्धिनि देव-
समूहे । तदुत्तरभाग मनूय व्याचष्टे — “यदेन इति । ग्रामादि-
स्थानेषु यत् पापचयं ‘चक्रम’ कृतवन्तः, ‘तत्’ पापम् ‘इदम्’
इदानीं करम्भपात्रलक्षणेन हविषा ‘अवयजामहे’ समर्पयामः ।
‘स्वाहा’-इति निपातो दानार्थे, स्वाहुतमिदमस्त्विति मन्त्रभाग-
स्वार्थः । ‘तस्मात् सर्वस्मादित्यादि । कृतस्यैनसोऽवयजनं नाम
‘तस्मात् सर्वस्मात्’ ‘प्रमोचनं’ विश्लेषः । ग्रामारण्यादिस्थानभेदेन
बहुविधस्यैनसः सङ्ग्रहाय सर्वस्मादिति विशेषणम् ॥ २५ ॥

* ‘शंसनं’-इति च ।

† वा० सं ३. ४५. १ ।

‡ का० ग्रौ० सू० ५. ५. ११ ।

यजमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते— “अथेति । ‘अथ’-शब्दो होमानन्तर्ये, ‘ऐन्द्रीम्’ इन्द्रदेवताकाम्, ‘मरुत्वतीं’ मरुत्वच्छब्द-युक्ताम्, “मो षू ण इन्द्र”—इत्यादिका मृचं * यजमानो जपेदित्यर्थः । उक्तं हि सूत्रकृता— “मो षू ण इति यजमानो जपति”—इति † । मरुत्वदिन्द्रदेवताका मृचं प्रशंसति— “यत्रेति । ‘मरुतः पाप्मान मित्यादि । यदा खलु वरुणपाशेन बद्धाः प्रजाः, तासां यद् बन्धनकारिणं पापं ‘मरुतः’ ‘विमथिरे’ विलोपितवन्तः, ‘तत्’ तदानीं प्रजापतिः खलु ‘ईक्षाञ्चक्रे’ पर्यालोचितवान्— ‘इमे’ खलु ‘मरुतः’ मदीयाः ‘प्रजाः’ न विमथीरन् न विबाधेरन् ‘इति’ ॥ २६ ॥

“स एता मिति । ‘सः’ प्रजापतिः पूर्वोक्तरूपं पर्यालोच्य ‘एताम् ऐन्द्रीं मरुत्वतीम् ऋचम् ‘अजपत्’ । अत्रेन्द्रस्य प्रसङ्गमाह— “क्षत्रं वा इति । ‘इन्द्रः’ खलु क्षत्रियजातिः, तस्येन्द्रस्य ‘विशो मरुतः’; क्षत्रियो हि प्रजानां ‘निषेधा’ निरोधकः, तेनेन्द्रेण ‘निषिद्धाः’ निवारिता भवेयुः । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेन्द्रदेवताकाया ऋचो जप इत्यर्थः ॥ २७ ॥

ता मृचं पठति— “मो षू ण इति । अस्य चाय मर्थः । हे ‘इन्द्र !’ ‘अत्र’ एषु ‘पृत्सु’ । सङ्ग्रामनामैतत् । अस्मदीयाः प्रजाः ‘मा उ सु हिंसीः’ । ‘हे शुभिन्’ बलवन्निन्द्र ! ‘देवैः’ मरुद्भिः सहितः ‘ते’ तव ‘अवयाः’ । अवपूर्वाद् “अवयाः श्वेतवाः”—इति ‡ निपात्यते । अवयजमानरूपकरभपावहोमः ‘अस्ति’ खलु । ‘महश्चित्’ महतोऽपि ‘मीढुषः’ सेक्तुः ‘यव्याः’ । “सुपां सुलुक्”—

* वा० सं० अ. ४६. १ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १२ ।

‡ प्रा० सू० ८. २. ६७ ।

गित्यादि । होता सीदत्यस्मिन्निति होतृषदनम् । उत्तरस्या वेद्याः सम्बन्धिनि 'होतृषदने' स्थाने ; न दक्षिणस्या इत्यर्थः । 'प्रसीति' अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ; प्रयाजान् कर्तुं युगादाने प्रेरयति । "पु प्रसवेऽर्च्ययोः"—इति * धातुः । 'प्रसूती' प्रेरितौ , अनुज्ञाता-वित्यर्थः । "सुच आदायेति । अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारुभयोरपि प्रत्येकं जुहूपभृतौ स्तः †, तदभिप्रायेण सुच इति बहुवचनम् । "समिधो यज"—इति प्रथमप्रयाजसम्प्रैषः । द्वितीयादिषु "यज"—इत्येव सम्प्रैषः ‡ । वीष्मा द्वितीयादिषु सर्वत्र सम्बन्धार्था । "चतुर्थे-चतुर्थे"—इति वीष्मा द्वित्वापेक्षया । उभावपि 'चतुर्थे चतुर्थे प्रयाजे' अपि हुत माज्यं जुह्वं 'समानयमानौ' प्रतिनयन्तौ 'नवभिः' नवसङ्काकैः 'प्रयार्जैः चरतः § ॥ ३० ॥

आज्यभागयोरपि प्रतिप्रस्थातृसाहित्यं विधातु माह— "अथाध्वर्युरिति । "उभावेवेति । उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ध्रौवस्य 'आज्यस्य' सकाशात् 'चतुरवदाय' जुह्वां चतुर्गृहीत्वैत्यर्थः । "वषट्-कृते जुहुत इति । एकस्मिन्नेव वषट्कारे उभावपि स्वस्वाह-वनीये जुहुत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

"अथाध्वर्युरेवाह सोमायेत्यादि । एतेन द्वितीयाज्यभाग-स्यानुष्ठानप्रकारः प्रतिपादितः । सामिधेनिप्रैषादौ 'आश्राव्य' आश्रावणेन अध्वर्युरेवेति ॥ ३२ ॥

* अदा० प० ३१ घा० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १५ ।

‡ "यजयजेत्युत्तरौ"—इति का० श्रौ० सू० ३. ५. ७ । "उत्तरौ-दावनुयार्जौ यजयजेत्येव" द्रिश्यति, प्रथम एव देवान् यजेति"—इति तत्तथा० दे० । आप० श्रौ० सू० ३. ५. १ च द्रष्टव्यम् ।

§ "नवः प्रयार्जं नवानुयार्जम्"—इति का० श्रौ० सू० ५. २. ७ ।

तत्र तत्र यत् प्रसङ्गत उक्तम्, तदिदानीं विधत्ते— “तद्य-
दिति । ‘यत्’ किमपि आश्रावणादिकं ‘वाचा कर्त्तव्यं’ वागि-
न्द्रियसाध्य मिति, ‘तत्’ ‘अध्वर्युरेव’ कुर्यात् । ‘प्रतिप्रस्थाता’
तूष्णीं क्रियमाण मनुतिष्ठेत्, आश्रावणादिकं वाचा न प्रयुञ्जीत ।
इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्य सूत्रित मापस्तम्बेन— “यत् किञ्च वाचा-
कर्म्मणि अध्वर्युरेव तत् कुर्यात्”—इति * । अस्य नियमस्य प्रयोजन
माह— “तद्यदिति । ‘यत्’ उत्तरस्थां वेद्यां ‘वषट् क्रियते’
होता वषट्कारः प्रयुज्यते, ‘इहैव’ अस्मिन्नेव स्थाने ‘अध्वर्युरेव
आश्रावयति’ † ॥ ३३ ॥

“कृतानुकर एवेति । ‘प्रतिप्रस्थाता’ ‘कृतानुकरा’ कृतानु-
कुर्वाणाम् ‘अनुवर्त्मानम्’ अनुगमनशीलां ‘करोति’ । विपक्षे बाध
माह— “प्रत्युद्यामिनो मिति । ‘यद्’ यदि हि अध्वर्युवत् प्रति-
प्रस्थातापि पृथगाश्रावणं कुर्यात्, तदा ‘क्षत्राय’ वैश्यजातिं
‘प्रत्युद्यामिनी’ प्रत्युद्यमनशीलां ‘कुर्यात्’ । “तस्मादिति, उक्ता-
ननुगमनम् ‡ ॥ ३४ ॥

“पाणावेवेति । एव मुभौ अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ आज्यभागाभ्यां
प्रचर्य, ‘प्रतिप्रस्थाता’ हस्ते एव जुह्वपभृतौ धारयन् ‘उपास्ते’
उपविशति, आ पयस्याप्रचरणकालात् । ‘अध्वर्युः’ तु ‘एतैः’

* आप० श्रौ० सू० ८. ५. १७ । ‘वागिति वागिन्द्रिय मुख्यते, तज्जन्यो
यापारो वाचाकर्म, तस्मात्तर्ह्यं कर्म वाचाकर्म्मणिम्’—इति तद्वृत्तिः ।

† “प्रणोतापत्नोसन्नहनाग्निमन्यनाश्रुतप्रत्याश्रुतप्रैषयजमानवाचन-
होष्टघदनवरणप्राश्चिच्छाङ्गुलिपर्वाङ्गनावान्तरैडाभागापरागावभृथान्न प्रतिप्र-
स्थाता”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३३ ।

‡ “कृतानुकरोऽन्यत्र दक्षिणस्याम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३४ ।

आग्नेयादिभिः स्ववेद्या मासादितैः 'हविर्भिः' 'प्रचरति' । तानि हवींषि परिगणयति— "आग्नेयेनेत्यादिना ॥ ३५ ॥

"अथैताभ्या मित्यादि । एव मैन्द्रानपर्यन्तैः षड्भिर्हविर्भिरिष्ट्वा 'अथैताभ्यां' वारुणीमारुतीभ्यां 'पयस्याभ्यां' 'प्रचरिष्यन्तौ' यज्ञं तावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ मेषमेष्टौ 'विपरिहरतः' । तदेव विपरिहरणं दर्शयति— "स य इति । "सः उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषीम्"—इत्यादिना * विधानात् 'वारुण्यां मेषी' स्यात्, 'मारुत्यां मेषः' । तत्र यो मारुत्यां मेषो भवति, तं तत आहृत्य वारुण्यां स्थापयेत् ; या च मेषी वारुण्याम्, तां तत आहृत्य मारुत्यां स्थापयेत् † । तदेतद् विपरिहरणं मनूय स्तौति— "तद्यदेव मिति । मेषो हि पुंरूपत्वाद् वीर्यरूपः ; वरुणश्च क्षत्रियजातिः ; तस्मिन् क्षत्रियमेषस्य निधानात् 'वीर्यं मेव एतत् धत्तः' । 'अवीर्या' वीर्यं सामर्थ्यम्, तद्गृहिता खलु 'स्त्री' ; मरुतश्च वैश्यजातिः ; मारुते हविषि स्त्रीपशोर्मेष्ट्या निधानात् तां वैश्यजातिम् अवीर्यां वीर्यरहिता मेव कुरुतः ॥ ३६ ॥

विपरिहरणानन्तरं वारुण्या पयस्यायाः प्रचरणं विधत्ते— "अथाध्वर्युरिति । "वारुणायानुब्रूहीति । होतारं प्रत्यनुवाक्यार्थं सम्प्रैष मुक्त्वा, जुह्वा मुपस्तीर्य, 'अस्यै वारुण्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । वारुण्या पयस्यायाः 'द्विरवद्यति' । 'सः' अवश्यन्ध्वर्युः 'अन्यतरेण' पूर्वेण उत्तरेण वा 'अवदानेन' 'सह' कृत्स्नं 'मेषं' स्रुचि 'अवदधाति', पुनरभिघार्य अवत्तप्रदेशे हविःप्रत्यञ्जनं कुर्यात् । स ततोऽतिक्रमणादीनि प्रकृतिवत् कुर्यादित्यर्थः ‡ ॥ ३७ ॥

* पुरस्तात् २७६८० १३५० द्रष्टव्यम् । † का० श्रौ० सू० ५. ५. १७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १८ ।

प्रतिप्रस्थातुर्माहृत्या पयस्यायाः प्रचरणे विशेष माह— “सव्ये पाणाविति । स्वकीये ‘सुचौ’ जुह्पभृतौ अध्वर्युः आत्मीये ‘सव्ये पाणी’ कृत्वा , ‘दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुः’ ‘वासोऽन्वारभ्य’, “मरुद्गोऽनुब्रूहि”—इति होतारं प्रतिप्रेथ, उपस्तरणादिकं प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् ।

स प्रतिप्रस्थाता पूर्वोक्तोत्तरेण वावदानेन सह कृतस्त्रं मेषं सुचि अवदध्यात् । ततो मेषीं वारुण्या प्रत्यञ्जनेनेति । ततः प्रतिप्रस्थाता वेदी मतिक्रामति । अनन्तर मध्वर्युरेव तदीयं वासोऽन्वारभ्य मरुतो यजेति ब्रूयात् । होतुर्याज्यान्ते वषट्कृते सति केवलं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणे आहवनीये हविर्जुहोति , त मनु किञ्चिद् वाचाप्याहरेत् । एतत् सर्वं सङ्गृह्य कात्यायनेन सूत्रितम्— “पयस्याप्रचरणकाले मेषी व्यतिहरतो ऽन्यतरेणावदानेन सह मेषं सव्येन सुचौ गृहीत्वा प्रतिप्रस्थातुर्वासो दक्षिणेन मरुद्गोऽनुवाचयति वारुणीवदवदानम्”—इति * ॥ ३८ ॥

कायेन हविषा प्रचरणं विधत्ते— “अथेति । प्रधानयागानन्तर मनुष्ठेयं खिष्टकृदादिप्रयोगजातं सर्वं मनुक्रामति — “अध्वर्युरेवाहवग्नये खिष्टकृत इत्यादिना † । “अनुब्रूहि”—इति खिष्टकृदयागस्य पुरोऽनुवाक्याप्रेषः । अनुष्ठितं प्रधानयागं न्यूनातिरेकदोषपरिहारेण खिष्टं शोभनं यज्ञं करोतीति खिष्टकृत् ।

“सर्वेषा मेवेति । आग्नेयादि-कायान्तानाम् ‡ । “सकृदिति । प्रधानयागस्य । द्विरवदानप्रसक्तिं वारयति — “एतस्या एवेति । ‘एतस्याः’ माहृत्याः पयस्यायाः ‘एव’ हविषः सकाशात् खिष्टकृदर्थं

* का० श्रौ० सू० ५. ५. १७—२० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २१ । ३५ ३६-कण्डिकासु द्रष्टव्यम् ।

‘सक्त’ एव अवद्येत् , नान्यस्मादित्येवकारार्थः । चतुरवदानसम्प-
त्तये अभिधारणस्य द्वित्वं विधत्ते — “अथोपरिष्ठादिति । ‘द्विः’
क्रियाभ्यावृत्तिगणनेऽर्थे , “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्”-इति * द्वि-
शब्दात् सुच् ॥ ३८ ॥

“अथाध्वर्युरेव प्राशित्व मिति । प्रतिप्रस्थातुः प्राशित्वावदानं
नास्तीत्येवकारार्थः । तस्य पयस्यारूपहविषः साम्नाय्यविकृतित्वात्
प्रकृतौ साम्नाय्यात् प्राशित्वावदानस्यादर्शनादित्यभिप्रायः । “इडां
समवदायेति । सर्वेभ्यो हविर्भ्यः सम्भूय एकस्मिन्निडापात्रे अवद्या-
दित्यर्थः । “अति प्रजिहीत इति । उत्तरां वेदि मतिक्रमय्य तदिडा-
पात्रं प्रगमयेदित्यर्थः † । “ओ हाङ् गतौ”-इत्यस्मात् ‡ अन्त-
र्णीतित्यर्थाल्लिटि रूपम् , “भृजा मित्”-इति § अभ्यासस्येत्त्वम् ।
“मारुत्यै पयस्याया इति , षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । “हिराज्यस्याभि-
धारयतीति । अध्वर्युरेव , न प्रतिप्रस्थाता ॥ ४० ॥

“अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति । इडोपह्वानादिकं
प्रकृतिवदेव कृत्वा , अनुयाजार्थं मभ्यनुज्ञापकं मिमं प्रैषं अध्वर्युरेव
ब्रूयात् । “यत् किञ्च वाचा कर्त्तव्यं मध्वर्युरेव तत् करोति”-
इति प्राक् प्रतिपादितस्थायं प्रपञ्चः ॥ , प्रैषार्थः प्रकृतिवर्णितः ।
“स सुचोरेवेत्यादि । ‘सः’ अध्वर्युः ‘सुचोः’ जुह्वपभृतोः ‘एव’
‘पृषदाज्यं’ दधिमिश्रं माज्यं ‘व्यानयते’ विविधं मासिञ्चति । पृष-
दाज्यधानीगतं पृषदाज्यं जुह्वा मर्हं मासिञ्च , शिष्टं माज्यं सुपभृति

* पा० सू० ५. ४. १८ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २२ ।

‡ जु० प० ७ धा० ।

§ पा० सू० ७. ४. ७६ ।

॥ पुरस्तात् २८१ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् ।

आनयेदित्यर्थः । प्रतिप्रस्थातुः पक्षद्वय माह— “अथ यदीति * ।
आज्यग्रहणकाले यदि प्रतिप्रस्थाता पृषदाज्यं गृह्णीयात् , तत्
पृषदाज्यम् , इदानीं स प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युवत् जुहूपभृतोः द्विधा
व्यासिञ्चेत् । “उतो इति, पक्षान्तरद्योतने । यदि तु तत्र ग्रहण-
समये पृषदाज्यं न गृहीतं भवति, तदा स प्रतिप्रस्थाता उपभृति
स्थितं यदेवाज्यं विद्यते , तस्यैपभृतस्याज्यस्य अङ्गं प्रथमं जुह्वा
मासिच्य, शिष्ट माज्यं चतुर्थे प्रयाजे आसिञ्चेदित्यर्थः ।

आसेचनानन्तरं कर्त्तव्य मतिक्रमणादिक सुपदिशति— “ता
उभावेवेत्यादिना । ‘देवान् यज’-इति प्रथमोऽनुयाजप्रेषः । ‘यज यज’
-इत्यादि सर्वत्र । “नित्यवीक्षयोः”-इति † यजेत्यस्य द्विर्वचनम् ।
जीहवेन पृषदाज्येन त्रिरिद्धा, ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ अनुयाजे औपभृतम् ।
‘समानयमानौ’ उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘नवभिः अनुयाजैः’
‘चरतः’ प्रचरत इत्यर्थः । उभयापेक्षया ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ इति वीष्मा ।
प्रयाजानुयाजानां तत्सङ्ख्याकत्वं सम्भूय प्रशंसति— “तद्यदिति ।
“प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे”-इति ‡ निपातनात् कुत्वाभावः ।
नव प्रयाजा अनुयाजाश्च यस्मिन् इत्युभयत्र बहुव्रीहिः , शिष्ट
मुक्तार्थम् ॥ ४१ ॥

अनुयाजागन्तरभावि सुगव्यूहनादिक मपि चोदकप्राप्त सुभा-
भ्यां कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— “ता उभावेवेत्यादिना § । “परिधि
मभिपद्येति । मध्यमं परिधि मन्वारभ्येत्यर्थः । उक्तं हि कात्या-

* “प्रतिप्रस्थाता च, न वा (गृह्णाति)”-इति का० श्रौ० ५. ४. ३१, ३२ ।

† पा० सू० ५. १. ४ ।

‡ पा० सू० ७. ३. ६२ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ५. २४ ।

यनेन— “प्रथमं परिधिं गृहीत्वा व्याहेषिता देव्या”—इति * ।
 “इषिता देव्या”—इति सूक्तवाकप्रैषः प्रकृतावेव व्याख्यातः † ।
 “समुल्लुम्पत इति । “लुपृ क्तेदने” ‡ । समुच्छिनत्तः, समुदगृहीत
 इति यावत् । “उभावनुप्रहरत इति । सूक्तवाक्तेऽनूच्यमाने ‘उभौ’
 अर्ध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘अनुप्रहरतः’ स्वं स्वं प्रस्तर मग्नीं प्रक्षिपत
 इत्यर्थः । “यदा होतेति । ‘यदा’ खलु होता सूक्तवाकं परिसमापयति
 (४२), ‘अथ’ अनन्तरम् ‘आग्नीत्’ आग्नीध्रः ‘अनु प्रहर’—‘इति’
 अर्ध्वर्युं प्रति ‘आह’ । “उभावेवेति । यद्यप्यनुप्रहरेत्येकवचने-
 नाध्वर्युरेव प्रेर्यते, तथापि कृतानुकरत्वात् § प्रतिप्रस्थातुरपि
 तृणानुप्रहरणं विद्यत इत्यर्थः । “आत्माना उपस्पृशते इति ।
 “चक्षुष्या”—इति ॥ मन्वेण । तथा च सूत्रितम्— “चक्षुष्या इत्या-
 त्मान मालभते”—इति ¶ ॥ ४२, ४३ ॥

संवदस्वागानग्नीदित्यादीना मुक्तिप्रत्युक्तिरूपं यदस्ति, तद-
 प्याग्नीध्रस्य अर्ध्वर्युणोक्तेनैवेत्यभिप्रेत्याह— “अथाहेति । ‘अथ’
 अनन्तरं “संवदस्व”—‘इत्याह’ आग्नीध्रः । तच्च संवदन मुक्ति-
 प्रत्युक्तिरूपं मनुक्रामति— “अगानिति । ते च मन्वाः प्रकृतौ
 व्याख्याताः ** । तेषु च विभागः सूत्रकृता दर्शितः— “एतेषां

* का० श्रौ० सू० ३. ६. १ ।

† १. ८. ३. १०—१ भा० ५६०, ५७१ पृ० ।

‡ तु० उ० १५१ धा० ।

§ इतः पूर्वं मेवोक्तम्, टौकितञ्च तत् द्रष्टव्यम् (३०५ पृ०) ।

॥ वा० सं० २. १६. १० ।

¶ का० श्रौ० सू० ३. ६. १५ ।

** १. ८. ३. २०—१ भा० ५६३, ५७४ पृ० ।

संवदस्वागाव्क्षीषडित्यग्नीच्छेष मितरो व्यत्यासं ब्रूतः”—इति * ।
 “स्वगा देव्या”—इति शंयुवाकप्रैष मध्वर्युरेव ब्रूयात् । परिधि-
 प्रहरणादिकं तूभाभ्या मेवानुष्ठेयम् । “उभौ मुच इत्यादि । ‘सम्प्र-
 गृह्य’ सम्यग् गृहीत्वा विमोचनार्थं ‘स्फेय सादयतः’ ॥ ४४ ॥

“अथाध्वर्युरेवेति । “प्रतिपरेत्येति । आहवनीयदेशात् प्रति-
 निवृत्य, गार्हपत्यसमीपं गत्वेत्यर्थः । “उपास्त इति । पत्नी-
 संयाजसमये तूष्णीं मुपविशेत् प्रतिप्रस्थाता । न तु तस्य तदानीं
 कृतानुकरत्वं मपेक्षितमित्यर्थः । “पत्नीः संयान्योदैत्यध्वर्युरिति ।
 पत्नीसंयाजानन्तरं माहवनीयदेशं गत्वेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

“त्रीणि समिष्टयजूंषीति । तानि च पूर्वस्मिन् वैश्वदेव-
 ब्राह्मणे व्याख्यातानि † । “तूष्णीं मेवेति । प्रतिप्रस्थातुः समिष्ट-
 यजुर्हीमसमये आत्मीयं मुचं तूष्णीं मेव दक्षिणाग्नौ प्रगृह्णीयात् ।
 सुगाप्तं माज्यं धारयेत्, तन्मन्त्रः स्वाहाकारी वा न विद्यते
 इत्यर्थः ‡ । “तद् ये वैश्वदेवेनेत्यादि । वैश्वदेवयाजमाने समाप्ते
 ‘यजमानयोः’ यजमानपत्नोर्ये ‘वासमी’, ते परिहिते भवतः ।

वरुणप्रधासाङ्गत्वेनावभृथगमनं विधत्ते—“अथास्या इत्यादि ।
 या वरुणदेवताका पयस्या तस्याः । ‘क्षामकर्षमिथम्’ क्षामोऽति-
 पाकेन दग्धः पात्रे संसक्तः, “क्षप विलेखने” कृष्यते इति कर्षः ।
 क्षामथासौ कर्षश्चेति क्षामकर्षः, तेन मिथं हविः ‘आदाय’,
 ‘अवभृथम्’ उदकं प्रति ‘यन्ति’ ऋत्विग्यजमानाः, उदकसमीपं
 गच्छेयुरित्यर्थः । गमनस्य प्रयोजनं माह—“वरुणं वेति ।

* का० श्रौ० सू० ३. ६. १६ ।

† पुरस्तात् २७१८० ४पं० द्रष्टव्यानि ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. २८ ।

‘एतत्’ क्षामकर्षमिश्रं हविः ‘वरुणम्’ वरुणसम्बन्धि, पापदेवतया सम्बद्ध मित्यर्थः ; “यो विदग्धः स नैर्ऋतः”—इतिश्रुतेः * । यद्वा पयस्याया वरुणदेवताकत्वात् तद्यागशिष्टं सर्वं मपि वरुणम् । अतः ‘निर्वरुणतायै’ वरुणसम्बन्धराहित्याय अवभृथगमनं युक्तं मित्यर्थः ।

सौमिकावभृथवत् प्रसक्तं सामगानं निषेधति— “तत्र न सामेति । अवभृथगमनसमये हि “अग्निष्टपति”—इति साम ण प्रस्तोत्रा गेयम् †, ‘तत्र’ तस्मिन् वरुणप्रघासाङ्गावभृथगमने तत्र गातव्यम् । तदुपपादयति— “न हीति । सोमयागे हि स्तोत्रादिरूपेण साम्नां प्रयोगात् , तदङ्गावभृथगमनेऽपि सामगानं मयुक्तम् । ‘न’ खलु ‘अत्र’ वरुणप्रघासे ‘साम्ना’ ‘किम्’ अपि प्रयोजनं ‘क्रियते’, अतोऽप्रयुज्यमानस्य साम्नोऽवभृथेऽप्यप्रयोग एव युक्त इत्यर्थः । अतः ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकम् ‘एव’ अवभृथसमीपम् ‘अभ्यवेत्य’ “अवभृथ निचुम्पुण”—इति मन्त्रेण § क्षामकर्षमिश्रं हविः ‘उपमारयति’ अग्नौ प्रक्षिपति । सूत्रितञ्चेह— “वारुणीनिष्काषेणावभृथं तूष्णीं मेत्याभ्यवेत्य मज्जयत्यवभृथेति”—इति ॥ ४६ ॥

* तै० सं० २. ६. ३. ४ ।

† “स गायति , अग्निष्टपति प्रतिदहत्यह्वावोऽह्वाव इति”—इत्याम्नास्यति चेहोपरिष्ठात् (४ का० ४ अ० ५ ब्रा० ८ क०) ।

‡ षड्विंश-ब्राह्मणस्य तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डे एतद्विवरणं स्फुटम् । तत्सामस्वरूपान्ता योनिगाने १२. १. ४० द्रष्टव्यम् । आर्घ्येयनामब्राह्मणे त्वेतदवभृथसामेथेवान्नातम् । एतदङ्गमूलकं मेवाग्निष्टोमसामं मूले ६. २. ४ अतम् ।

§ मन्त्र एष वा० सं० ३. ४८ । ॥ का० श्रौ० सू० ५. ५. २६, ३० ।

“अवभृथेति । मन्त्रस्याय मर्थः— सोमलिप्तानि पात्राणि
 अवाचीनान्यस्मिन् क्रियन्त इत्यवभृथः । अवपूर्वात् भृजः औणादिकः
 थक् प्रत्ययः । हे ‘अवभृथ !’ ‘निचुम्पुण’ नितरां पुण्यहेतुर्भव ।
 “पुण कर्मणि शुभे *”—इत्यस्मात्तोऽटि व्यत्ययेन द्विवचन मभ्यासस्य
 पुगागमश्चकारादेशश्च । यद्वा, “चुप मन्दायां गतौ †”—इत्यस्मा-
 त्तोऽटि वर्णव्यत्यये रूपं ज्ञेयम् । नीचीनं गच्छेत्यर्थः । यतश्च
 ‘निचेरुः’ नितरां चरणशीलः ‘असि’, अतो ‘निचुम्पुण’ नीचीनं
 गच्छ । ‘देवैः’ इन्द्रियैः, तदधिष्ठातृदेवैः ‘देवकृतम् एनः’ देव-
 विषयं यदेनः कृत मस्ति, अहं तत् ‘अवायासिषम्’ अवाचीनं प्राप-
 यामि, अस्मि प्रक्षिपामीत्यर्थः । “या प्रापणे ‡”—इत्यस्मात्तुडि
 “यमरमनमाताम्”—इति सगिटौ § । तथा “मर्त्तैः” मनुष्यैः
 ऋत्विग्भिः ‘मर्त्यकृतं’ मनुष्यविषये यत् कृत मेनः, तदपि
 ‘अवायासिषम्’ । हे ‘देव’ स्वामिन् ! अवभृथ ! ‘पुरुरावणः’ पुरु-
 रावणशीलान् बहुविधाक्रोशकारणान् । रौतेरौणादिको ऽसि-
 प्रत्ययः ॥ । यद्वा, “रा दाने ¶”—इत्यस्मात् “आतो मनिन्कनिन्-
 वनिपथ”—इति ** कनिप् । पुरु बहुलं संसारदुःखं राति ददा-
 तीति पुरुरावा, तस्मात् इन्द्रियहिंसकात् वरुणपाशग्रहणलक्ष-
 णात् पापात् अस्मात् पाहीति । एव मनेन मन्त्रेण क्षामकर्षमिथं
 हविःशेषं जायापती जुहुतः । तदुक्तं सूत्रकारेण— “जायापती
 स्नातोऽमज्जन्तावन्योन्यस्य पृष्ठे धावतः”—इति †† । पूर्वयोर्वासमो-

* तु० प० ५३ धा० ।

† स्ना० प० ४०३ धा० ।

‡ अदा० प० ३६ धा० ।

§ पा० सू० ७. २. ७३ ।

॥ उ० ४ पा० २४२ सू० ।

¶ अदा० प० ४७ धा० ।

** पा० सू० ३. ४. ७४ ।

†† का० श्रौ० सू० ५. ५. ३१, ३२ ।

दीनं विधत्ते— “काम मिति * । स्नानानन्तरं मन्ये वाससी परि-
धाय † । पूर्वपरिधानं निषिद्धम् ; “न दीक्षितवसनं परिदधीत”
इति श्रुतेः ‡ । एतद्दानं प्रशंसति— “स यथेति । ‘यथा’
खलु ‘अहिस्त्वचो निर्मुच्यते’, ‘एवम्’ पूर्वपरिहितवाससं सर्वस्मात्
पापादेव यजमानो निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अवभृथानन्तरं केशश्मश्रुवपनं विधत्ते— “अथेति । केशश्म-
श्रुश्रूणि च ‘केशश्मश्रू’, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । ‘उष्मा’ वापयित्वे-
त्यर्थः । समारोहणपुरस्सरं गृहे प्रत्यागमनं विधत्ते— “समारो-
ह्येति § । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयौ । “एतेन यजत इति ।
वरुणप्रघासाख्येन यागेनेत्यर्थः । “न हि तदिति । वरुणप्रघास-
निमित्ताया मुत्तरवेद्यां ‘यत्’ अग्निहोत्रहवनम्, न तद् युज्यत
इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् कारणात् वरुणप्रघासस्थानादुदव-
सानं ॥ कर्त्तव्य मिति निगमयति— “तस्मादिति । समारोपणा-
नन्तरं तस्मात् स्थानात् निष्क्रम्य ‘गृहान्’ ‘इत्वा’ गत्वा, ‘निर्मथ्य’,
तत्र ‘पौर्णमासेन’ यागेन ‘यजेत’ । एतदप्रतिष्ठाहेतुना स्तौति—
“उत्सन्नयज्ञ इत्यादिना । दर्शपूर्णमासवच्चातुर्मास्याना मनुष्ठान
बाहुल्याभावात् उत्सन्नयज्ञत्वम् । अतस्तेषां मप्रतिष्ठाहेतु-
त्वेन ¶ तदनुष्ठाने यजमानस्यापि अप्रतिष्ठा सम्भाव्येत ; अतः

* “पूर्वे दद्यादधिकृतेभ्यो यस्मा इच्छेत्”—इतीह का० श्रौ० ५. ५. ३४ ।

† ‘परिधापयेत्’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. २३ अपि ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ५. ३५, ३६ ।

॥ इतोऽनन्तरं [निष्क्रमणं]—इति च ।

¶ ‘मप्रतिष्ठत्वेन’—इति च ।

तस्य प्रतिष्ठायै स्वयं प्रतिष्ठितः पौर्णमासयागः सम्पद्यत इत्यर्थः । “तस्मादुदवस्यतीति , वरुणप्रघासदेशान्निष्क्रमणविधिर्निगमनम् * ॥ ४८ ॥ ३ [५. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

(अथ तृतीयं ब्राह्मणम् .)

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः । प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चता अस्थानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्ताथैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्र मघ्नन्नेतैर्वै वृत्रं व्यजयन्त येयु मेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथोऽएव विजयते तस्मादाऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजते स वै द्राह्मन् नूचीनाहं यजते ॥ १ ॥

स पूर्वद्युः । अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निं ह वै देवा अनीकं कृत्वोपमेयुर्वृत्रं

* ‘धनुर्दक्षिणा, अश्वो वा ; षट् , द्वादश वा’—इति का० श्रौ० सू० ३७—४० । आप० श्रौ० सू० ८ अध्या० ५—८ क० १२६ सूत्राणि चेह द्रष्टव्यानि ।

† ‘तेर्येव’—इत्यपि डा०-वेबर-दृष्टः ।

हनिष्यन्तः स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तथो ऽएवैष एतत्
पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्नग्निं मेवानौकं
कृत्वोपगमैति स तेजोऽग्निर्न व्यथते तस्मादग्नये-
ऽनौकवते ॥ २ ॥

अथ मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः । मध्यन्दिने चरुं
निवपति मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने व्यृत्रं
सुन्तेपुः स सुन्तप्तोऽनन्नेव प्राणान्* परिदीर्णः शिष्ये
तथोऽएवैतस्य पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सान्त-
पनाः सुन्तपन्ति तस्मान्मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः† ॥ ३ ॥

अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः । शाखया वत्मान-
पाकृत्य पवित्रवति सन्दोह्य तं चरुं अपयति चरुं
ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानावपन्ति तन्मेधो देवा
दधिरे प्रातर्वृत्रं हनिष्यन्तस्तथोऽएवैष एतत्पाप्मा-
नं दिषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्मेधो धत्ते तद्यत्क्षीरौ-
दनो भवति मेधो वै पयो मेधस्तण्डुलास्तु सुभयं मेध-
मात्स्र्यत्ते तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥ ४ ॥

* 'प्राणान्'—इति क ।

† 'ने'—इति ग, घ ।

तुल्यावृत् * । सैव स्त्रीणां वेदिर्भवति यां मरुद्भ्यः
सान्तपनेभ्यस्तुल्यामेव स्त्रीणांयां वेदौ परिधींश्च शुक्-
लांश्चापनिदधति तथा सन्तोह्य चरुं अपयति अपयि-
त्वाभिघार्योद्वासयति ॥ ५ ॥

अथ द्वे पिशीले वा पात्रौ वा निर्णेनिजति ।
तयोरेनं द्वेधोद्धरन्ति तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कृत्वा
सर्पिरासिञ्चति । सुवं च सुचं च सम्मार्ष्ट्यैता-
ऽओदनावादायोदैति सुवं च सुचं चादायोदैति सु-
इमा मेव स्त्रीणां वेदि मभिमृश्य परिधीन्परिधाय
यावतः शुक्लान् कामयते तावतोऽभ्यादधात्यैता
ऽओदनावासादयति सुवं च सुचं चासादयत्युपवि-
शति होता होतृषुदने सुवं च सुचं चाददान
आह ॥ ६ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभागं स दक्षिण-
स्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्वा-
मत्यतिक्रम्याश्रव्याहाग्निं यजेति व्यष्टकृतं जु-
होति ॥ ७ ॥

अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभागः
स उत्तरखौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदाया-
तिक्रामत्यतिक्रम्याश्चाव्याह सोमं यजेति व्षट्कृते
जुहोति ॥ ८ ॥

अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स
दक्षिणखौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्य मुपसृणीते
तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्राम-
त्यतिक्रम्याश्चाव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति व्षट्-
कृते जुहोति ॥ ९ ॥

अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उत्तरखौ-
दनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्य मुपसृणीते तस्य
द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यति-
क्रम्याश्चाव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति व्षट्कृते
जुहोत्यथेडा मेवावद्यति न प्राशिव मुपहूय मार्जयन्त
ऽएतन्वेक मयनम् ॥ १० ॥

अथेदं द्वितीयं * । सैव स्तीर्णा व्वेदिर्भवति या
मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यस्तस्या मेव स्तीर्णायां व्वेदौ परि

धींश्च शकलांश्चोपनिदधति तथा सन्दोह्य चरुं अप-
यति नेदेव * प्रतिवेश माज्य मधिश्रयति अपयित्वा-
भिघार्योद्वाख्यानक्ति स्थाल्या माज्य मुहासयति सुवं च
सुचं च सम्प्राष्टयैतं सोख † मेव चरु मादायोदैति
स्थाल्या माज्य मदायोदैति सुवं च सुचं चादायो-
दैति स इमा मेव स्तोत्रां व्वेदि मभिमृश्य परिधौ न्परि-
धाय यावतः शकलान् कामयते ‡ तावतोभ्या § दधा-
त्यैतं सोख ॥ मेव चरु मासादयति स्थाल्या माज्य
मासादयति सुवं च सुचं चासादयत्युपविशति होता
होतृषदने सुवं च सुचं चाददान आह ॥ ११ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभागं स
स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याभ्या-
व्याहाग्निं यजेति व्वषट्कृते जुहोति ॥ १२ ॥

* 'तदेव'—इति क, ड ।

† 'सोष'—इत्यपि डा०-वेबर-दृष्टः ।

‡ 'वामयते'—इति च दृष्टो डा०-वेबर-दृष्टः ।

§ 'न्या'—इति च डा०-वेबर-दृष्टः ।

॥ अत्रापि 'सोष'—इत्येव पाठो दृष्टः कस्मिंश्चित् पुस्तके डा०-वेबर-दृष्टः ।

अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभाग्
सु खाल्याऽ एव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्र-
म्याश्राव्याह सोमं यजेति व्षट्कृते जुहोति ॥ १३ ॥

अथाह मरुद्गो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स उप-
सृणीत ऽत्राज्य मथास्य चरोर्द्विवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्य-
स्याभिधारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽतिक्रामत्यतिक्रम्या-
श्राव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति व्षट्कृते
जुहोति ॥ १४ ॥

अथाहानये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उप-
सृणीत ऽत्राज्य मथास्य चरोः सक्तद्वद्यत्यथोपरिष्ठाद्
द्विराज्यस्याभिधारयति न प्रत्यनक्तावदानमतिक्राम-
त्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति व्षट्-
कृते जुहोति ॥ १५ ॥

अथेडा मेवावद्यति न प्राशित्रम् । उपहूय
प्राश्नन्ति यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः खुस्ता-
वन्तः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यृत्विजः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यन्ये
ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदनः स्यादथैता मनिर-
शितां कुम्भी मपिधाय निदधति पूर्णदब्बाय मातृ-
भिर्ज्वत्सान्त्समवार्ज्जन्ति तदु पशवो मेध मात्मनन्दधते

यवाग्वैतां रात्रि मग्निहोत्रं जुहोति निवान्यां प्रातर्-
दहन्ति पितृयज्ञाय ॥ १६ ॥

अथ प्रातर्हुते वाहुते वा । यतरथा । कामयेत
सोऽस्या ऽअनिरशितायै कुम्भ्यै दस्योऽपहन्ति पूर्णां दर्वि
परापत सुपूर्णा पुनरापत । वृक्षेव व्विक्रीणावहा
ऽइष मूर्जं शतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैव मेधैत-
यैवैन मेतस्यै भागाय ह्वयति ॥ १७ ॥

अथऽर्षम माह्वयितवै ब्रूयात् । स यदि रुयात्स
व्वषट्कार इत्यु हैक ऽआहुस्तस्मिन्वषट्कारे जुहु-
यादित्यथो ऽइन्द्र मेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति व्वृत्रस्य
बधायैतद्वा † ऽइन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तस्वेनैवैनमेतद्रू-
पेण ह्वयति व्वृत्रस्य बधाय ‡ स यदि रुयादा स
ऽइन्द्रो यज्ञ मगन्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह व्विगाद्यद्यु
न रुयाद्वाह्मण एव दक्षिणत आसौनो ब्रूयाज्जुहु-
धोति सैवैन्द्रो वाक् § ॥ १८ ॥

स जुहोति । दहि मे ददामि ते नि मे धेहि

* 'ज्ञाय'—इति ग, घ ।

† 'व्वधायैतद्वा'—इति क, ड ।

‡ 'व्वधाय'—इति क, ड ।

§ 'वाक्'—इति ग, घ ।

नि ते दधे । निहारं च हुरासि मे निहारं निह-
राणि ते स्वाहेति * ॥ १९ ॥

अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः । सप्तकपालं पुरो-
डाशं निर्व्वपति मरुतो ह वै क्रीडिनो व्यृत्रं हनि-
ष्यन्त मिन्द्र मागतं तु मभितः परिचिक्रीडुर्मह्यन्त-
स्तथो ऽएवैतं पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्त
मभितः परिक्रीडन्ते मह्यन्तस्तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडि-
भ्यो ऽथातो महाहविष एव तद्यथा महाहविष-
स्तथो तस्य ॥ २० ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [पृ. ३.] ॥

अथ शाकमेधाख्यस्य विधित्सितस्य तृतीयस्य पर्वणः † पाप-
रूपशत्रुजयहेतुत्वं वक्तुं वृत्तान्तं सङ्कीर्त्तयति— “वरुणप्रघासे-
रिति । ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः अकिल्बिषाः, तन्निदानभूत-
पापपरिहीनाः । “अथैतैरिति । वरुणप्रघासानन्तरं मनुष्यैः
‘एतैः साकमेधैः’ प्रजापतिः ता एव प्रजा विजितपापा अक-
रोत् । एतेषां विजयहेतुत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयति—
“एतैर्वा इति । ‘वृत्रम्’ आवरणशीलम्, एतन्नामानं मसुर मित्यर्थः ।

* ‘स्वाहेति’—इति ग, घ ।

† “कार्त्तिक्यां साकमेधा दाहम्”—इत्यादिस्मृतग्रन्थो द्रष्टव्यः (५. ६. १) ।

“येय मेषा मिति । ‘एषां’ देवानां वृत्रहनन-कर्मणा ‘येयं’
 ‘विजितिः’ विजयो विद्यते, व्यजयन्तेति सम्बन्धः । अथाप्येषां
 तत्फलसाधनत्वं माह — “तथो एवैष इति । ‘द्विषन्तं’ द्वेषण-
 शीलं मनर्थकारणं पापरूपं ‘भ्रातृव्यं’ शत्रु मिति सामा-
 नाधिकरण्येन सम्बन्धः । “तथो एव विजयत इति । तथा
 हतः पापशत्रुः, तत्सजातीयस्यापि निवृत्त्या सर्वत्र साकमेध-
 याजिनो विजय एव, न कुत्रचित् प्रतिहतितिरित्यर्थः ।

उक्तं मयं हेतुतया इदानीं विधत्ते — “तस्मादिति । यस्मात्
 उक्तफलहेतवः साकमेधाः, ‘तस्मात्’ ‘एषः’ वरुणप्रघामैरिष्टवान् ।
 पुनः ‘चतुर्थे मासि’ ‘एतेः’ साकमेधैर्यजित । अनीकवत्यादीनां साक-
 मेधगतानां मिष्टीनां बहुत्वादेतैरिति बहुवचनम् । अहर्द्वयसाध्यत्वं
 विधत्ते — “स वा इति । दयोरङ्गोः समाहारो द्वाहः । “तद्वि-
 तार्थः” — इति * समासः । “सञ्ज्ञादेः समाहारे” — इति †
 अङ्गादेशस्य प्रतिषेधः । “अनूचीनाह मिति । अनु सम्यगञ्च-
 तीत्यन्वक्, अन्वगेवानुचीनम् ; “विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्” —
 इति ‡ स्वार्थिकः खच् प्रत्ययः । अनूचीनं नैरन्तर्येण वर्त्त-
 मानं महः अनूचीनाहम् । “राजाहःसखिभ्यः” — इति § टच्-
 समासान्तः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वदिवसे प्रातमध्याह्नसायाह्नेषु तिस्र इष्टयोऽनुष्ठेयाः,
 तत्र प्रथमं विधाय स्तौति — “स पूर्वद्युरित्यादिना ॥ । “सद्यः-

* पा० सू० २. १. ५१ ।

† पा० सू० ५. ४. ८६ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ८ ।

§ पा० सू० ५. ४. ६१ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. २ ।

परुत्”—इत्यादिसूत्रेण * पूर्वदिनशब्दस्य पूर्वैश्वर्येति निपातः । साकमेधेषु प्रधानभूता महाहविराख्या इष्टिर्यस्मिन् दिवसेऽनुष्ठीयते, ततः पूर्वदिवसे चतुर्दश्यां प्रातरनीकवद्गुणविशिष्टायामनयेऽष्टकपालेषु संस्कृतं पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः । “अनीकं कृत्वेति । प्रमुखं कृत्वेत्यर्थः । “स तेज इति । स च तेजोरूपोऽग्निः हवःकृतात् उपद्रवात् न ‘अव्ययत’ व्यथां न प्राप्तवान् । दृष्टान्तिकेन योज्यते— “तथो एवैष इति । उक्तहेतोरनीकवद्गुणवैशिष्ट्यं पुरोडाश-देवताया अन्यैर्युक्तमित्याह— “तस्मादिति ॥ २ ॥

मध्यन्दिनेऽनुष्ठेया मिष्टिं विधाय प्रशंसति— “अथेति । देवता-विशेषणं सुपपादयति— “मरुतो ह वा इति † । ‘मरुतो’ हि सन्तपनकारिणः ‘सान्तपनाः’ । तथाविधाः मरुतो मध्यन्दिनसमये ‘हवम्’ असुरं ‘सन्तेपुः’ सन्तप्तं कृतवन्तः । स च सन्तप्तः सन् श्वासप्रश्वासौकुर्वन् ‘परिदीर्णः’ विदारितसर्वावयवः ‘शिश्ये’ शयनं कृतवान् । “तथो एवेति , फलकथनम् ॥ ३ ॥

सायाह्ने कर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— “अथेति । गृहमेधित्वगुणविशिष्टेभ्यो ‘मरुद्भाः’ ‘चरु’ अपयन्ति”—इत्युपरितनेन सम्बन्धः । अपणप्रकारं माह— “शाखयेति ‡ । दर्शयागवत् शाखा-हरण-वत्सापाकरणे कृत्वा , शाखापवित्तं निर्माय , तद्वति पात्रे गाः ‘सन्दोह्य’ दुग्ध्वा , ‘तम्’ इति निर्देशः । ‘तं’ दुग्धं पयः ‘चरु’ ‘अपयति’ । “चरुरु ह्येवेति § । ‘सः’ वै मरुद्भ्यो

* पा० सू० ५. ३. २२ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ ख ।

§ ‘चरुरु ह्येवेति पायमत्वाशङ्कां निवर्त्तयति’—इति या० दे०

गृहमेधिभ्यः कृतः 'चरुः एव हि' ओदनः खलु । अत इदानीं
मपि तदर्थं चरुरेव अपयितव्य इत्यर्थः ॥

“यत्र क्व चेति । यत्र क्व चावस्थितान् तण्डुलान् आहत्य,
तस्मिन् पयसि प्रक्षिप्ते तत् तथैव हि देवा पुरुषादिभ्योऽपक्रम्य
व्रीहिषु सङ्क्रान्तो 'मेधः' सारं 'दधिरे' आधारयन् । तत्र कारण
माह— “प्रातरिति । “हविष्मन्त इति । हेतौ शतप्रत्ययः ।
प्रातः कश्चिन्माणाद् हवहननाद्देतोरित्यर्थः । “तथा एवेति ।
इदानीन्तन-यजमानस्यापि तथैव प्रतिपादनम् । “क्षीरोदन
इति । पयसि तण्डुलान् प्रक्षिप्य अपणे सति क्षीरेण संस्कृत
ओदनो निष्पद्यते । “अन्नेन व्यञ्जनम्”—इति * तृतीयासमासः ।
द्रव्यद्वयं सम्भूय प्रशंसति— “मेधो वा इति । बलकरः सारांशो
मेधशब्दार्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥

एष च गृहमेधीययागः सान्नाय्यविकृतिरिति सप्तभिः पक्षे
पूर्ववत् स्वीकृत्य, ततो वैकचोदनादिति राजान्तितं दशमे । कात्या-
यनोऽप्याह स्म— “मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि,
सान्नाय्यवत्, तूष्णीं वैकचोदनात्”—इति † ॥ ४ ॥

अतस्तृतीय मनुक्रामति— “तस्यावृद्धिति । 'तस्य' गृहमेधीय-
यागस्य 'आवृत्' क्रिया, प्रयोगः, क्रमः, अभिधीयत इति शेषः ।
सान्तपनेष्टौ 'या वेदिः' बर्हिषा 'स्तीर्णा' अभूत्, गृहमेधीय-

* पा० सू० २. १. ३४ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ६, ७, ८ । एतत् पयस्तूष्णीं मेव संस्कृत-
यम् ; न सान्नाय्यवत् समन्तकं तद्धर्मकं वा । कृतः ? 'एकचोदनात्', यतः
कारणान् इय मेका चोदना—इति चाष्टमसूचित्रसौ या० दे० ।

स्यापि 'सैव' उपकरोति । 'तस्या मेवेत्यादि, निगदसिद्धम् ; अतः सन्दिग्धपदविवरणमात्र मेव क्रियते । "शाकलांश्चेति । इधस्य स्थाने शाकलानेव सम्मृज्य परिधिभिः सह तान् सादयेदित्यर्थः * । "सन्दांश्च चरु मिति । विहितस्यानुवादः क्रमार्थः ॥ ५ ॥

"अथ हे इति । "पिशिले वेति । पिशिलशब्दः † सराववाची । अत एवोक्तं सूत्रकृता — "अपयित्वाभिघार्योदास्य शरावयोरुद्धरति ‡ । "निर्णेनिजतीति । प्रक्षालयतीत्यर्थः । "णिजिर् शौचपोषणयोः"—इति § धातुः । "हेधोद्धरन्तीति । 'एनं' चरुं हेधा विभज्य तयोः शरावयोः पात्रयोर्वा ॥ निदध्यादित्यर्थः । "सर्पिरासेवने इति । सर्पिः सर्पणशील माज्यम्, आसिच्यते आनीयतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेवनम् । अधिकरणे ल्युट् । पात्रस्थयोस्तयोरोदनयोर्मध्ये सर्पिः पूरणायावटौ कृत्वेत्यर्थः ¶ । "सुवञ्चेति । एकत्वं भविवक्षितम् । प्रयाजानुयाजे * * * अवभृत्ः प्रयोगाभावात् ता मेव संसृज्यादित्यर्थः । "ओदनावासादयतीति । पात्रद्वये स्थापितौ तावेवोदनौ गृहीत्वा वेद्या मासादयितुं गच्छेदिति ** । ओदनमध्यस्थितेनैवाज्येन कृत्स्नाज्यकार्यनिष्पत्तेः ध्रुवाया अप्यप्रयोग इति जुहुम इत्यर्थः । "इमा मेवेति । सान्तपन्था मिथौ या वेदिः बर्हिषा स्तीर्णास्ति, ता मेव वेदिम् गृहमेधीयाङ्गत्वेनास्तरणमन्त्रेण तूष्णी मेवावमृशेत् । यदाह कात्यायनः — "स्तरणयजुषा

* का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ क ।

† 'पिशिलशब्दः'—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. १० ।

§ जु० उ० १० धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. ११ ।

¶ का० श्रौ० सू० ५. ६. १२ ।

** का० श्रौ० सू० ५. ६. १३ ।

वेदि मभिसृश्य तूष्णीं वा कृतत्वात्’—इति * । न पुनर्बर्हिषास्तरणं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

इध्ववत्तत्कार्यशकलानां सङ्ख्यानियमप्रसक्तावाह— “यावत् इति । यावद्भिः शकलैराहवनीयस्य प्राबल्यं भवति, तानयं कामयेत ; ‘तावत्’ शकलास्तत्राभ्यादध्यादित्यर्थः । तस्यां वेद्यां हविरासादनं विधत्ते— “अथैताविति । “उपविशति होतेति । सामिधेय्यनुवचनादेरभावात् । होतृषदने तूष्णीं मेवोपविशेत् । होतृरुपवेशनानन्तरं माज्यभागमित्येव कर्त्तव्यम्, न पुनराधारादिकमित्यभिप्रेत्याह— “सुवच्च सुवञ्चेत्यादिना ॥ ६ ॥

“अग्नयेऽनुब्रूहीति । “दक्षिणस्यौदनस्येति । दक्षिणोत्तरभागेन वेद्यां मासादितयोरोदनयोः यो दक्षिणस्थित ओदनः, तस्य ‘सर्पिरासेचनात्’ सर्पिषा पूर्णात् पात्रात् पूर्वाज्यभागार्थं चतुरवदानम्, उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात् द्वितीयस्याज्यभागस्यावदानम् । तथा प्रधानयागस्य गृहमेधीयस्य दक्षिणोदनस्य सर्पिरासेचनात् उपस्तरणाभिधारणे, उत्तरोदनस्य सर्पिरासेचनात् स्विष्टकृद्यागस्योपस्तरणाभिधारणे । अत एव सूत्रितं कात्यायनेन— “आज्यभागाभ्यां चरति, आग्नेयं दक्षिणात्, सौम्यं मुत्तरात्, गृहमेधीयस्विष्टकृतौ चाज्यभागवत् समवदानौ”—इति † । निगदसिद्धं मन्यत् ॥ ७—८ ॥

“अथाहान्नय इति । ‘न प्राशित्रमिति । प्राशित्रावदानं न कर्त्तव्यम् ; पयसि संस्कृतत्वेन सान्नाय्यविकृतित्वात् ‡ । न हि

* का० श्रौ० सू० ५, ६, १४ ।

† का० श्रौ० सू० ५, ६, १७—२१ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, २६ ।

प्रकृतौ सान्नाय्यात् प्राशित्वं भवदीयते । उक्तं सुप्रयोगक्रमं निगमयति— “एतदिति । एतत् खलु ‘एकं मयनं’ गृहमेधीयस्यानुष्ठानमार्गः ॥ १० ॥

अन्यदप्ययनं दर्शयति— “अथेदं मिति । अस्मिन् पक्षेऽपि पूर्ववदेव * “सैव स्तीर्णा वेदिर्भवतीत्यादेरर्थः । एतावांस्तु विशेषः । अपि तस्य द्वयोर्द्वयोरुद्धरणम्, तेषां सर्पिरासेचनकरणम्, तदासेचनञ्चोत्पत्त्यैव न भवति, किन्तु यदा चरुं अयति ‘तत्’ तदानीं मेव ‘प्रतिवेशं’ समापनार्थं प्रतिनिधित्वेन निवेशनस्थानं प्रतिवेशः, तत्स्थानीयं माज्यम् ; दक्षिणाग्नावाज्यस्थाल्यामधिश्रयेदित्यर्थः । “उद्वास्यानक्तीति । उद्वासनात् पूर्वं मभिघार्यं तदुत्तरकालं मपि हविरञ्जादित्यर्थः ।

“सोखं मेवेति । यस्यां स्थाल्यां चरुः अयति, तत्सहितं मेव ; न पुनः पात्रान्तरे धारणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः । “स्थाल्या माज्यमिति । स्थालीसहितं मेव चरुं वेद्यामासाद्य, आज्यस्थालीतलगतं माज्यं मप्यासादयेदित्यर्थः । आज्यभागादिषु यदाज्यकार्यं तत् सर्वं स्थालीगताज्यादेव कर्त्तव्यमिति । अयं मेव पूर्वस्मादस्य पक्षस्य विशेषः, शिष्टं समानं पूर्वेण ॥ ११ ॥ ॥ १२—१५ ॥

“अथेडा मेवावद्यतीति । इडापह्नानानन्तरं यत् प्राशनम्, तत् विशेषं माह— “यावन्त इति । गृहे भवा ‘गृह्याः’ यजमान-गृहे वक्ष्यमानाः पुत्रपौत्रभ्रातादिरूपाः ‘यावन्तः’ सन्ति, ‘तावन्तः’ ‘हविरुच्छिष्टाशाः’ भवेयुः ; अस्यैव विवरणं ‘प्राश्नीयुः’-इति, हविःशेषं सर्वं प्राप्नुयुरित्यर्थः । ‘अथो’ अपि च ‘ऋत्विजः अपि’

‘प्राग्नीयुः’ । ‘अपि’ च ‘अन्ये’ ‘ये ब्राह्मणाः’ आगताः , तेऽपि ‘प्राग्नीयुः’ । ‘यदि’ ‘ओदनः’ ‘बहुः’ अधिकः ‘स्यात्’, तदा अन्येषां प्राशन मित्यर्थः । कुम्भीनिधानं विधत्ते— “अथैता मिति । निःशेषेण अशिता निरशिता, तद्विपरीता अनिरशिता ताम् , शेषसहिता मित्यर्थः । तादृशीं कुम्भीं पात्रान्तरेण विधाय * , ‘पूर्णदर्वाय’ । हविषा पूर्णां दर्वीं यस्मिन् कर्मणि, तत् पूर्णदर्बम् † , तस्मै पूर्णदर्वाय कर्मणे, तदर्थं स्थापयेत् ॥

अस्यां रात्रौ वत्सानां मातृभिः सह वासं विधत्ते— “मातृ-भिरिति । ‘समवार्जन्ति’ “अजं गतिस्थानार्जनेषु” ‡, संसृष्टां कुर्यु-मित्यर्थः § । “तदु पशव इति । ‘तत्’ तेन वत्ससङ्गमेन पशवा-ऽपि ते ‘आत्मन्’ स्वात्मनि अस्यां रात्रौ ‘दधते’ धारयन्ति । अग्नि-होत्रार्थं मपि तस्यां रात्रौ पयो न दोग्धय मिति द्रव्यान्तरं विधत्ते— “यवाग्नेता मिति । एवं यजमानगृहवर्तिनां सर्वेषां वत्सानां मातृसमवार्जनप्रसक्तौ प्रातः पितृयज्ञार्थं दोह्याया निवा-न्याया गोर्वत्सस्य बन्धनं कर्त्तव्य मित्यभिप्रेत्याह— “निवान्या मिति । स्वयं नष्टवत्सा अन्यदीयेन वत्सेन या गौर्दुह्यते सा निवान्या, ताम् ‘प्रातः’ पितृयज्ञार्थं यतो ‘दुहन्ति’, अतस्तस्य वत्सस्य बन्धनं कर्त्तव्य मित्यध्याहृत्य योजनीयम् ॥ १६ ॥

पूर्णदर्वाख्यस्य कर्मणः कालं विधत्ते— “अथेति । ‘प्रातः’ अग्निहोत्रे ‘हुते वा अहुते वा’ अनयोः पक्षयोः ‘यतरथा’ येन

* ‘अनिरशितां शेषरहितां कुम्भीं पात्रान्तरेणापिधाय’—इति च ।

† का० श्रौ० ५, ६, ३१ सू० या० दे० ३० ।

‡ स्वा० प० २२४ धा० ।

§ का० श्रौ० ५, ६, ३४ सू० ।

प्रकारेण 'कामयेत' तथैवानुष्ठेयमित्यर्थः * । होमाय सम-
न्त्रकं हविर्ग्रहणं विधत्ते — "सोऽस्या इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।
सोषायाः गृहमेवीयकुम्भ्याः सकाशात् "पूर्णां दर्वी"—इतिमन्त्रेण †
दर्वा आघातेन 'उपहन्ति' गृह्णीयात् । मन्त्रस्यायमर्थः ।
हे 'दर्वि !' प्रथमं हविषा 'पूर्णां' सती अस्याः सकाशात्
'परापत' परागच्छ, देवान् प्राप्नुहि । पुनः कर्मफलेन 'सुपूर्णा'
सती अमुतः सकाशात् अस्मान् पुनरागच्छ । हे 'शतक्रतो !'
इन्द्र ! 'वस्त्रा' वसुना मूल्यान 'इव' आवाम् 'इषम्' इष्टमाणम् अन्नम्
'जर्जम्' बलकरं रसं च 'विक्रीणावहै' । त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य
हविर्दास्यामि त्वयि ; मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मद्यं फलं दास्यसि
त्वम् ; एवं व्यतिहारेण कर्म क्रीणावहा इत्यर्थः । एतन्मन्त्रोच्चारणं
प्रशंसति-- "यथेति । 'एनम्' इन्द्रम् 'एतस्मै' पूर्णदर्वाख्याय 'भागाय'
पुरोनुवाक्यास्थानीयया पुरोवक्तव्यया एतया आह्वय इति ॥ १७ ॥

ऋषभध्वनौ होतव्यमिति विधित्सुराह— "अथेति ‡ ।
'आह्वयितवै' आह्वातुम् । "तुमर्थे से-सेनसे"—इति § तवै-प्रत्ययः ।
"स यदीत्यादि । 'सः' आहुतः ऋषभः, 'यदि' 'रूयात्' शब्दं
कुर्यात् । "रुशब्दे"—इति ॥ धातुः । तद्धुनिः वषट्कारात्मक
इति केचिदाहुः । तथा च तैत्तिरीयकम्— "ऋषभमाह्वयति,
वषट्कार एवास्य स इति कथयन्ति"—इति । अतः तस्मिन्
वषट्कारे हविर्जुहुयादित्येकं मतम् ¶ ।

पक्षान्तरमाह— "अथो इति । योऽयं ऋषभध्वनिः, नासौ वषट्-

* का० श्रौ० सू० ५. ६. ३६ ।

† वा० सं० ३. ४६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. ३७ ।

§ पा० सू० ३. ४. ६ ।

॥ अदा० प० २४ धा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ५. ६. ३८ ।

कारः, किन्तु इन्द्रस्य स्वभूतेन ऋषभाख्येन रूपेण तमेव 'इन्द्रम्' एतेन शब्देन 'ह्वयति'। किमर्थम् ? 'ह्वय' बधाय' ह्वय मसुरं हन्तु मित्यर्थः। ह्वयत्येति कर्मणि षष्ठी। "तुवर्थाच्च भाववचनात्"—इति बधशब्दाच्चतुर्थी *। एतदेव विवृणोति-- "एतदा इति 'यदि' 'सः' ऋषभः शब्दं कुर्यात्, तदा "आ म इन्द्रो यज्ञ मगन्"† आगमत्, मदीयो यज्ञः इन्द्रसहितोऽभवदिति 'विद्यात्'। यज्ञे ऋषभस्य शब्दाकरणेऽनुष्ठानप्रकार माह— "यद्यु नेति। 'यदि' तु मदीयो 'यज्ञः' 'सिन्द्रः' ऋषभो 'न' शब्दं कुर्यात्, तदाह 'दक्षिणतः' उपविशेत् 'ब्राह्मणः' ब्रह्मैव, 'जुह्वीति' अध्वर्युं प्रति 'ब्रूयात्' शंसेद्, 'ऐन्द्री' इन्द्राज्ञानार्था वाक् ‡ ॥ १८ ॥

अथ समन्वयकं होमं विधत्ते— "स जुहोतीति। दर्व्या गृहीतं हविः "देहि मे"—इति मन्त्रेण § तथैव दर्व्या आहवनीये जुहुयात् ॥। मन्त्रस्थाय मर्थः। इन्द्रो ब्रवीति— हे यजमान ! त्वं 'मे' मच्छं प्रथमं हविः 'देहि', अह मपि 'ते' तुभ्यम् इष्टं फलं 'ददामि'। तथा त्वं 'मे' मच्छं हविः 'निधेहि' नितरां धारय, अह मपि तुभ्यं फलं 'निदधे' निदधामि, नियच्छामि। नियमेन हि ह्वयत इति निहारो मूल्यद्रव्यम्। 'निहारं' हविषो मूल्यभूतम्, फलस्य मूल्यभूतं हविः; 'च'-शब्दश्चेदर्थः, त्वं चेत् प्रथमं 'हरासि' हरेः, दद्या इत्यर्थः; हरतेर्लट्याडागमः; अनन्तरमेव 'ते' तुभ्यम् अह मपि 'निहारं' हविषो मूल्यभूतं फलं

* पा० सू० २, ३, १५।

† इहैव ब्राह्मणे ३२१ ए० १२ पं० द्रष्टव्यम्।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, ३६।

§ वा० सं० ३, ५०।

॥ का० श्रौ० सू० ५, ६, ४०॥

‘निहराणि’ नितरां प्रापयामि । ‘स्वाहा’ इदं हविः स्वाहुत मसु इति । एतत् सर्वं कात्यायनेन सूत्रितम् — “प्रातर्हुत्वा-हुत्वा वा स्थाव्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति , ऋषभ माह्वयितवै ब्रूयाद् , रुते जुहोति , अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह , देहि म इति जुहोति” — इति * ॥ १६ ॥

एतदनन्तरकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते — “अथेति । क्रीडन्तीति क्रीडिनः , एतद्गुणविशिष्टेभ्यः ‘मरुद्गाः’ सप्तसु कपालेषु मंस्कृतं पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः † । क्रीडिन इति मरुतां यथार्थं विशेषणमिति प्रतिपादयति — “मरुतो ह वा इत्यादिना । त्वत्वं हन्तु मुद्युक्तमिन्द्र मभितो यस्माद् ‘परिचिक्रीडुः’ क्रीडितवन्तः , तस्मादिन्द्रव्यजमानस्य समीपे क्रीडनशीलेभ्यो मरुद्गो यागः कर्त्तव्यः ।

साकमेधेषु प्रधानभूताया महाहविराख्याया इष्टेरारम्भं प्रतिजानीते — “अथात इति ‡ । यतोऽनुष्ठानकाब्जः प्राप्तः , अतः प्राप्तावसरत्वात् हविषः प्रयोगो क्रियत इत्यर्थः । वरुणप्रघासतन्त्रं तत्रातिदिशति — “तद्यथेति । तत्र ‘महाहविषः’ महान्ति बह्वनि हवींषि §

* का० श्रौ० सू० ५. ५. ३६—४० । † का० श्रौ० सू० ५. ७. १ ।

‡ “महाहविरुदवसाय निर्मथ्य” — इति का० श्रौ० सू० ५. ७. ५ । ‘निर्मथ्येत्यपदेशात् पूर्व मग्नी समारोह्योदवसाय’ — इत्यादि या० दे० । “पूर्वेद्युर्वा” — इति चात्र का० श्रौ० सू० ५. ७. ५ । ‘अथवा पूर्वेद्युरेव अनीकवत्याः पूर्व मेव समारोह्योदवसानमन्यनानि कृत्वा पर्वारम्भणीयम् ; एतेनेति शब्दस्य शाकमेधारख्यसकलपर्ववाचित्वात्’ — इत्यादि स्तुतिश्चात्र समालोच्या । ‘एतेन’ — इत्यादि त्वत्रैवोपरिष्ठादान्नातम् (५ प्र० ब्रा० १६ क०) ।

§ “नित्येभ्योऽधिकानि , ऐन्द्रागः , माहेन्द्रश्चरुः , वैश्वकर्मण एक कपालः” — इति का० श्रौ० सू० ५. ७. ७—१० । ‘नित्येभ्यः आग्नेयादिभ्यः पञ्चभ्यः’ इति या० दे० ।

यत्र, महाहविर्वरुणप्रघासाख्यो यागः, तस्य ; वक्ष्यमाणस्य महा-
हविराख्यस्य यागस्य 'यथा', एव मिति सम्बन्धः । तस्य पूर्वोक्तस्य
वरुणप्रघासस्य हविषो यथानुष्ठानम्, तथैव महाहविषो वक्ष्य-
माणस्यापीति ॥ २० ॥ ४ [५. ३.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थः प्रपाठकः * ॥

* "कण्डिकासङ्ख्या ११३"—इति क, "कण्डिकाः ११५"—इति ग,
"कण्डिकासङ्ख्या १०५"—इति घ । तत्र १ ब्रा० २५ क०, २ ब्रा० २२ क०,
३ ब्रा० ४८ क०, ४ ब्रा० २० क० : सङ्कलनया ११५ सिद्धम् ॥

अथ

पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपिवा

पञ्चमेऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

महाहविषा ह वै देवा व्वृचं जघ्नः । तेनो
ऽएव व्यजयन्त येयु मेषां व्विजितिस्तां तथो ऽएवैष
एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव
विजयते तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १ ॥

तस्यावृत् * । उप किरन्त्युत्तरवेदिं गृह्णन्ति
पृषदाज्यं मुन्यन्त्यग्निं नुवप्रयाजं भवति नुवानुयाजं
वीणि समिष्टयजूषि भवन्त्यथैतान्येव पञ्च हवीं
षि भवन्ति ॥ २ ॥

स यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।

* 'वृत्'—इति ग , घ ।

अग्निना ह वा ऽएनं तेजसाघ्नन्त्स तेजो ऽग्नि-
र्नाव्यथत तस्मादाग्नेयो भवति * ॥ ३ ॥

अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति । सोमेन ह वा ऽएनं
राज्ञाघ्नन्त्सोमराजान एव तस्मात्सौम्यश्चरुर्भवति ॥ ४ ॥

अथ यत्सावितुः † । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता
सवितुप्रमूता हैवैन मघ्नंस्तस्मात्सावित्री भवति ॥ ५ ॥

अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति । व्याग्वै सरस्वती
व्यागु हैवानुममाद प्रहर जहीति तस्मात्सारस्वत-
श्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति । इयं वै पृथिवी
पुषेयु हैवैनं बधाय ‡ प्रतिप्रददावनया हैवैनं प्रति-
प्रत्तं जघ्नस्तस्मात् पौष्णश्चरुर्भवति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।
एतेन हैवैन मघ्नंस्तेजो वा ऽअग्नि रिन्द्रियं वीर्यं
मिन्द्र एताभ्या मेन मुभाभ्यां वीर्याभ्या मघ्नन् ब्रह्म

* 'भवति'—इति घ, ङ ।

† 'वः'—इति ग, घ ।

‡ 'बधाय'—इति ङ ।

वा ऽअग्निः क्षत्र मिन्द्रस्ते ऽउभे स्रग्भ्य ब्रह्म च
क्षत्रं च सयुजौ कृत्वा ताभ्या मेन मुभाभ्यां व्यौर्याभ्या
मघ्नं तस्मादैन्द्राग्नौ द्वादशकपालः पुरोडाशो
भवति ॥ ८ ॥

अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो वा ऽएष पुरा
वृत्रस्य बधादथ * वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजि-
ग्यान् एवं महेन्द्रो ऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति
महान्तं मु चैवैन मेतत् खलु करोति वृत्रस्य बधाय†
तस्मादेव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥ ९ ॥

अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ।
विश्वं वा ऽएतत् कर्म कृतं सर्वं जितं देवाना मा-
सीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां विश्वस्ये
वैतस्यैतत् कर्म कृतं सर्वं जितं भवति साकमेधै-
रीजानस्य विजिग्यानस्य तस्मादैश्वकर्मण एककपालः
पुरोडाशो भवति ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यच्चेनेष्टा येयं देवानां प्रजा-

* 'बधादथ'—इति ड ।

† 'बधाय'—इति ड ।

तिर्या श्रीरेतु बभूवुरेताः ह वै प्रजातिं प्रजायत
ऽएताः श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन युक्तेन
युजते तस्मादा ऽएतेन यजेत ॥ ११ ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [५. ४.] ॥

अथ तस्य महाहविषः प्रयोगक्रमं विधितुः प्राग् “एतैर्वै
देवा ब्रह्म मघ्नन्”—इत्यादिना * यत् साकमेधानां फलं प्रति
पादितम्, तत्फलं महाहविष एव साक्षात् साधनत्व मिति प्रति
पादयति— “महाहविषा ह वा इत्यादिना । उक्तगुणविशिष्ट इन्द्रो
यस्मिन् यागे तत्साधनं हविः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥ १ ॥

तस्य प्रयोग मनुक्रामति— “तस्यावदित्यादिना । आहवण्यः
क्रियावाची । उत्तरवेदीनिवपनपृषदाज्यग्रहणानिमन्यनादीनि
वरुणप्रघासवदेवावापि कार्याणीत्याह— “उपकिरन्तीत्यादिना ।
अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “उत्तरवेदिष्वग्निप्रणयनमन्यनपृषदाज्यञ्च
वरुणप्रघासवत्”—इति † । “अथैतान्येवेति । यानि वैश्वदेवे
उक्तानि आग्नेयादीनि पञ्च सञ्चराणि हवींषि ‡, ‘एतानि
एव’ अत्रापि कर्तव्यानि भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

* एतत्पूर्वतनब्राह्मणे प्रथमकण्डिकायां द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ५. ७. ११ ।

‡ पुरस्तात् २५२ पृ० ५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यानि । का० श्रौ० सू०
५. १. ५—६ (आग्नेयः, सौम्यः, सावित्रः, मारुत्वतः, पौष्णः) ।

तत्रान्येय मनूय स्तौति— “स यदिति । “एनं तेजसा-
घ्नन्निति । पुरा खलु देवाः ‘अग्निना’ अग्निलक्षणेन ‘तेजसा’
‘एनं’ वृत्रम् ‘अघ्नन्’ अहिंसन् । ‘सः’ तेजोरूपः ‘अग्निः’
‘न अव्यथत’ व्यथितः पीडितो नाभवत् । तस्मादाग्नेययागस्य
प्राथम्यं मुक्तम् ॥ ३ ॥

सौम्यं हविरनूय स्तौति— “अथ यदिति । “सोमराजान
एवेति । सोमी राजा येषां ते तथोक्ताः । “राजाहःसखि-
भ्यष्टच्”—इति * टच्-समासान्तो न भवति ; तत्पुरुषाधिकारात् ।
सोमराजेनाधिष्ठिता देवाः, तेनैव ‘राज्ञा सोमेन’ ‘एनं’ वृत्रम्
‘अघ्नन्’ अहिंसयन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

तृतीयं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सावित्र इति । “द्वादश-
कपालोऽष्टाकपालो वेति । कपालसङ्ख्याया यागः कर्त्तव्यः † ॥ ५ ॥

चतुर्थं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सारस्वत इति ।
“वागु हैवेति । वागात्मिका हि सरस्वती ‡ । सा खलु वाक्
वृत्रं हनिष्यन्त मिन्द्रम् ‘अनु ममाद’ हृष्टा बभूव § । अनुमदन-
प्रकार माह— हे इन्द्र ! ‘प्रहर’ वज्रेण वृत्रं ताडय, ततस्तं
‘जहि’ मारयेति । जहीति हन्तेर्लोटि मध्यमैकवचने “हन्तेर्जः”

* पा० सू० ५. ४. ६१ ।

† “सावित्रो द्वादशकपालोऽष्टाकपालो वा”—इति का० श्रौ० सू०
५. १. ७ । “उपांशु काम्यदेवता”—इति (का० श्रौ० ४. ५. १ सू०) चेह
दृष्टव्यम् ।

‡ नन्विह भगिह सरस्वदेवताका गृह्यते ; “योषा वै सरस्वती”—
इत्याद्यर्थवादश्रुतेः (५. १. ११.) ।

§ वृत्रवधस्यापारेऽनुमोदनं चकारेत्यर्थः ।

इति * जादेशः, तस्य “असिद्धवदत्ताभात्”—इति असिद्धत्वात् †
हेलक् न भवति ॥ ६ ॥

पञ्चमं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् पौष्णश्चर्मवतीति ।
“इयं वै पृथिवीत्यादि । इय मेव हि पृथिवी पोषयति भूतजाता-
नीति पूषा । इय मेव खलु ‘एनं’ इत्वं ‘बधाय’ हननाय ‘प्रतिप्रददौ’
प्रत्यर्पयामास, अतः ‘अनयैव’ पृथिव्या साधनेन ‘एनं’ इत्वं देवाः
‘प्रतिजघ्नुः’ प्रतिहतवन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथैन्द्राग्न इति ‡ । “एतेन हेत्यादि ।
‘एतेन’ इन्द्राग्निदेवताकेन यागेन । इन्द्राग्नौ इत्वंजननहेतुत्वं
मुपपादयति—“तेजो वा अग्निरित्यादिना । योऽयम् ‘अग्निः’ स
दहनसमर्थः ‘तेजः’; यदिदं पुरुषे प्रविष्टम् ‘इन्द्रियम्’ इन्द्रलिङ्गम्,
इन्द्रेण दत्तं ‘वीर्यम्’, तदात्मक इन्द्रः; तथा च ‘एताभ्याम्
उमाभ्याम्’ ‘एनं’ इत्वं देवाः ‘अघ्नन्’ । तस्मादैन्द्राग्नौ यागो
युक्त इत्यर्थः ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति— “ब्रह्म वा अग्निरिति । ‘अग्निः’, ‘ब्रह्म’
ब्राह्मणजातिः; ब्राह्मणेन सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात् । ‘इन्द्रः’,
‘क्षत्रम्’ क्षत्रियजातिः; प्रजापतेरुरसो बाहुभ्यां च सकाशात् क्षत्रि-
येण सहोत्पत्तेः । ‘ते उमे’ ब्रह्मक्षत्रे ‘संरभ्य’ अवलम्ब्य ‘सयुजौ’
परस्परं सहायभूते ‘कृत्वा’ ‘ताभ्या मुभाभ्या’ ब्रह्मक्षत्रसम्बन्धिभ्यां
वीर्याभ्याम् ‘एनं’ इत्वं ‘अघ्नन्’ ॥ ८ ॥

सप्तमं हविर्विधत्ते— “अथ माहेन्द्रश्चर्मवतीति § । महं-

* पा० सू० ६, ४, ३६ ।

† पा० सू० ६, ४, २२ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ७, ८ ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ७, ६ ।

आज्योत्यं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रः शार्करं चार्कतेजाः,
रत्नाज्यो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणायः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक—

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

—————

(अथ षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मचम् .)

महाहविषा ह वै देवा वृचं जघ्नः । तेनो
ऽएव व्यजयन्त येयु मेषां विजितिस्ता मथ याने-
वैषां तस्मिन्त् सङ्ग्रामे ऽघ्नस्तान् पितृयज्ञेन समै-
रयन्त पितरो वै तु ऽआसंस्तस्मात् पितृयज्ञो
नाम ॥ १ ॥

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । एते ते ये व्यज-
यन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्तु ऽउ ते यान्पुनः समै-
रयन्त ॥ २ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवै-
तस्य तथा कं चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन्निति
न्वेवैष एतत् करोति य मु चैवैभ्यो देवा भाग मुकल्प-
यंस्तु मु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति यानु चैव देवाः
समैरयन्त तानु चैवैतद्वति खानु चैवैतत्पितृवृ-
थांस् लोके मुपोन्नयति यदु चैवाद्यान्नात्मनो

ऽचरणेन हन्यते वा मीयते वा तदु चैवा-
 ख्येतेन पुनराप्यायते तस्माद्वा ऽएष एतेन
 यजते ॥ ३ ॥

स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरो-
 डाशं निर्व्वपति सोमाय वा पितृमते षड् वा ऽऋतव
 ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कपालो भवति ॥ ४ ॥

अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः । अन्वाहार्यपचने
 धानाः कुर्व्वन्ति ततो ऽर्धाः पिप्पत्यर्धा इत्येव
 धाना अपिष्टा भवन्ति वा धानाः पितृभ्यो बर्हि-
 षद्भ्यः ॥ ५ ॥

अथ पितृभ्यो ऽग्निष्वान्तेभ्यः । निवान्यायै
 दुग्धे सकृदुप मथितु एकशलाकया मन्यो भवति
 सकृदु ह्यत्र पुराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदुप मथितो
 भवत्येतानि हवींषि भवन्ति ॥ ६ ॥

तद्यो सोमेनेजानाः । ते पितरः सोमवन्तो
 ऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो
 बर्हिषदो ऽथ ये ततो नान्यतरञ्चन यानग्निरेव
 दहन्तस्वदयति ते पितरो ऽग्निष्वान्ता एत
 ऽउ ते ये पितरः ॥ ७ ॥

सु जघनेन गार्हपत्यम् । प्राचीनावीती भूत्वा
दक्षिणासीन एतच्छृङ्गकपालं पुरोडाशं गृह्णाति
स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा
तिष्ठन् बहन्ति सकृत् फलीकरोति सकृदुच्चैव
पराशः पितरस्तुस्मात् सकृत् फलीकरोति ॥ ८ ॥

सु दक्षिणैव दृषदपले ऽउपदधाति । दक्षि-
णार्धे गार्हपत्यस्य शृङ्गकपालान्युपदधाति तद्यदेतां
दक्षिणां दिशश्च सचन्त ऽएषा हि दिक् पितॄणां
तुस्मादेतां दक्षिणां दिशश्च सचन्ते ॥ ९ ॥

अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं । चतुः सक्तिं
वेदिं करोत्यवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति चतस्रो
वा ऽअवान्तरदिशो ऽवान्तरदिशो वै पितरस्तुस्मा-
दवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति ॥ १० ॥

तन्मध्ये ऽग्निं समादधाति । पुरस्ताद्वै
देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः
प्राङ् तिष्ठन् जहोति सर्व्वतः पितरो ऽवान्तर-
दिशो वै पितरः सर्व्वत-इव हीमा अवान्तरदिश
स्तस्मान्मध्ये ऽग्निं समादधाति ॥ ११ ॥

स तत एव प्राक् सम्बयजुर्हरति । सम्ब-

यजुर्हुत्वाथेत्येवाग्रे परिगृह्णात्यथेत्येति पूर्व्वेण परि-
ग्रहेण परिगृह्य लिखति हरति यद्वायं भवति
स तथेवोत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्णात्युत्तरेण
परिग्रहेण परिगृह्य प्रति मृज्याह प्रोक्षणीरासा-
दयेत्यासादयन्ति प्रोक्षणीरिध्मं बर्हिर्गुपसादयन्ति
सुचः सम्पाष्टाज्येनोदैति स यज्ञपवीती भूत्वा-
ज्यानि गृह्णाति ॥ १२ ॥

तदाहुः । द्विरुपभृति गृह्णीयाद्द्वौ ह्यत्रानु-
याजौ भवत इति तद्वष्टावेव कृत्व उपभृति
गृह्णीयान्नेद्यज्ञस्य विधाया अयानीति तस्मादष्टा-
वेव कृत्व ऽउपभृति गृह्णीयादाज्यानि गृहीत्वा स
पुनः प्राचीनावीती भूत्वा * ॥ १३ ॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इधमेवाग्रे प्रोक्ष-
त्यथ व्वेदि मथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत् पुरस्ताद्
ग्रन्थ्यासादयति तत् प्रोक्ष्योपनिनीय व्विसृज्य
ग्रन्थि न्न प्रस्तरं गृह्णाति सकृदु ह्येव पराञ्चः
पितरस्तस्मा न्न प्रस्तरं गृह्णाति ॥ १४ ॥

अथ सन्तुह्नन मनुविस्त्रुत्य । अपसलवि
त्रिः परिरुणन् पर्येति सो ऽपसलवि त्रिः परि-
स्तीर्य यावत् प्रस्तर भाजनं तावत् परिशिनष्टाथ
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति यत् पुनः प्रसलवि
त्रिः पर्येति तद्यानेवामुंस्त्रयान् पितृनन्ववागात्तेभ्य
एवैतत् पुनरपोदेतौ म० स्वं लोक मभि तस्मात्
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥ १५ ॥

सु दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति । दक्षिणा
प्रस्तरुं स्तृणाति नान्तर्दधाति विधृति सकृदु
ह्येव पुराञ्चः पितरस्तस्मान्नान्तर्दधाति विधृती ॥ १६ ॥

स तत्र जुह्वा मासादयति । अथ पूर्वा
मुपभृत मथ ध्रुवा मथ पुरोडाश मथ धाना अथ
मन्य मासाद्य हवींषि संमृशति ॥ १७ ॥

ते सर्व ऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा* । इत्या-
द्यज † मानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः पुरस्ता-
दग्नौत् ‡ ॥ १८ ॥

* भूत्वा—इति ग ।

† इषाद्यज—इति च दृष्टं डा० वेवरेण ।

‡ पुरस्तादग्नीन्—इति ग ।

तेनोपांशु चरन्ति । तिर-इव वै पितर-
स्तिर-इवै तद्यदुपांशु तस्मादुपांशु चरन्ति ॥ १९ ॥

परिवृते चरन्ति । तिर-इव वै पितर-
स्तिर- इवैतद्यत् परिवृतं तस्मात् परिवृते
चरन्ति * ॥ २० ॥

अथेधु मभ्यादधदाह । अग्नये समिध्यमाना-
यानु ब्रूहीति स एका मेव होता सामिधेनीं
त्रिरन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मादेका
होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह ॥ २१ ॥

सो ऽन्वाह । उशन्तस्त्वा निधी मक्षुशन्तः
समिधी महि । उशन्नुशत आवह पितृन्हविषि
ऽअत्तव ऽइत्यथाग्नि मावह सोम मावह पितृन्
त्सोमवत आवह पितृन् बर्हिषद आवह पितृ
नग्निष्वात्तानावह देवांश् ऽआज्यपांश् ऽआवहा-
ग्निं होत्रायावह स्वं महि मान मावहेत्यावाह्यो-
पविशति ॥ २२ ॥

अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । पितृयज्ञो

* चरन्ति—इति च दृष्टं ता० वेवरेण ।

वा ऽअयं नेद्वीतारं पितृषु दधानीति तस्मान्न
 होतारं प्रवृणीते सीद होतरित्येवाहोपविशति होता
 होतृषुदन ऽउपविश्य प्रसूति प्रमूतो ऽध्वर्युः
 सुचावादाय प्रत्यङ्ङितिक्रामत्यतिक्रम्याश्चाव्याह
 समिधो यजेति सो ऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्य-
 जति प्रजा वै बर्हिर्नेत् प्रजाः पितृषु दधानीति
 तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजत्यथाज्यभागाभ्यां
 चरन्त्याज्यभागाभ्यां चरित्वा * ॥ २३ ॥

ते सर्वे ऽएव प्राचीनावीतिनो भूत्वा † । एतैर्वै
 हविर्भिः ‡ प्रचरिष्यन्त इत्याद्यज मानश्च ब्रह्मा च
 पुरस्तात् परीतः पश्चादग्नौत्तदुताश्चावयन्त्यो३० स्वधे
 त्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्चावण् स्वधा नम इति
 व्षट्कारः § ॥ २४ ॥

तदुहोवाचासुरिः । आश्चावयेयुरेव प्रत्याश्चाव-
 येयुर्व्षट् कुर्युर्नेद्यज्ञस्य विधाया अयामेति ॥ ॥ २५ ॥
 अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । सो-

* चरित्वा—इति ग ।

† भूत्वा—इति ग ।

‡ एतैर्हविर्भिः—इति क, ऊ ।

§ व्षट्कारः—इति ग ।

माय वा पितृमते स हे पुरो ऽनुवाक्ये ऽअन्वा-
हैकया वै देवान् प्रच्यावयन्ति द्वाभ्यां पितृन्
त्सक्रुदु ह्येव पराश्वः पितरस्तस्माद्दे पुरो ऽनुवाक्ये
ऽअन्वाह ॥ २६ ॥

स उपस्तृणीत ऽआज्यम् । अथास्य पुरो-
डाशस्यावदति स तेनैव सह धानानां तेन
सह मन्यस्य तत् सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्य-
स्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत
एवोपोत्यायाश्राव्याह पितृन् त्सोमवतो यजेति व्ष-
ट्कृते जुहोति ॥ २७ ॥

अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । स
उपस्तृणीत ऽआज्य मथासां धानाना मवदति स
तेनैव सह मन्यस्य तेन सह पुरोडाशस्य * तत्
सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-
नक्तावदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्यायाश्रा-
व्याह पितृन् बर्हिषदो यजेति व्षट्कृते
जुहोति ॥ २८ ॥

अथाह पितृभ्यो ऽग्निध्वात्तेभ्यो ऽनुब्रूहीति ।
 स उपस्तृणीत ऽआज्यमथास्य मन्यस्यावद्यति स
 तेनैव सह पुरोडाशस्य तेन सह धानानां तत्
 सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-
 नक्तावदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्यायाश्चा-
 व्याह पितृनग्निं ध्वात्तान्यजेति व्यषट्कृते
 जुहोति ॥ २९ ॥

अथाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति । तत्
 स्विष्टकृते हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितृणां
 तस्मादाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति ॥ ३० ॥

स उपस्तृणीत ऽआज्यम् । अथास्य पुरो-
 डाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह
 मन्यस्य तत् सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभि-
 घारयति न प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत
 एवोपोत्यायाश्चाव्याहाग्निं कव्यवाहनं यजेति व्यष-
 ट्कृते जुहोति ॥ ३१ ॥

स यन्नातिक्रामति । इत एवोपोत्यायं जुहोति
 सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरो ऽथ यत् सकृत् सकृत्
 सर्वेषां हविषां समवद्यति सकृदु ह्येव

पराञ्चः पितरो ऽथ यद्व्यतिषङ्गं भवदानान्यवद्य-
त्यृतवो वै पितर ऋतूनेवैतद्व्यतिषजत्यृतून् सुन्द-
धाति तस्माद्व्यतिषङ्गं भवदानान्यवद्यति ॥ ३२ ॥

तद्देके । एत मेव होत्रे मन्य मादधति तं
होतो पङ्कयावैव जिघ्रति तं ब्रह्मणे प्रयच्छति तं
ब्रह्मावैव जिघ्रति तमग्नीध्रे प्रयच्छति तमग्नीद-
वैव * जिघ्रत्येतनन्वेवैतत् कुर्वन्ति यथा त्वेवे-
तरस्य यज्ञस्येडाप्राशिञ्चं समवद्यन्त्येव मेवैतस्यापि
समवद्येयुस्ता सुपङ्कयावैव जिघ्रन्ति न प्राश्नन्ति
प्राशितव्यं त्वेव व्ययं मन्यामह ऽहति ह स्माहामुरि-
र्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति † ॥ ३३ ॥

अथ यतरो दास्यन् भवति । यद्यध्वर्युर्वा
युजमानो वा स उदपात्र मादायापसलवि त्रिः
परिषिञ्चन्पर्येति स युजमानस्य पितर भवने-
जयत्यसाववनेनित्सेत्यसाववनेनित्सेति पितामह-
मसाववनेनित्सेति प्रपितामहं ‡ तद्यथाशिष्यते ऽभि-
षिञ्चेदेवं तत् § ॥ ३४ ॥

* तमग्नीद्वेव—इति च दृष्टं डा० वेबरिण । † जुह्वतीति—इति ग ।

‡ प्रपितामह—इति क . ड ।

§ तत्—इति ग ।

अथाख्य पुरोडाशस्यावदाय । सव्ये पाणौ कुरुते धानाना मवदाय सव्ये पाणौ कुरुते मन्त्रस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते ॥ ३५ ॥

स ये मामवान्तरदिश मनु सक्तिः * । तस्यां यजमानस्य पित्रे ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मनु सक्ति स्तुत्यां यजमानस्य पितामहाय ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मनु सक्ति स्तुत्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मनु सक्ति स्तुत्यां निमृष्टे ऽत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथा भागु मग्नीतेत्येवैतदाह तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति तेना स्वाग्निपृतृनेतस्माद्यज्ञान्नान्तरिति ॥ ३६ ॥

ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा † । उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते देवान्वा ऽएष उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्ण-

* 'सक्तिः'—इति ग, घ ।

† 'भूत्वा'—इति ग, घ ।

मासाभ्यां यजते ऽयैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तदु
देवैभ्यो निष्कृवते * ॥ ३७ ॥

ऐन्द्रीभ्या माहवनीय मुपतिष्ठन्ते । इन्द्रो ह्याह-
वनीयो ऽक्षन्नमी मदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा
न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसन्दृशं त्वा व्यथं मघवन्व-
न्दिषी महि । प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि
व्यशां २ ॥ ऽअनु † योजान्विन्द्र ते हरीऽ
इति ‡ ॥ ३८ ॥

अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्य मुपतिष्ठन्ते । मनो
न्वाहा महे नाराशंसेन स्तोमेन । पितृणां
च । मन्मभिः ॥ आ न एतु मनः पुनः क्रत्व
दृत्वाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे * ॥ पुनर्नः
पितरो मनो ददातु देव्यो जनः । जीवं व्रातः

* निष्कृते—इति सा०-सम्मत इति डा० वेवरः ।

† 'वशांऽव्यय'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

‡ 'हरीऽइति'—इति ग ।

§ 'दृशे'—इति ग, घ ।

सचे महीति पितृयज्ञेनेव वा ऽएतदचारिषु-
स्तदु खलु पुनर्जीवानुपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं
व्वातं सचेमहीति * ॥ ३६ ॥

अथ यतरो ददाति । स पुनः प्राचीना-
वीती भुत्वाभिप्रपद्य जपत्यमी मदन्त पितरो
यथाभाग मावृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्ये-
वैतदाह ॥ ४० ॥

अथोदपात्र मादाय । पुनः प्रसलवि त्रिः
परिषिञ्चन् पर्येति स यजमानस्य पितर मुवने-
जयत्यसाववनेनिक्ष्वेत्यसाववनेक्ष्वेति पितामह मुसा-
ववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषे ऽभिषिञ्चे-
देवं तत्तद्यत् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्
पर्येति प्रसलवि न इदं कर्मानु सन्तिष्ठाता
ऽइति तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्
पर्येति ॥ ४१ ॥

अथ नीवि मुदृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या
वै नीविस्तस्मान्नीवि मुदृह्य नमस्करोति यज्ञो

वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो
 नमस्करोति षड् वा ऽऋतव ऋतवः पितरस्तद्वतु-
 ष्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति तस्मात् षट् कृत्वो नम-
 स्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह पितर
 ईशत ऽएषो ऽएतस्याशीः कर्मणः ॥ ४२ ॥

ते सर्व्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । अनु-
 याजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च
 पश्चात् परीतः पुरस्तादग्नीदुपविशति होता
 होतृषदने ॥ ४३ ॥

अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिधु माधा-
 याग्नि मग्नीत् सम्मृड्ढीति सुचावादाय प्रत्यङ्ङ-
 तिक्रामत्यतिक्रम्याश्चाव्याह देवान् यजेति सो ऽप
 बर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्
 प्रजाः पितृषु दधानीति तस्मादप बर्हिषौ द्वावनु-
 याजौ यजति ॥ ४४ ॥

अथ सादयित्वा सुचौ व्यूहति । सुचौ
 व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधि मभिपद्याश्चाव्या-
 हेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः
 सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते नाध्वर्युः

प्रस्तरुं समुल्लस्यतीत्येवोपास्ते यदा होता मूक्त-
वाक् माह * ॥ ४५ ॥

अथानीदाहानु प्रहरति । स न किञ्चनानु-
प्रहरति तूष्णीं मेवात्मानं मुपस्पृशति ॥ ४६ ॥

अथाह संवदस्वेति † । अगानग्नीदग्ज्ज्वावय
श्रौषट् स्वगा देव्या होतृभ्यः स्वस्ति मानुषेभ्यः शं
योर्ब्रह्मीत्युपस्पृशत्येव परिधीन्नानुप्रहरत्यथैतद्धर्हि-
रनुसमस्यति परिधींश्च ॥ ४७ ॥

तद्वैके । हविरुच्छिष्टं मनु समस्यन्ति तदु तथा
न कुर्यादुतोच्छिष्टं वा ऽएतन्नेदुतोच्छिष्टं मग्नौ जुहवा-
मेति तस्मादपो वैवाभ्यवहरयुः प्राश्नीयुर्वा ॥ ४८ ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [६. १.] ॥

* 'मूक्तवाक् माह'—इति ग, घ ।

† 'संवदस्वेति'—इति ग, घ ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ पिण्डपितृयज्ञं * विधिक्षुः पितॄणां मुत्पत्तिं माह—
“महाहविषा ह वा इत्यादि † । “येय मेषां विजितिरिति । व्यज-
यन्तेति सम्बन्धः । “अथ यानित्यादि । ‘यस्मिन्’ हत्वासुर-
युद्धे येषां देवानां मध्ये ‘यान् एव’ असुराः ‘अन्नन्’ अमारयन् ,
‘तान्’ हतान् देवान् पितृयज्ञाख्येन वक्ष्यमाणेन कर्मणा ‘समै-
रयन्त’ समागच्छन्त । ते ऋताः पितृदेवता एव अभवन् ।
पितॄनुद्दिश्य कियमाणत्वात् ‘पितृयज्ञः’ इति अन्वर्थेयं सञ्ज्ञे-
त्याह— “तस्मादिति ॥ १ ॥

“तदसन्त इत्यादि । ‘तत्’ तत्र ‘ये’ देवाः ‘व्यजयन्त’
विजय मेव प्राप्ताः , न पुनरसुरेण हताः , ‘ते’ वसन्तादृतु-
त्रयात्मकाः ; ‘यान्’ हतवन्तः , ‘ते’ पितृयज्ञेन ‘समैरयन्त’
समागच्छन् , ‘ते’ एव शरदाद्यास्तत्र ऋतवः । एतेषां मनु-
रूपत्वप्रतिपादनम् उपरिष्ठात् ‡ “ऋतवः पितरः”—इति करिष्य-
माणस्तुल्योपोद्घातत्वेन ॥ २ ॥

* ‘अथ पिण्डयज्ञः’—इति च ।

† आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः , सौम्यश्चरुः , सावित्री द्वादश-
कपालो ऽष्टाकपालो वा उपांशुदेवतः , सरस्वत्यै चरुः , पूष्णि चरुः ,
रेन्द्राग्नौ द्वादशकपालः , माहेन्द्रश्चरुः , वैश्वकर्मण एककपाल उपांशु-
देवतः । एषां मष्टानां हविषां नाम महाहविरिति ।

‡ इहैव ब्राह्मणे चतुर्थकण्डिकायां (३४४ पृ० ६ पं०) द्रष्टव्यम् ।

इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि उक्तफलसाधनत्वं माह— “अथ यदिति । ‘अथ’ इदानीं मपि ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ पितृयज्ञेन ‘यजते’ इति ‘यत्’, ‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘तु’, ‘एव’ इति त्रयो निपाताः । ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनं ‘कञ्चन’ ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे, क मपि पुरुषं ‘न’ एव ‘भ्रन्ति’ असुरादयो न मारयन्ति । तत्र कृतानुकरत्वे हेतु माह— “इति देवा इति । इत्थं ‘देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ पितृयज्ञाख्यं कर्म । देवैर्येन प्रकारेणानुष्ठितम्, तेनैव प्रकारेणानुतिष्ठति, न स्वातन्त्र्येण किञ्चित् करोतीत्यर्थः । तदेव द्रव्यदेवतासङ्घं प्रतिपादयति— “यं मु चैवैभ्य इत्यादिना । ‘एभ्यः’ पितृभ्यो ‘यम्’ एव पुरोडाशधानादिरूपम् ‘भागं’ ‘देवाः’ ‘अकल्पयन्’, ‘एतत्’ एतर्हि ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘तम्’ एव भागम् ‘एभ्यः’ ‘करोति’ । तथा देवाः पुरा असुरहतान् पितृभावं प्राप्तान् ‘यान्’ एव ‘समीरयन्त’ समगच्छन्, ‘तान्’ एव पितृत्वं प्राप्तान् देवान् ‘एतद्’ यजमानः ‘अवति’ हविषा तर्पयति । अवतिरत्र तृतीयः * । तेन च पितृदेवतातर्पणेन ‘स्वान्’ स्वकीयानेव ‘पितृन्’ पितृ-पितामहाद्यान् ‘श्रेयांसम्’ प्रशस्यतमं ‘लोकम्’ ‘उपोन्नयति’ उपप्रापयति । अपि च ‘अत्र’ अस्मिन् कर्मणि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘आत्मनः’ स्वस्य ‘अनुचरणेन’ अनुगमनेन च यदेव प्राणिजातं ‘हन्यते’, ‘मीयते’ ताडयते । यद्वा ‘मीयते’ “मीड् † हिंसायाम्”

* “अव-रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति तृप्तावगम-प्रवेश-अवण-स्नानार्थ-याचन-क्रियेच्छा-दीप्तावाप्तालिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु”—इति भा० प० ६०० धा० ।

† ‘मिद’—इति (भा० प० ८६८ धा०) च ।

-इति धातुः * । 'एतेन' पितृयज्ञेन अस्य तदेव पुनराध्यायते, पुनः प्रह्वं भवतीति । "तस्मादिति । पितृयज्ञस्य विधिः । यस्मात् उदीरितफलहेतुः पितृयज्ञः, तस्मादनेन यष्टव्यमित्यर्थः । 'यजते'-इति पञ्चमलकारेण वर्त्तमानोपदेशः † ॥ ३ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते— "स पितृभ्य इति । सोम एषा मस्तीति सोमवन्तः कृतसोमयागः । एतद्विशेषयागविशिष्टेभ्यः 'पितृभ्यः' षट्सु कपालेषु संस्कृतं 'पुरोडाशं' 'सः' यजमानः निर्वपेत् । देवताविकल्प माह— "सोमाय वेति । × × × सोमाय वा निर्वापः कर्त्तव्यः । तदुक्तं कात्यायनेनापि— "पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षड्कपालः सोमाय वा पितृमते"—इति ‡ । इदं देवताविकल्प माह्वलायनोऽप्याह स्म— "पितरः सोमवन्तः सोमो वा पितृमान्"—इति § । कपालसङ्ख्यां प्रश्नसति— "षड् वा इति । "ऋतवः पितर इति । शरहेमन्त-शिशिराः, त एते यत् पुनः समैरयन्तेत्यास्मात्तवान्, तत् पितृणा मृतुतादात्म्यम् । यद्वा "यस्मिन् वा ऋतौ पुरुषः प्रसीयते, सोऽस्यामुष्मिन्नाके भवति"—इति श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धे ॥ वसन्ताद्यृत्वात्मकाः पितरः ॥ ४ ॥

द्वितीयं हविर्विधत्ते— "अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भा इति । बर्हिषि सीदन्तीति बर्हिषदोऽकृतसोमयागाः, केवलहविर्यज्ञ-

* दि० आ० ११३७ घा० ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ८, ६, १० ।

§ आश्व० श्रौ० सू० २, १६, २१ ।

॥ तै० ब्रा० १, ६, ८, ३ ।

याजिनः पितरः । पृषोदरादित्वात् वर्णलोपः * । एतद्गुण-
विशिष्टेभ्यः पितृभ्यो धानारूपं हविः कर्त्तव्यमिति शेषः † ।
तत्करणप्रकारमाह — “अन्वाहार्यपचन इति । भृष्टयवतण्डुला
धानाः ; तदर्थं दक्षिणाग्नी भर्जनकपालमधिश्रित्य, तत्र
तत्तण्डुलानोप्य भर्जनं कुर्यादित्यर्थः । ततो भर्जनानन्तरं ता
धाना द्वेधा विभज्य, अर्द्धाः प्रकृतिवत् समन्त्रकं ‘पिषन्ति’
समन्त्रकं चूर्णयन्ति । “पिषू सञ्चूरणे”—इति धातुः ‡ । ‘अर्द्धा
इत्येव’ । एवमेवापरा अर्द्धा ‘धानाः’ ‘अपिष्टाः’ पेषणरहिता
अधिकृता भवन्ति । ता अपिष्टा धानाः ‘पितृभ्यो बर्हि-
षद्वाः’ देयाः § ॥ ५ ॥

अथ तृतीयं यागं विधत्ते — “अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्य
इति ॥ । आधानमंस्काराभावेन त्रेताग्न्यभावात् केवलमौपा-
सनाग्निनैवाद्यमाना (?) गौः ‘निवान्या’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तस्याः
पयसि प्रक्षिप्तो मधितो धानाचूर्णः ¶, ‘एकशलाकया’ एका
चासौ शलाका च, “पूर्वकालैकसर्वम्”—इत्यादिना ** समासः ।
एकयैव शलाकया ‘सक्तत्’ एकवारम् ‘उपमधितः’ आलोडितो
हविः ‘मन्यः भवति’ इत्यर्थः । उपमयनस्य सक्तत्वं प्रशंसति —
“सक्तदु ह्येवेति । एकवारमेव हि अभ्यर्च्युस्तस्माद् गार्हपत्यापरदेशात्
उत्थाय अन्वाहार्यपचनस्यादूरेणोत्तरप्रदेशे × × × रागता अपुन-

* “पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्”—इति पा० सू० ६, ३, १०६ ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, ११ ।

‡ सू० प० १५ धा० ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८, १८, १९ द्रष्टव्ये ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, ८, १२ ।

¶ एवमेव मन्य उच्यते ।

पा० सू० २, १, ३६ ।

राहताः सन्तः पितरो भवन्ति (?), अतस्तेषां सकृत्त्व मसाधारण-
धर्म इति हविःसंस्कारस्यापि सकृत्त्व मुचित मिति भावः * ।
विहितानि त्रीणि हवींषि सम्भूय निगमयति— “एतानिति ॥६॥

एतेषां हविषां या देवताः “पितृभ्यः सोमवद्भ्यः”—इत्यादिना
निर्दिष्टाः, तासां स्वरूपं परस्परामङ्गीर्णं मिति ब्रूते— “तव्य
इति । ‘तत्’ तत्र ‘सोमिनेजानाः’ सोमिनेष्टवन्तः पञ्चत्वं प्राप्ताः
‘ते पितरः’ ‘सोमवन्तः’ इत्युच्यन्ते । ‘अथ’—शब्दः त्वर्थः । ‘ये’
तु ‘पक्वो’ पाकसंस्कृतेन, चरुपुरोडाशादिहविषा देवेभ्यो दत्तेन
केवलं हविर्यज्ञयाजिन एव † सन्तो ‘लोकं जयन्ति’, ‘ते पितरः’
‘बर्हिषदः’ इत्याख्यायन्ते । ‘ये’ पुनः ‘ततः’ तयोर्मध्ये ‘अन्य-
तरत्’ अपि ‘न’ प्राप्नुवन्ति, केवल मीपासनाग्निरेव ‘दहन्’
शरीरान्ते ‘स्वदयति’ आस्वादयति, भक्षयतीत्यर्थः । तैत्तिरीयके-
ऽप्याम्नातम्— “ये वै यज्वानः, ते पितरो बर्हिषदः०—० ; ये वा
अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः”—इति ‡ ॥ ७ ॥

पितृयज्ञप्रयुक्तं विशेषं वक्तुं चोदकप्राप्त मङ्गकलाप मनुक्रा-
मति— “स जघनेनेत्यादिना । दक्षिणामुखत्वं प्राचीनावीतित्वं
च हविर्यज्ञे विशेष इत्यर्थः । “स तत एवेत्यादि । ‘सः’
अध्वर्युः तस्माद् गार्हपत्यापरदेशादुत्थाय अन्वाहार्यपचनस्य अदूरे-
णोत्तरदेशे दक्षिणामुखस्तिष्ठन् अवहन्त्यात् § । चोदकप्राप्तं फली-

* “यदसकृद्देवानां तत्, सकृत् पित्रा मिति पित्रात्वादस सकृद्-
ग्रहणे प्राप्ते आह— ‘चतुर्वा ग्रहणम् (का० श्रौ० सू० ५, ८, १३)’—इति
वा निर्द्धारणे”—इति या० दे० ।

† ‘हविर्यज्ञयाजिन एव’—इति च ।

‡ ते० ब्रा० १, १६, ६, ६ ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८ १४ क ।

करणस्य त्रिष्करण मपास्य सकृत्त्वं विधत्ते— “सकृत् फली-
करोतीति ॥ ८ ॥

“स दक्षिणैवेति । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिणामुख एव सन्
अवहननदेशे पेषणार्थं ‘दृषदुपले’ उपदध्यात् । षट्कपालस्य
पुरोडाशस्य गार्हपत्यदक्षिणायां अर्पणं विधाय स्तौति— “दक्षि-
णाहं गार्हपत्यस्येत्यादिना * । “तद् यदेता मिति । ‘तत्’
तत्र पितृयज्ञसम्बन्धित्वेनानुष्ठेयपदार्थेषु ‘यद्’ यस्मात् कारणात्
‘एतां दक्षिणां दिशं सचन्ते’ ऋत्विग्यजमानाः समवयन्ति ।
“षच समवाये”—इति † धातुः । “एषा हीति । ‘हि’-शब्दो
दक्षिणस्या दिश इह श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं पितृसम्बन्धं द्योतयति ।
तथा च तैत्तिरीयकम्— “देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त , प्राचीं
देवा दक्षिणां पितरः”—इति ‡ ॥ ९ ॥

पितृगाया वेदेर्निर्माणं विधत्ते— “अथ दक्षिणेनेति § । “चतुः-
स्रक्ति मिति । चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्याः सा तथोक्ता । तासां
चतुःस्रक्तीना मानेयाद्यवान्तरदिक्सम्बन्धं विधत्ते— “अवा-
न्तरदिशोऽन्विति । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् ॥ , “कर्म-
प्रवचनीययुक्ते”—इति द्वितीया ¶ । अवान्तरदिक्स्थाः स्रक्तीः कुर्या-
दित्यर्थः । स्रक्तीनां चतुष्टयमुपपादयति— “चतस्रो वा इति ।
पितृणां अवान्तरदिग्रूपता श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा अवगन्तव्या ॥ १० ॥

* का० श्रौ० सू० ५, ८, १४ ख ।

† भा० उ० ६६७ घा० ।

‡ तै० सं० ६, १, १, १ ।

§ “दक्षिणेन दक्षिणाग्निं परिवृत सुदग्द्वारं तन्मध्ये वेदिं करो-
त्यवान्तरदिक् स्रक्ति माप्रान्ते”—इति का० श्रौ० सू० ५, ८, २१ ।

॥ पा० सू० “अनुर्लक्षणे”—इति १, ४, ८४ । ¶ पा० सू० २, ३, ८ ।

अथाम्निस्थापनं विधत्ते— “तस्मध्य इति । दक्षिणाम्नि माहृत्य तस्या वेदेर्मध्ये स्थापयेदित्यर्थः । तथा च कात्यायनः— “अवान्तरदिक् स्रक्ति मामगन्ते दक्षिणाम्नि मध्येऽस्याः करोति”— इति * । एतस्मध्ये स्थापनमुपपादयति— “पुरस्ताद्वा इत्यादिना । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि आहवनीयसमीपे ‘प्रत्यङ्घ्रः’ प्रत्यङ्मुखः सन्तो देवा ‘मनुष्यान्’ ऋत्विग्यजमानान् ‘अभि’-लक्ष्य ‘उपा-वृत्ताः’ उपगता भवन्ति । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘तेभ्यः’ देवेभ्यः ‘प्राङ्’-मुखः ‘तिष्ठन्’ अर्ध्वर्युः जुहोति । व्याप्यावस्थितानां तेषां सर्वतोमुखत्वं मुपपादयति— “सर्वतः पितर इति । अवान्तरदिशां व्यापित्वेन तद्रूपाणां पितॄणां मपि व्यापित्वात् प्राच्याद्यन्यतमदिङ्मुखत्वं दुर्ज्ञानं मिति सर्वतः परीत्य हवनायं मध्येऽग्नेः स्थापनं मिति निगमनवाक्यस्यार्थः ॥ ११ ॥

“स तत एवेत्यादि । अस्मिन् हि पितृयज्ञे दक्षिणा दिक् प्राची जाता, ततः प्राक्प्रतीत्ये तु दक्षिणोत्तरदिशौ सम्पन्नी ; तत्र सव्यभागेऽवस्थिता प्राची दिक् उत्तरा, दक्षिणभागावस्थिता प्रतीची दिक् दक्षिणा ; तथाच प्रकृतौ उदीच्यां दिशि क्रियमाणं स्तम्बयजुर्हरणं मत्र प्राच्यां सम्पद्यते । अयं मर्षः,— तस्या वेदेः सकाशादेव सोऽर्ध्वर्युः प्राक् प्राच्यां दिशि स्तम्बयजुर्हरेत् * । तस्या वेदेः परिग्रहं मभिनयेन दर्शयति— “अथेत्येवाग्रे इति । ‘अग्रे’ प्रथमम् ‘इत्येव’ एवमेव पश्चाद् भागे दक्षिणापवर्गं रेखया परिगृह्णीयात् । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘इति’ एवम् उत्तरतः प्रागपवर्गं परिगृह्णीयात् । एवं पुरस्ताद् दक्षिणापवर्गं परि-

* का० श्रौ० सू० ५. ८. २१ ख०, २२ ।

† १ भा० १५७ पृ० “१”—टीप्पणी द्रष्टव्या ।

गृह्णीयात् । अत्र प्रतीच्युदीचीप्राचीत्यनेन क्रमेण पूर्वोक्तरीत्या दक्षिणाप्रतीच्युदग्दिशो भवन्ति । तामु दिक्षु परिग्रहणं प्रकृतौ व्याख्यातम् * । सूचितञ्च कात्यायनेन— “पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च”—इति † ।

लेखनादीनि यानि वेदिसम्बन्धीनि कर्माणि , एतानि सर्वाणि अत्रापि तथैव कर्तव्यानि इति अभिप्रेत्य सिद्धवत् अनु-
क्रामति— “स्तिष्ठति हरति यद्धार्यं मित्यादिना ‡ । ‘यत्’ ‘द्धार्यं’
हरणीयं भवति , तत् हरेत् इति सम्बन्धः । “स तथैवेति ।
येन प्रकारेण पूर्वपरिग्रहः कृतः , तेनैव प्रकारेणोत्तरं
परिग्रहं कुर्यात् ।

ननु “प्रती यज्ञे”—इति § परिपूर्वाद् ग्रहैर्यज्ञविषये घञा
भवितव्यम् , कथं मच्,— पूर्व-पूर्वपरिग्रहेणेति , उत्तर परिग्रहे-
णेतिरूपसिद्धिः ? नैषः दोषः ; “व्यत्ययो बहुलम्”—इति ॥ ‘ग्रह-
ह-ह-नि-ञि-गमश्च”—इत्यप् ** भवति ।

“प्रतिष्ठयेति । “पुरा क्रूराश्च”—इति प्रकृतौ यदनुमार्जनम् †† ,
तत् कृत्वेत्यर्थः । प्रकृतिवदेव ‡‡ “प्रोक्षणीरासादय”—इति
प्रैष मग्नीध्रप्रेषितार्यानुष्ठानञ्चाह — “प्रोक्षणीरित्यादिना । “स
यज्ञोपवीतीति । एतावत् कर्म प्राचीनावीतिनैवाध्वर्युणा कर्त्त-

* १का० २ब्र० ४ब्रा० ८—२१ कठिका द्रष्टव्याः ।

† का० श्रौ० सू० २. ६. २५ ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन — “पितृयज्ञाग्निचित्ययोः”—इति २. ६. २८ ।

§ पा० सू० ३. ३. ४७ ।

॥ पा० सू० ३. १. ८५ ।

** पा० सू० ३. ३. ५८ ।

†† १भा० १६६ पृ० ५ पं० ।

‡‡ १भा० १५५ पृ० १२ पं० , १६८ पृ० ८ पं० दृश्यम् ।

व्यम् ; 'सः' अध्वर्युः इदानीं 'यज्ञोपवीती' 'भूत्वा' प्राकृतवदेव 'आज्यानि' गृह्णीयात् * ॥ १२ ॥

तत्रोपभृति ग्रहणे केषाञ्चित् मतं सुपन्यस्यति— “तदाहु-
रिति । 'हौ ह्यत्र'—इति तत्र कारणाभिधानम् । 'अत्र' खलु
पितृयज्ञे 'हि' यस्माद् 'हौ' एव 'अनुयाजौ' प्रयाजानुयाजाना-
मेव बर्हिष्टस्य विधास्यमानत्वात् प्रथमस्यानुयाजस्य बर्हिषो-
ऽनुष्ठाने सति दावेवानुयाजौ 'भवतः', अतस्तदर्थं 'द्विरुप-
भृति गृह्णीयात्' † । ननु प्रयाजेषु समानयनार्थं मपि ग्रहीतु-
माज्येन भवितव्यमिति चेत्, न ; प्रयाजेषु बर्हिर्युक्तस्य चतुर्थ-
यागस्य प्रतिषेधेन तत्प्रयुक्तस्य समानयमानस्याप्यभावात् । अत-
एवोक्तं सूत्रकृता — “असमानयनं वा बर्हिःसंयोगात्”—इति ‡ ।

इदानीं पश्चान्तरं माह— “तदष्टावेवेति । प्रकृतिवद् अष्ट-
कत्वं एव 'उपभृति गृह्णीयात्' । गृह्णतोऽभिप्रायं माह— “ने-
दिति । यज्ञसम्बन्धिन्याः विधायाः, विधा प्रकारः संस्था ;
तस्मात् 'न' एव 'अयानि' गच्छानि 'इति' अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

आज्यग्रहणानन्तरं मिध्मप्रोक्षणादिकर्मस्वध्वर्योः पुनः प्राचीना-
वीतित्वञ्च विधत्ते — “आज्यानि गृह्णीत्वेति ॥ १३ ॥

इध्मप्रोक्षणादिकं प्रकृतिवदेव कर्त्तव्यमित्यनुक्रामति—
“प्रोक्षणीरिति । “अथास्मा इति । 'अथ' वेदिप्रोक्षणानन्तरम्
'अस्मै' अध्वर्यवे 'बर्हिः' प्रयच्छन्ति । आदाय अध्वर्युहस्ते परि-
कर्मिणो दद्युरित्यर्थः । “तत्पुरस्तादुपन्यीति । 'तद्' बर्हिः

* “यज्ञोपवीत्याज्यग्रहणे”—इति का० श्रौ० सू० ५, ८, २६ ।

† “द्विरुपभृति”—इति च का० श्रौ० सू० ५, ८, २७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ८, ३६ ।

‘पुरस्तादग्र्यं’ पूर्वस्थां दिशि यथा भवति तथा वेद्या मध्वर्यु-
 रासादयेदित्यर्थः * । तत् प्रकृतिवदेव प्रोक्षणीशेषम् ‘उपनीय’,
 बर्हिषः सन्नहनस्य ग्र्यं विस्त्रंस्य, ततः सकाशात् प्रस्तर-
 मुष्टिं पृथक् न गृह्णीयात् † । तत्र कारणमाह— “सक्तदु-
 ह्येवेति । बर्हिषः सकाशात् प्रस्तरस्य पृथक्करणे बर्हिषः सक्तत्वं
 व्याह्रयेत्, न चैतत् पिष्टयज्ञे युक्तमिति भावः ॥ १४ ॥

बर्हिषः स्तरणप्रकारमाह— “अथ सन्नहनमिति । सन्न-
 ह्यतेऽनेनेति सन्नहनं रज्जुः । ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणम्, अग्निं
 परितो वेद्यां ‘त्रिः परिस्तृणन्’ पर्येतीत्यर्थः । एवं परितः
 स्तरणानन्तरं ‘यावद्’ बर्हिः ‘प्रस्तरभाजनं’ प्रस्तरस्य योग्यं
 पर्याप्तं भवति, ‘तावत्’ ‘परिशिनष्टि’ अवशेषयेत् । “अथ
 पुनरिति । ‘अथ’ अप्रदक्षिणपरिगमनानन्तरम् ‘पुनः’ ‘प्रसलवि’
 प्रदक्षिणं ‘त्रिः पर्येति’ । अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “बर्हिर्वि-
 स्त्रंस्य यून्ञाग्रे गृहीत्वा त्रिस्तृणन्नग्निं पर्येति प्रस्तरमात्रं शिष्टा
 तावत् प्रतिपर्येति”—इति ‡ ।

एतत् प्रतिपरिगमनमनूय स्तौति— “तद्यानेवेति । ‘तत्’
 तत्र स्तरणसमये त्रिरप्रदक्षिणगमनेन ‘यान्’ एव ‘असून्’
 विप्रकर्षेण पिष्टलोकेऽवस्थितान् त्रिविधान् “पिष्टभ्यः सोमवद्भ्यः”
 —इत्यादिना हविर्देवतात्वेन प्राग्दर्शितान् ‘अन्ववागात्’ अनुप्राप्नोत्,
 ‘एतत्’ एतेन पुनस्त्रिः प्रदक्षिणकरणेन ‘तेभ्यः एव’ पिष्टभ्यः

* का० श्रौ० सू० ५. ८. २८ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ८. ३० । ‘कुशप्रसूप्रस्तरोपसन्नद्धं त्रिधा बर्हिः’
 —इति तत्पद्धतौ (५. ७) ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ८. २६, ३० । ‘यून् = रज्जुम्’—इति या० दे० ।

सकाशात् 'पुनः' 'अपोदेति' अपगच्छति, 'स्व' स्वकीयम् 'इमं लोकम्' 'अभि' प्राप्तुम् । "तन्मादिति, प्रतिपादितार्थ-निगमनम् * ॥ १५ ॥

“स दक्षिणैव परिधीनिति । 'सः' स्वयं 'दक्षिणा' दक्षिणाग्रान् 'एव' 'परिधीन्' परिदध्यात् । ततः पश्चात् पुरस्ताच्च तत्र दक्षिणान्त्री परिधीन्, उत्तरप्रागग्रं प्रस्तरं, सर्वमवशेषितं बहिर्ष दक्षिणाग्रं स्तृणीयात् । प्रकृतितः प्राप्तं † विष्टृत्यन्तर्हानं निषेधति—“नान्तर्दधातीति । अन्तर्हानेऽधस्तन-बहिर्षी विभज्येयाताम् ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रस्तरजुह्वादीनामासादनस्य प्रकारविशेषं विधत्ते—
“स तत्रेति । प्रस्तरस्योपरि पश्चाद्भागे प्रथमं 'जुह्वम्' आसाद्य, ततः पूर्वभागे 'उपभृतम्', ततः पुरस्तात् 'ध्रुवाम्' ‡, अन्ततो 'हवींषि', इत्यनेन क्रमेणासादयन्नासादितहविषा मभिमर्शनं कुर्यादित्यर्थः § ॥ १७ ॥

“ते सर्व एवेति । न केवलमध्वर्युरेव, ऋत्विग्यजमानाः 'सर्व एव ते' अस्मिन् समये 'यज्ञोपवीतिनः' भवेयुः ॥ । 'इत्यात्'—इत्यमिनयदर्शने; अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानो आहवनीयस्य पुरतो गत्वा, अप्रदक्षिणं पर्याहृत्य, पितृयज्ञवेदेः पश्चाद्देशं

* का० श्रौ० सू० ५. ८. २४. २५ ।

† १ का० २ प्र० ६. १३, ३ प्र० १. १ दृष्टव्ये ।

‡ 'सुवो जुहूः, उपभृतं पृषदाज्योपभृच्च ध्रुवा'—इति पठतौ या० दे० ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ८. ३१, ३२ ।

॥ “सामिधेनिषैषाद्याज्यभागाभ्यां यज्ञोपवीतिनः सर्वे”—इति का० श्रौ० सू० ५. ८. ३३ । ८

‘परीतः’ परिक्रामत इत्यर्थः । आग्नीध्रस्तु तस्या वेदेः ‘पुर-
स्तात्’ पूर्वदेशं गच्छेत् * ; तत्र हि स्वस्वयजुर्हरणं कृतम् ॥ १८ ॥

पितृयज्ञेनोपांशुप्रचरणं विधत्ते— “तेनोपांशु चरन्तीति † ।
“तिर इव वा इति । तिरोहिता एव पितरो ऽभवन् , तेभ्यः
‘यद्’ ‘उपांशु’ करणम् , ‘तत्’ अपि ‘तिरः’ तिरोहित मेव
भवति । तथाचान्तर्हितानां मुपांशुप्रचरणं युक्तं मिति भावः ॥ १९ ॥

पितृयज्ञस्थानस्य परिश्रयणं विधाय स्तौति— “परिवृत
इति । ‘परिवृते’ परिवेष्टिते स्थाने ; सिद्धं मन्यत् ॥ २० ॥

“स एका मेवेति । ‘सः’ होता “अग्नये समिध्यमानाय”
—इति अध्वर्युणा प्रेषितः सन् ‘एका मेव’ ‘सामिधेनी’ ‘त्रिः’
ब्रूयात् । “प्र वो वाजाः”—इत्याद्याः सामिधेन्यः पञ्चदश ‡ ।
तत्र सामिधेन्येकत्वे कारणं माह— “सक्तदु ह्येवेति ॥ २१ ॥

अनुवक्तव्यां ता मेकां सामिधेनीं दर्शयति— “सोऽन्वा-
हेति । ‘सः’ होता “उशन्तस्त्वा”—‘इति’ § एतां सामिधेनीं
त्रिः अनुब्रूयात् । अस्याय मर्थः— हे अग्ने ! ‘उशन्तः’ काम-
यमानाः वयं त्वां ‘निधीमहि’ वेद्यां स्थापयामः । तथा
‘उशन्तः’ त्वत्साध्यं यागं कामयमाना एव सन्तः ‘समिधी-
महि’ त्वां समिहं करवामहे । अग्ने ! त्वं मपि अस्मदुक्तं

* का० श्रौ० सू० ५. ८. ३४, ३५ ।

† “पितृयज्ञ उपांशुचरणम् , पुरस्तादुपचारः , ब्रह्मयजमानयोश्च,
पूर्ववदा , अपत्नीकः , दक्षिणाश्विराहवनीयवत् , पूर्वैणाहवनीयं प्रणीताः
परिहरति , अर्घवच्च”—इत्यष्टौ (का० श्रौ० सू० ५. ८. १—८) सूत्राणीह
समन्तादालोच्यानि ।

‡ ऋ० सं० ३. २७. १—१५ ।

§ ऋ० सं० १०. १६. १२ ; य० ब्रा० सं० २०. ७० ।

मयं 'उशन' कामयमानः सन् 'उशतः' अस्मदीयं यज्ञं कामय-
मानान् 'पितृन्' 'आवह' आगमय । किमर्थम् ? 'हविषे
अत्तवे' अस्माभिर्दत्तं हविर्भोक्तुम् । "क्रियाग्रहणं मपि कर्त्त-
व्यम्"—इति * कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । "अद भक्षणे"
—इति †, अस्मात् "तुमर्थे सेसेन्"—इति तवेन् प्रत्ययः ‡ ।

"अथाग्निं मावहेत्यादि । सामिधेय्यनुवचनानन्तरम् "अग्निं
मावह"—इत्याद्यावाहननिगदं ब्रूयात् । तत्राग्नीषोमावाज्यभाग-
देवते, पितरः सोमवन्त इत्याद्याः प्रधानदेवताः, 'देवा आज्यपाः'
प्रयाजानुयाजदेवताः । तेषां सर्वेषां मावाहनं कर्त्तुं मग्निः
प्रेष्यते— "अग्निं होत्राय"—इत्यादिना । शेषेण स्विष्टकृद्देवताया
आवाहनप्रतिपादनम् । 'होत्राय' होमाय होतृकर्मणे वा 'अग्निम्
आवह' । अग्निश्चात्तनान्नस्तव स्वभूतो महिमा, तम्, तद्रूप-
स्वीकारिणं मग्निं मावहेत्यर्थः । "इत्यावाह्येति । अनेन निग-
देनावाह्यं तत्रोपविशेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

प्रकृतिवत् प्राप्तं होतृवरणं निषेधति— "अथाश्राव्यं न
होतारं मिति § । आवाहनानन्तरं माश्रावणप्रत्याश्रावणे कृत्वा,
'सीद होतः !' इत्येवाध्वर्युर्ब्रूयात् ; न तु "अग्निर्देवो दैव्या
होता"—इति निगदेन होतारं प्रवृणोतीत्यर्थः । एतदुपपादयति—
"पितृयज्ञो वा अयं मिति । यतोऽयं पितृयज्ञः, अतोऽत्र
पितरः सन्निहिताः ; तत्र यदि होतुर्वरणं कुर्यात्, तदा 'न'
'होतारं' तेषु पितृषु 'दधाति' स्थापयति, न चैतद् युक्तम्,
'इति' अनेनाभिप्रायेण 'होतारं' 'न' प्रवृणोतीयात् ; किन्तर्हि

* पा० १, ४, ३२ सू० वा० १ ।

† अद० प० १ धा० ।

‡ पा० सू० १, ४, ६ ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८, ३६ ।

आश्रावणानन्तरं ब्रूयात् इति, तदाह— “सीदेति । हे ‘होतः’ त्वं ‘सीद’ उपविश ‘इति’ एतत् वाक्यम् अध्वर्युर्ब्रूयात् ; न होतुर्वरणम् । ‘होता’ चेवं कृत्वा ‘होत्वषदने’ ‘उपविशति’ उपविशेत् ।

सुगादाननिगदेनाध्वर्युः ‘प्रसीति’ अनुजानाति । “षु प्रसवैश्वर्ययोः”—इति * धातुः । स च ‘प्रसूतः’ होत्रा प्रेरितः ‘अध्वर्युः’ ‘सुची’ जुहूपभृतौ ‘आदाय’ ‘प्रत्यङ्’-मुखः अतिक्रामति । ‘अतिक्रम्य’ वेदेः पश्चिमभागे स्थित्वा, आश्रावण-प्रभृति ‘अपवर्हिषः’ बर्हिषस्तुर्थः प्रयाजः, तद्वर्जं ‘चतुरः प्रयाजान्’ यजेत । बर्हिर्वर्जनस्याभिप्राय माह— “प्रजा वा इति । शिष्टं निगदसिद्धम् † ॥ २३ ॥

हविर्भिः प्रचरणार्थं प्राचीनावीतित्वं पुनर्विधत्ते— “ते सर्व एवेति । ‘ते’ ऋत्विग्यजमानाः ‘सर्व एव’ ‘प्राचीनावीतिनः’ भवेयुः ‡ । ब्रह्मयजमानाग्नीध्राणां पूर्वं परिक्रान्तानां प्रधान-यागार्थं मन्यथा परिक्रमणं विधत्ते— “इत्यादिति । ‘इत्यात्’ अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानौ चतुःस्रक्तेर्वेदेः ‘पुरस्तात्’ प्रतिगच्छतः, आग्नीध्रः ‘पश्चात्’ प्रतिगच्छेत् । प्रधानहविषो याज्यानामाश्रावणवषट्कारानाचष्टे— “तदिति । ‘तत्’ तत्र पितृषु प्रधानहविष्यु ‘ॐ स्वधा’—इति अध्वर्युराश्रावयेत्, ‘असु स्वधा’—इति आग्निध्रः प्रत्याश्रावणं कुर्यात्, होता ‘स्वधा नमः’—इति

* अदा० प० ३० धा० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ८. ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. १ । पित्रात्वादपसथं सर्वत्र प्राप्त मेव, सथस्यापि वाचनिकस्याज्यभागान्तस्यावधि (८. ३३.) पूर्ण इति प्राचीनावीतित्वं प्राप्त मेवेति कात्यायनेन नेह पुनः स्रज्जिह्वमिति ध्येयम् ।

वषट्कुर्यात् । अस्याय मर्यः— “ॐ आवाय”-“अस्तु औषट्”-
“वौषट्”—शब्दानां स्थाने एते प्रयोक्तव्या इत्यर्थः ॥

तत्राध्वर्युप्रेषस्याय मर्यः— ॐकारोऽङ्गीकारार्थः , स्वधेति
पित्रा हविर्नाम । हे अग्नीत् ! पितृर्योपादीयमान मिदं
हविः तवाभिमतं किं मिति । तत्तथास्त्विति अग्नीत् । नमः
शब्दस्थागार्थः , पितृनुद्दिश्य दीयमानैतत् ‘स्वधा’ तदीयं
हविः ‘नमः’ त्यक्तं मत्तु , इति वषट्कारप्रतिनिधिभूतस्य
वाक्यस्थार्थः * ॥ २४ ॥

प्रकृतिवदेवाश्रावणादिकं कर्त्तव्यं मिति पक्षान्तरं माह—
“तद् होवाचेति । ‘आश्रावयेयुः’-इत्यादिना आश्रावणादि-
कर्त्तृणा मध्वर्यादीनां मेकत्वेऽपि पूजार्थं बहुवचनम् । ‘यज्ञस्य’
प्रकृतिभूतस्य दर्शपूर्णमासयागस्य ‘विधायाः’ विधा प्रकारः
संस्थानम् , तस्मात् ‘न’ एव ‘अयाम्’ प्रच्यवामहे ‘इति’ प्रागु-
दीरितस्यापेक्षा ; अन्यथा हि आश्रावणादीनां प्रकृतिवदप्रयोगात्
यज्ञविधायाः प्रच्युतिः स्यादित्यभिप्रायः । अत एव सूत्रकृत्
स्वधाकरणयज्ञस्य विकल्पं माह क्त्वा— “ॐ स्वधेत्यस्तु स्वधेति वा-
ऽऽश्रुतप्रत्याश्रुते”—इति † ॥ २५ ॥

अनुवाक्यार्थं प्रेषवचनं प्रथमयागस्य विधत्ते — “अथाहेति ।

* “स्वधा नम इति वषट्कारः”—इति का० श्रौ० सू० ५, ६, १२ ।

† का० श्रौ० सू० ५, ६, ११ । ॐ स्वधेत्यादिषु स्थानापत्त्या भ्रुतो
भवत्येवेति पदमञ्जरीकारः, तथा चाहान्वलायनः— “नित्याः भ्रुतयः”—इति ।
तेन ॐ स्वधेत्यत्र ओकारः स्वशब्दगतोऽकारश्च भ्रुतौ,— ‘ओ३५ स्वा३धा’
—इति , तथा ‘अस्तु स्वा३धा’—इति , ‘स्वा३धा नमः’—इति । एवं
‘ये यजामहे’-इत्यस्य स्थाने ‘ये३ स्वधामहे’-इत्यपि बोध्यम् ।

पितृप्रधान-सोमप्रधानयोश्चभयोरपि युक्तत्वात् तदपेक्षया पितरः
सोमवन्तः पितृवन्तो वेति विकल्पः प्रागुपन्यस्तः ; तदभि-
प्रायेणात्रापि सम्प्रैषस्य हेविध्यम् । होतानुवाक्यावचने प्रकृ-
तितो विशेष माह— “स हे इति । अनुवाक्यादित्वं सुप-
पादयति — “एकया वा इत्यादि । ‘एकया’ एव अनुवाक्यया
‘देवान्’ स्वस्थानात् ‘प्रच्यावयन्ति’ देवयजनदेशं भागन्तुम् ।
पितरस्तु परागमनात् अपुनरावृत्तिङ्गताः , अतो न ते एकया
पुरोनुवाक्यया प्रच्यावयितुं शक्याः ; ततः प्रयत्नविशेषे कर्त्तव्ये
‘दाभ्यां’ पुरोनुवाक्याभ्यां होता तान् ‘पितॄन्’ आगमयतीत्यर्थः ॥२६॥

त्रीणि हवींषि समवदाय एकैका देवता यष्टव्या , तत्र
पितॄणां सोमवतां यजनप्रकारं माह — “स उपस्तृणीत आज्य-
मिति । “हिराज्यस्येति । आज्येनोपस्तरणं मेकं भवदानम् ,
पुरोडाशादिहविस्त्रयात् सकृत्सकृदवदानम् , तत् सकृदिति
यदवदानं सम्पद्यते , एतेन सकृदवदधातीति वाक्यं मुक्तार्थं
भवति * । यदि अभिघारणं सुपस्तरणं च सकृदेव स्यात् ,
तदा चतुरवत्तसम्पत्तिर्न स्यात् ; चतुरवत्तं हि यागयोग्यं
द्रव्यम् , तस्माद् हिरभिघारणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः † । “प्रत्य-
नक्त्यवदानानीति । अवद्यत्यस्मादित्यवदानम् , अवत्तशिष्टं हविः ।
“कृत्यल्युटो बहुलम्”—इति ‡ अपादाने ल्युट् । अवत्तशिष्टानि
हवींषि प्रत्यज्यादित्यर्थः । प्रकृतिवत् प्राप्तं मतिक्रमणं निषे-
धति — “नातिक्रामतीति § । कथन्तर्हि कर्त्तव्यं मिति तत्राह —

* का० श्रौ० सू० ५. ६. २ , ३ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ४ । ‡ पा० सू० ३. ३. ११२ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ६. ५ ।

“इत एवेति । यत्रोपविश्यावस्यति , ‘इत एव’ स्थानात् ‘उपो-
त्याय’ तत्रैव तिष्ठता आश्रावणादिकं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

द्वितीयतृतीययागयोरेवमेवानुप्राणनप्रकारं दर्शयति—“अथा-
हेति । अत्रापि पूर्ववदेव पुरोनुवाक्यादित्वं भवगन्तव्यम् ।
“उपस्तृणीत इत्यादि , पूर्ववत् ; एतावांस्तु विशेषः,— द्वितीय-
यागस्य हविरादाने धानानां प्राथम्यम् , तृतीयस्य हविरादाने
मन्यस्य प्राथम्यम् । अस्मादेव प्राथम्यात् सोमवदादियागत्रयस्य
हविषां त्रयस्य धारणेऽपि निर्वापकाले सपितृभ्यः सोमवद्भ्यः
षट्कपालं पुरोडाश मिति विशेषाभिधानम् * ॥ २८ , २९ ॥

इत्थं प्रधानयागं कृत्वा स्विष्टकृतस्थानेऽग्निः कव्यवाहनो यष्ट्य
इत्यभिप्रेत्य तदनुवाक्याप्रेषस्य वचनं विधत्ते— “अथाह्मनय
इति । “तत् स्विष्टकृत इति । यदेतत् “अग्नये कव्यवाहना-
यानुब्रूहि”—इति सम्प्रैषवचनम् , ‘तत्’ ‘स्विष्टकृत’ स्विष्टकृत्या-
गार्थम् । पितृणां कव्यवाहनसम्बन्धप्रतिपादनेनैवैतदुपपादयति—
“कव्यवाहनो वा इति । देवेभ्यो दीयमानं हविः ‘हव्यम्’,
पितृभ्यस्तु दीयमानं तत् ‘कव्यम्’ । तदुभयं वहतीति हव्य-
वाहनकव्यवाहननामानौ हावेवाग्नी क्रमेण देव-पितृ-सम्बन्धिनौ ।
“कव्यपुरीषपुरीषेषु ऽयुट्”—“हव्येऽनन्तःपादम्”—इति सूत्राभ्यां †
वहतेऽयुट् । एष चानेरवान्तरभेदः प्रागप्यान्नातः , तेत्तिरी-
यकेऽप्यान्नायते— “तयो वा अग्नयः ; हव्यवाहनो देवानाम् ,

* “सोमाय वा पितृमते , एवं बर्हिषदभ्य उत्तरतो धानामभ्य-
पुरोडाशानाम्”—अग्निष्वात्तेभ्यो दक्षिणतो मन्यपुरोडाशधानानाम्”—
इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ , ७ , ८ ।

† पा० सू० ७. २. ६६ , ६७ ।

कव्यवाहनः पितृणाम्, सहरक्षाः असुराणाम्”—इति * ।
यस्मादेवं कव्यवाहनः पितृणां सम्बन्धी, तस्मात् “अग्नये कव्यवाह-
नाय”—इत्येव वक्तव्य मिति निगमयति—“तस्मादाहेति † ॥ ३० ॥

तस्य स्विष्टकृत्स्थानीयस्य कव्यवाहनयागस्य पूर्ववदुपस्तरणादि-
होमान्तानुष्ठानप्रकार माह— “स उपस्तृणीत इत्यादिना । स्विष्ट-
कृत्थागस्य शेषद्रव्यसाध्यत्वात् हविरुत्पत्तिक्रमेणैवात्तावदान मित्य-
भिप्रेत्याह— “अथास्य पुरोडाशस्येति । “न प्रत्यनक्त्येति ।
हविःप्रत्यभिधारणस्य स्विष्टकृदर्थत्वात् तस्य च हविषो यज्ञणात्
पुनः प्रत्यभिधारणं न कर्त्तव्य मित्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ‡ ॥ ३१ ॥

स्विष्टकृच्चतुर्थेषूक्तेषु यागेषु नातिक्रामतीति योऽतिक्रमनिषेध
उक्तः, त मनूय स्तौति— “स यन्नातिक्रामतीति । सकृदवदानं
प्रशंसति— “अथ यदिति । सोमवदादियागत्रयेऽपि यज्ञविषो
व्यतिषजन मुक्तम्, “अथास्य पुरोडाशस्यावद्यतीत्यादिना, तद-
नूय स्तौति— “अथ यद् व्यतिषङ्ग मिति । क्रियाविशेषणम् ;
परस्परं संसृष्टं यथा भवति तथेत्यर्थः । “ऋतवो वै पितर
इति । पितृणां ऋतुरूपत्वं प्रागेव दर्शितम्— “त उ ते यान्
पुनः समैरयतेति । तथा च ‘एतत्’ एतेन, पितृदेवत्यहविषा
व्यतिषज्जनेन ‘ऋतूनिव व्यतिषजति’ परस्परं संसर्जयति, तेन
व्यतिषजनेन तान् ‘ऋतून्’ ‘सन्दधाति’ परस्पर मविनाभूतान्
करोति ॥ ३२ ॥

अथेडां प्रत्याम्नायत्वेन मन्यस्याधान मेकीयमतेनोपन्यस्यति—
“तद्वैक इति । ‘तत्’ तत्र खलु ‘एके’ शाखिनः यागशिष्टम्

* तै० सं० २. ५. ८. ११ ।

† का० औ० सू० ५. ६. १० ।

‡ “पुरस्तादग्नये कव्यवाहनाय यथापूर्वम्”—अत्रि का० औ० ५. ६. ६ ।

‘एत मेव मय्यं होत्रे आदधति’ होतुर्हस्ते प्रक्षिपन्तीत्यर्थः ।
 एतस्मिन् पक्षे होतुः कर्त्तव्यं मुपदिशति— “तं होते-
 ति । “उपह्वयेति । वेदिसमीपे इडानिगदेनोपह्वयं कृत्वा ,
 तदनन्तरं भवघ्राय अग्नीध्रे दद्यात् । सोमवज्जिघ्रत्येव , न तु
 कस्य चिदप्यत्र भक्षणं मस्तीत्येवकारार्थः । प्राशित्वेडावदान-
 पक्षं मय्याह— “एतन्नेवेति । ‘तु’-इति प्रसिद्धौ , ‘एव’-कारो-
 ऽवधारणार्थः , ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थः * । अपि खल्वेतद् वक्ष्यमाणं
 मेकं पक्षं केचिदनुतिष्ठन्ति । तदेव दर्शयति— “यथा त्वेवेति ।
 ‘तु’-शब्द एकीयमतव्यावृत्त्यर्थः । ‘इतरस्य’ दर्शपूर्णमासादेः
 ‘यज्ञस्य’ ‘यथा’ इडां प्राशित्वं च ‘समवदन्ति’ सर्वेभ्यो हविर्भ्यः
 सम्भूयावदन्ति , ‘एव मेव’ ‘एतस्यापि’ पितृयज्ञस्य समवदयेयुः ।
 “अथैव जिघ्रन्तीति । अस्मिन्नपि पक्षे इडाप्राशित्वयोरवघ्राण-
 मेव कर्त्तव्यम् , न तु प्राशनमित्यर्थः । प्राशनपक्षं मय्याह—
 “प्राशितव्यं त्वेवेति । इडावदानं च यज्ञान्तरवत् अत्रापि
 ‘प्राशितव्यं मेव’ ‘वयं मन्यामहे’ ‘इति’ ‘आसुरिः’ महर्षिः
 प्रतिपादयतीत्यर्थः । एवं प्रतिपादयत आसुरेरभिप्राय माह—
 “यस्य कस्येति । इडां प्राशन्तः ऋत्विजः ‘यस्य कस्यचित्’
 आत्मनः सम्बन्धिनि ‘अग्नी’ वैश्वानरे तद्धविः ‘जुह्वति’ , अतः प्राशने
 न शेष इत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः † ॥ ३३ ॥

यजमानपितृनुद्दिश्य पिण्डप्रदानं मध्वर्युयजमानयोरन्यतरस्य
 कर्त्तव्यत्वं सिद्धवदनुवदनम् , तत्प्रागङ्गं भवनेजनं विधत्ते—

* कात्रोतेति चानुसन्धेयम् ।

† “मय्यं मुपह्वयं होताध्वर्युब्रह्माग्नीदेवप्राहं निदधति , प्राशित्वं
 भवदायेडां वा , सर्वे प्राशन्ति वा”—इति का० श्रौ० सू० ५, ६, १३—१५ ।

“अथ यतर इति । अध्वर्युयजमानयोर्मध्ये यतर इत्यर्थः ।
 ‘किं यत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य उतरच्’—इति * उतरजन्तः ।
 ‘यदि अध्वर्युर्वा यजमानो वा’ ‘दास्यन्’ पिण्डदाता ‘भवति’,
 ‘सः’ स्वयं यजमानः अध्वर्युर्वा ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्णं पात्रम्
 ‘आदाय’, ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणं ‘त्रिः परिषिञ्चन्’ पितॄणां
 वेदिम् ‘पर्येति’ † । “स यजमानस्येति । ‘सः’ अध्वर्युः ‘यज-
 मानस्य पितरम्’ “असाववनेनिक्ष्व”—इति मन्त्रेण ‡ ‘अव-
 नेनिक्ष्वेति’ अवनेजति । यजमानस्तु यदि स्वयं पिण्डदाता
 भवति, तदा स्वकीय मेव पितर मवनेजयेत् । “असावव-
 नेनिक्ष्व”—इत्यादिकं पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् § ॥ ३४ ॥

“अथास्य पुरोडाशस्येत्यादि । पुरोडाशादिहविःशेषान् ‘सव्ये
 पाणौ’ ‘अवदाय’ आलोच्य, त्रीन् पिण्डान् कृत्वा, तस्मिन्नेव
 हस्ते धारयेत् ॥ ३५ ॥

“स येमा मवान्तरदिश मिति । ‘इदं’-शब्देनोत्तरापरं
 दिश मभिनयेन निर्दिशति ¶ । “अनुलक्षणे”—इति ** लक्षणे
 अनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वम् । उत्तरापरस्यां दिशि येयं वेदेः
 स्रज्जिः, ‘तस्यां’ ‘यजमानस्य पित्रे’ “असावेतत् ते”—इति

* पा० सू० ५. ३. ६२ ।

† “वेदिं त्रिः परिषिञ्चति उदपात्रेणाध्वर्युयजमानो वा”—इति
 का० औ० सू० ५. ६. १६ ।

‡ पुरस्तादिहैव ४ अ० २. २३ कण्डा श्रुतोऽयम् ।

§ पुरस्तादिहैव काण्डे ४ अ० २. २३ भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० औ० सू० ५. ६. १६ ।

¶ ‘दर्शयति’—इति च ।

** पा० सू० १. ४. ८४ ।

मन्त्रेण * । पितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते — “अथ येमा मिति ।
 ‘इदं’-शब्देन दक्षिणापरा अवान्तरा दिग् गम्यते । अन्यत्
 समानं पूर्वेण । प्रपितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते — “अथ
 येमा मिति । अत्रेदमा दक्षिणपूर्वा दिग्भिनयेन निर्दिश्यते ।
 अत्र या वेदेः स्मृतिः , तस्यां प्रपितामहार्थे पिण्डं दद्यात् † ।
 इत्यंतिष्ठेषु स्मृतिषु पिण्डदानं विधाय , अवशिष्टायां स्मृतौ
 समन्त्रके लेपमार्जने विधत्ते — “अथ येमा मवान्तरदिश मिति ।
 इमा सुत्तरपूर्वा मवान्तर दिश मनु या वेदेः स्मृतिः , तस्याम्
 “अत्र पितरः”-‘इति’ मन्त्रेण ‡ हस्तगलेपं ‘निमृष्टे’ निमृजीत ।
 तथा चोक्तं सूत्रकृता — “उत्तरापरस्यां प्रथमम् , सव्ये समवदाय
 सर्वेभ्यो यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसावेतत् इति , उत्तरपूर्वस्यां
 पाणी निमृष्टेऽत्र पितर इति”-इति § । “असावेतत्ते”-इत्यादि
 मन्त्रार्थः पिण्डपितृयज्ञे एव वर्णितः ॥ । प्रपितामहादिभ्यः
 उक्तरीत्या पिण्डान् ददातीत्यर्थः । तथाचैवं सति ‘स्नान’
 स्वकीयान् ‘पितृन्’ ‘एतस्मात्’ पितृयज्ञात् ‘नान्तरिति’ अन्तरितान्
 न करीति , अपि तु भागिनः कृतवान् भवति ॥ ३६ ॥

आहवनीयोपस्थानं विधत्ते — “ते सर्व एवेति ¶ । “उदञ्च

* पुरस्तादिहेव ४ अ० २, १६ कण्ठां श्रुतोऽयम् ।

† “स्मृतिषु पित्रावनेजनं परिषिच्य—परिषिच्य पूर्ववत्”—इति का०

श्रौ० सू० ५, ६, १७ ।

‡ वा० सं० २, ३१ । § का० श्रौ० सू० ५, ६, १८, १९, २० ।

॥ पुरस्तात् २०८ पृ० ७ पङ्क्तितो द्रष्टव्यः ।

¶ “यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्कृन्वोदञ्चोऽक्षत्रमीमदन्तेत्याहवनीय
 सुपतिष्ठन्ति दाम्भाः”—इति का० श्रौ० सू० ५, ६, २१ ।

उपनिष्क्रम्येति । उदङ्मुखाः सन्तः परिहृतात् पिण्डपितृ-
यज्ञस्थानात् निर्गत्वेत्यर्थः । “देवान् वा इत्यादि । ‘यः’
सुतु ‘आहिताग्निर्भवति’, ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां’ च ‘यो यजते’,
‘एषः’ ‘देवान्’ ‘उपावर्त्तते’ उपगतो भवति , देवसम्बन्धगतस्य
यजमानस्य देवान् परित्यज्य यत् पितृयज्ञाचरणम् , तेन देवानां
मनसि क्रोधोभूत् ; पुनरावृत्त्याहवनीयोपस्थानेनातीवोदासीनता-
जनित मपराधं ‘देवेभ्यः’ ‘निह्वते’ श्रमयन्ति ॥ ३७ ॥

“ऐन्द्रीभ्या मिति , मन्त्रविधिः । ऐन्द्रा ऋचः कथं मन्त्र्यु-
पस्थाने सङ्गतिः , लिङ्गविरोधात् ? इत्यत आह - “इन्द्रो
हीति । परमैश्वर्ययोगादाहवनीय एवेन्द्रः , अतस्तदीयोपस्थाने
ऐन्द्रा कारणत्वं न विरुद्धत इत्यर्थः । त एवैन्द्रौ पठति—

“अक्षत्रमीमदन्तेति * । ‘अक्षन्’ अस्माभिर्दत्तं हविः
पितरः अक्षन् । अर्देलुङि “लुङ्सनोर्घञ्”-इति † घञ्देशे,
“मन्त्रे घसङ्करणम्”-इति ‡ चुर्लुकि , “गमहनम्”-इति §
उपधालोपे , अक्षन्निति रूपम् । ‘हि’ यस्मात् एवम् , अतस्ते
पितरौ हविःस्वीकारेण ‘अमीमदन्त’ दत्ता अभवन् । “मद
वसियोगे”-इति || , अस्मात्प्रान्तात् लुङि चङि रूपम् । वसि-
रपि कुतोऽवगम्यते इति तत्राह— “अवप्रिया इति । ‘प्रियाः’
आत्मीयाः तनूः ते पितरः ‘अव अधूषत’ भुक्तस्य हविषो
रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थम् अवाकम्ययन् । “धूञ् कम्पने”-इति ¶
धातुः । तदनन्तरं ‘स्वभानवः’ स्वायत्तदीप्तयः , ‘विप्राः’ मेधा-

* वा० सं० ३. ५१ ।

† पा० सू० २. ४. ३७ ।

‡ पा० सू० २. ४. ८० ।

§ पा० सू० ६. ४. ६८ ।

|| पु० आ० २२६ धा० ।

¶ पु० आ० ३०१ धा० ।

विनः ते पितरः हविषः प्रदातारं यजमानं नविष्ठया नव-
तरया 'मती' मत्या सुत्या 'अस्तोषत' उपभुक्तं हविः प्राशंसन् ,
सम्यगेतत् सञ्जात मिति । आहवनीयावस्थित ! हे 'इन्द्र !'
त्व मपि 'ते' त्वदीयौ 'हरी' अश्वौ गमनार्थं 'नु' क्षिप्रं 'योजान्'
योजयेति प्रथमाया ऋचोऽर्थः ।

“सुसन्दृशं त्वेति * । हे 'मघवन् !' धनवन् ! आहवनीय-
रूपेन्द्र ! सुष्ठु-सन्दर्शनीयं 'त्वा' त्वां 'वन्दिषीमहि' नमः ,
अभिवादयामो वा । “वदि अभिवादनस्तुत्योः”—इति † धातुः ।
अस्माभिः वन्दितस्त्वं 'पूर्णबन्धुरः' दत्तेन हविषा पूर्णेन रथ-
नीडेन युक्तः , 'सुतः' च सन् अस्माभिः कृतं स्तोत्रं हविश्च
स्वीकृत्य 'वशान् अनु' कामान् अनु यथाकामं यथेष्टं 'प्रयासि' ।
“योजानित्यादि , पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— “अथ प्रतिपरेत्येति ‡ । ‘प्रति-
परेत्य’ आहवनीयसमीपात् प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । तस्मिन् गार्ह-
पत्योपस्थाने “मनो न्वाह्वामहे”—इत्याद्यास्त्रयो मन्त्रा पठिताः ,
तेषा 'मय मर्थः—

तत्र प्रथमा “मनो न्विति § । अस्मदीयं 'मनः' 'नु'
क्षिप्रम् 'आह्वामहे' । केन साधनेन ? 'नाराशंसेन स्तोमेन' नरैः
शंसनीयेन स्तोत्रेण , 'पितॄणां' सम्बन्धिभिः 'मन्त्रभिः' मननैश्च ॥

“आ न एत्विति ॥ द्वितीया । पितृयज्ञकरणादप्रकान्त

* वा० सं० ३. ५२ ।

† आ० आ० ११ धा० ।

‡ “मनो न्वाह्वामहे इति गार्हपत्यं तिरुभिः”—इति का० श्रौ०
सू० ५. ६. २२ ।

§ वा० सं० ३. ५३ ।

॥ वा० सं० ३. ५४ ।

सम्प्रदीयं 'मनः' 'पुनः' अस्मान् 'एतु' आगच्छतु । किमर्थम् ? 'क्रत्वे' क्रतुकर्मणे , 'दत्ताय' बलाय, 'जीवसे' जीवनाय, 'ज्योक्' चिरकालं 'सूर्यं च' 'दृशे' द्रष्टुम् । "दृशे विस्थे च"—इति * तुमर्थे निपात्यते ॥

पुनर्न इति † तृतीया । हे 'पितरः !' 'देव्यः' देवसम्बन्धी 'जनः' 'नः' अस्माभ्यं 'मनः पुनः ददातु' । 'जीवं' जीवनवन्तं, 'व्रातं' गणम् पुत्रपौत्रादिसमूहम् 'सचेमहि' प्राप्नुयामेति । अन्तिमपादे जीवशब्दप्रयोगस्याभिप्राय माह— "पितृयज्ञेनेवेति । 'पितृयज्ञेन' खलु 'एतत्' इदानीम् 'अचारिषुः', अतः पितृयज्ञस्य कर्त्तार ऋत्विग्यजमानाः पितृसम्भक्ताः सन्तः प्रजायुक्ता भवेयुः । 'तत्' तथा सति "जीवं व्रातम्"—इति अनेन मन्त्रभागेन 'जीवान्' एव पुत्रपौत्रादीन् 'अपिपद्यन्ते' अपिगच्छन्ति । "तस्मादिति, उक्तार्थनिगमनम् ॥ ३८ ॥

पिण्डदातृजपं विधत्ते— "अथ यतर इति ‡ । 'अथ' उपस्थानानन्तरम् , अध्वर्युयजमानयोर्मध्ये 'यतरः' पिण्डं 'ददाति', 'स पुनः' 'प्राचीनावीती' 'भूत्वा', पितॄं देशम् 'अभिपद्य' प्रविश्य "अमीमदन्त"—इति § मन्त्रं जपेत् । स च मन्त्रः , तद् ब्राह्मणं च पिण्डपितृयज्ञे व्याख्यातम् ॥ ४० ॥

पिण्डदानस्योदीच्याङ्ग मुदकावनेजनं पूर्ववद् विधत्ते— "अथोदपात्र मिति । "तद्यथा जक्षुषे इति , अवनेजनस्य

* पा० सू० ३. ४. ११ ।

† वा० सं० ३. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. २३ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ पुरस्तात् २१० पृ० ७ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ॥

प्रयोजनकथनम् । एतत् सर्वं पिण्डपितृयज्ञे एव व्याख्यातम् * ।

विहितं परिषेचनं पुनः श्रुतम् , तस्य यत् प्रादक्षिण्यम् , तत् स्तौति— “यत् पुनरित्यादिना । “प्रसलविन इति । अपसल मप्रादक्षिण्यम् , तद्विपरीतं प्रसलं प्रादक्षिण्यम् ; मत्वर्थीयो विनिः । प्रादक्षिण्यवतो मम ‘इदं’ पितर मपि ‘कर्म’ ‘अनुसन्तिष्ठानै’ संस्थितं भवेत् । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण अवसाने ‘प्रसलवि’ सव्येन परिषेचनं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

“अथ नीवि मित्वादि † । पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् ‡ ॥ ४२ ॥

चोदकप्राप्त मनुयाजाद्युदीच्याङ्गकलापं सविशेष मतःपर मनुक्रामति — “ते सर्व एवेति । “इत्याद्यजमानश्चेति । प्रयाजा-
द्युदीच्याङ्गानुष्ठानसमये एव ब्रह्मयजमानाद्याः तत्र तत्र स्थाने परीत्योपविशेयुः § ॥ ४३ ॥

“अथाहेति । “प्रत्यङ्ङतिक्रामतीति । प्राचो दक्षिण-
दिक्कस्य प्रागुपपादितत्वात् दक्षिणातिक्रमणस्थाने पत्यङ्मुखो-
ऽध्वर्युरतिक्रामेदित्यर्थः । ‘अपबर्हिषौ’ बर्हिः प्रथमानुयाजः , तद्वर्जितौ ‘द्वावनुयाजौ’ यज-यजति । बर्हिर्वर्जने कारण माह—
“प्रजा वा इति ॥ ४४ ॥

सुग्व्यूहनादिकं प्रकृतिवत् कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति—

* पुरस्तात् २१० पृ० १८ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† “अवनेष्य पूर्ववत् प्रदक्षिणं नीविं विसंस्य नमो व इत्यञ्जलिं करोति षड् वा नमस्कारान् गृह्णान् नः पितरो दत्त” — इति का० औ० सू० ८, ६, २४, २६ ।

‡ पुरस्तात् २११ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् । § का० औ० सू० ५, ६, २७ ।

“अथ सादयित्वेत्यादिना । सूक्तवाकानुवचनं प्रकृतवत् प्राप्तम् । प्रस्तरप्रहरणं निषेधति — “नाध्वर्युरिति * । ‘न समुक्ष्म्यति’ न गृह्णाति, न प्रहरेत्, तूष्णीं मेवोपासीत प्रस्तर मा प्रहरणम् † ॥ ४५, ४६ ॥

अग्नीत्प्रैषस्यानिवृत्ति माह — “अथाहेति । “स्वगा दैव्या होतृभ्यः”—इति सत्प्रैषेऽध्वर्युणोक्ते होता शंयुवाकं ब्रूयात् ; न च तदानीं मध्वर्युः परिधीननुप्रहरेत्, केवलं मुपसृशेदेव ‡ । बर्हिषः परिधीनाश्च तूष्णीं मग्नौ प्रहरणं विधत्ते — “अथैतदिति । ‘एतत्’ चतुःस्रक्त्यां वेद्यां स्तीर्णं ‘बर्हिः’ ‘परिधीश्च’ आदाय युगपदग्नौ ‘अनुसमस्यति’ प्रक्षिपति § ॥ ४७ ॥

अथाग्नौ प्रक्षेप मेकीयमतेनोपन्यस्यति— “तद्वैक इति । तदेतन्निषिध्योपपादयति— “तदु तथेति । हुतशेषस्य पुनर्होमयोग्यत्वाभावात् नैष पक्षो युक्त इत्यर्थः । का तर्हि हविः-शेषस्य प्रतिपत्तिरिति, ता माह— “तस्मादिति । ‘हुतोच्छिष्टम् अपोऽभ्यवहरेयुः’ । अग्नौ प्रासनपक्षस्य व्युदासार्थं ‘एव’-कारः । ऋत्विजो ‘वा प्राश्नीयुः’ इति पञ्चाक्षरम् ॥ । सूत्रकारोऽप्येतत् सर्व

* “न प्रस्तर मादत्ते”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २८ ।

† “अनुप्रहरेत्युक्ते किञ्चनापि नानुप्रहरति, तूष्णीं मात्मानं संस्पृशति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २६, २७ ।

‡ उपसृश्य परिधीन् नानुप्रहरति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३१ ।

§ “बर्हिःपरिध्ययौ प्रास्यति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३३ ।

॥ “हविरुच्छिष्टं, अथ, प्राश्यं वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३४, ३५, ३६ ।

माह स—“न प्रस्तर मादत्त इत्यादिना * ॥ ४८ ॥ २५ [६.१.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

— — —

* का० श्रौ० ५. ६. २८-३६ सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

† “अथात्र चिन्त्यते । के पुनस्ते पितरो येभ्य इदं दीयते ? उच्यते—
यजमानस्य पितृभ्यो ददातीत्यादिवचनात्, एत एव पितरः ; तेभ्यो जीवद्वा
एव दाने प्राप्ते,—“प्रेतेभ्यो ददाति”—इति वचनात्, “सकुडु ह्येव
पराश्वः पितरः”—इत्यादिदर्शनेभ्यश्च प्रेतेभ्यो देयम् । अथ “वसवः पितरो
ज्ञेया रुदा ज्ञेया पितामहाः । प्रपितामहास्तथादित्या इत्येषा वैदिकी
श्रुतिः”—इति, तथा “यानेवेषां तस्मिन्सङ्ग्रामेऽङ्गस्तान् पितृयज्ञेन समै-
रयन्त, पितरो वै त आसन्”—इति (२ का० ६. १. १.), तथा “शरद्धे-
मन्तश्चिशिरास्ते पितरः”—इति, तथा अग्निष्वात्तादयः पितृगणा स्तेषां
कोपयोगः ? एत एव तु आधिदैविकाः पितरः, ततश्च यथा ब्राह्मणे
लप्यति पितरस्तप्यन्ति, तथा तेष्वापि लप्यन्तु आधिदैविकावस्थास्ते
लप्यन्ति; महापितृयज्ञे तु त एव सोमपादय उच्यन्ते । पित्राञ्च
सक्तिषु प्रेतेभ्यो एव दीयन्ते । अथ यस्य पितरो मुक्ताः स्युः, स कथं
दद्यात् ? सोऽपि तेभ्य एव ब्रह्मत्वं मापन्नेभ्यो ददन् बहुतरंगैर्वैनसा विमु-
च्यते । या तु तेषां लभित्तदानुसङ्गिकं फलम्, न तदभावे क्रियानादर्त्तया ।
वस्त्रादयस्त्वाधिदैविकाः, तेऽपि लप्यन्तेव; शास्त्रेण विशेषोपादानं विधा-
नादिति गम्यते”—इत्याद्यात्र हरिस्वामी । तैत्तिरीयकास्त्वेवं समामनन्ति
—“देवान् वै पितॄन् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपते”—इति तै० ब्रा०
१. ३. १०. ४ । ‘द्विविधा हि पितरः, देवात्मका मनुष्यात्मकाश्च’—इत्यादि
सायणीयं भाषास्वातन्त्र्यमिति, दिक् ॥

Padumawati, Face. 1-4 @ 2/	Rs. 3 0
Paricīpta Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each...	1 14
Prāk ta-Paīngalam, Fasc. 1-7 @ 1/6 each	2 10
Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/6 each	1 14
Ditto (English) Part II, Fasc. 1	0 12
Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1	1 8
Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/5 each	7 8
Parācara, Institutes of (English)	0 12
Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each	2 4
*Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/1 each Fasc.	12 6
Sāṅkhyā Sūtra Vṛtti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6	1 8
Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each	2 4
Shaddarṣana-Samucchaya, Fasc. 1,	0 6
Śraddha Kriyā Kaumudī, Fasc. 1-6	2 4
*Sūcruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 1/12/	0 12
Suddhī Kaumudī, Fasc. 1-4	1 8
*Taittirēya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/6 each	9 0
Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/6 each	7 2
Tantra Vartika (English) Fasc. 1-6 @ 1/12/	4 8
Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/6 each	14 4
Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3	1 2
Trikāṇḍa-Maṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6	1 2
Tul'sī Satsai (Text) Fasc. 1-15 @ 1/6	1 14
Upamitā-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/6 each	3 0
Uvāsagadasāo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/12/	4 8
Vallala Carita, Fasc. 1	0 6
Varsa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/6	2 4
*Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/6 each	4 8
Vijdhano Parigata, Fasc. 1-7	2 10
Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/6 each	2 10
V. hat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6	2 4

Tibetan Series.

Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/ each	4 0
Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	14 0
Rtogs brjod dpag Akhari Śiñ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	9 0

Arabic and Persian Series.

*Ālamgīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/5 each	4 14
Al-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/12/	2 4
Ā'in-i-Akbari, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each	22 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each	29 12
Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each	37 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. 1-2 @ 1/	10 0
Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger	0 6
Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/6 each	7 2
Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2	2 0
Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each	3 0
Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each	21 0
Farhang-i-Rashidi, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each	14 0
Fihrist-i-Tūsi, or, Tūsy's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/12/ each	3 0
Futūh-ush Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/6 each	3 6
Ditto of Azādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each	1 8
Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1	0 12
History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each	4 8
Iqbāl-nāmah-i-Jahāngiri, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6 each	1 2
Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/12/ each	38 4
Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. I.I. Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6 each	13 2
Maghāzi of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each	1 14

The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

Muntakhabu-l-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 1/5/ each	Rs 5 10
Muntakhabu-l-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes ; Vol. III, Fasc. 1 @ 1/2/ each	12 0
Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/5/ each	7 2
Ma'āfir-i-Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/4/ each	2 4
Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1	0 6
Nizāmī's -Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 1/2/ each	1 8
Riyāzu-s-Salātin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/4/ each	1 14
Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5	3 12
Tabaqāt-i-Nāgiri, (English) Fasc. 1-14 @ 1/2/ each	10 8
Ditto Index	1 0
Tārikh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-din Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 1/5/ each	2 10
Tārikh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each	2 4
Ten Ancient Arabic Pcems, Fasc. 1-2 @ 1/8/ each	3 0
Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1	0 12
Wis o Rāmin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each	1 14
Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 1/6/ each	6 6

ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each ... 20 0
2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 16/ per No. ; and from 1870 to date @ 18/ per No.
3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1896 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. I, No. 1, 1905. @ 1-s per No. to members ana Rs. 2/ per No. to Non-members.
5. Memoirs Vol I, No 1,4,5 @ 1/8/ to non members and to members ... 1 2

Ditto No. 2 @ 1/-	Ditto	Ditto	12
Ditto No. 3 @ 2/-	Ditto	Ditto	1 8
6. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0

A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., *J. A.S.B.*, 1878) ... 4 0

Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., *J. A.S.B.*, 1868) ... 2 0

Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., *J. A.S.B.*, 1875) ... 4 0
7. Anis-ul-Musharrahin ... 3 0
8. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 0
9. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
10. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 16/ each ... 32 0
11. Jawāmlu-l-ḥilāl ir-riyyāzī, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
12. Khizānatu-l-ḥilm ... 4 0
13. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each ... 40 0
14. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
15. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
16. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös ... 10 0
17. Ditto Grammar ... 8 0
18. Kacmīracabdāmā, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
19. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
20. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, F.H.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0
21. Persian Translation of Hāji Bābā of Ispāhān, by Hāji Shaikh Ahmad-i-Kirmāsī and edited with notes by Major D. C. Phillott ... 10 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0

Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

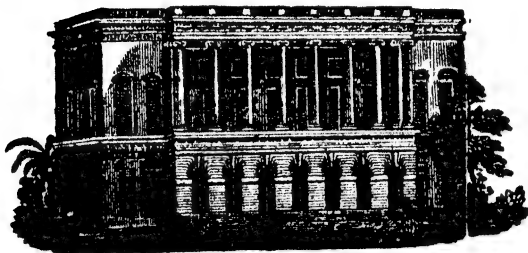
16-9-06.

BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-P.

BIBLIOTHECA INDICA :
A
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1159.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ

VOL. II, FASCICULUS V,

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,  
1906.

# LIST OF BOOKS FOR SALE

## AT THE LIBRARY OF THE

### ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM  
THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,  
15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO  
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY

*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some  
of the Fasciculi being out of stock.*

#### BIBLIOTHECA INDICA.

##### Sanskrit Series.

|                                                                                                                               |     |    |    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|----|----|
| *Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 2,4 @ 1/6 each                                                                           | Rs. | 0  | 12 |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                                            | ... | 0  | 12 |
| *Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/6 each                                                                                    | ... | 4  | 2  |
| Aitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5 ; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/6                   | ... | 8  | 10 |
| Aphorisms of Sāṃdilya, (English) Fasc. 1                                                                                      | ... | 0  | 12 |
| Aṣṭasahasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6 each                                                                     | ... | 2  | 4  |
| Acavavaiḍyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each                                                                                    | ... | 1  | 14 |
| Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 1-5 ; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                                       | ... | 10 | 0  |
| A Lower Ladakhi version of Kesarsaga, Fasc. 1...                                                                              | ... | 1  | 0  |
| Bāla Bhaṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                                | ... | 0  | 12 |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/6 each                                                                                 | ... | 1  | 2  |
| Bhāṭṭa Dipikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                               | ... | 1  | 14 |
| Bṛhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each                                                                                      | ... | 1  | 8  |
| Bṛhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6 each                                                                               | ... | 2  | 4  |
| Bodhicaryavatara of Cārtidevi, Fasc. 1-3                                                                                      | ... | 1  | 2  |
| Çatadusani, Fasc. 1-2                                                                                                         | ... | 0  | 12 |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                                     | ... | 8  | 0  |
| Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-5, Vol III Fasc 1-7...                                                      | ... | 7  | 2  |
| *Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-12 @ 1/6 each                                                           | ... | 4  | 8  |
| *Çaturvarga Chintāmaṇi, (Text) Vol's. II, 1-25 ; III. Part I, Fasc. 1-18, Part II, Fasc. 1-10 @ 1/5 each ; Vol. IV, Fasc. 1-5 | ... | 21 | 12 |
| *Çlokavārtika, (English) Fasc. 1-5                                                                                            | ... | 3  | 12 |
| *Çrauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/6 each                                                                      | ... | 4  | 8  |
| Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-4 ; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/6 each ; Vol 4, Fasc. 1             | ... | 0  | 0  |
| Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6 each                                                                                      | ... | 0  | 3  |
| Dan Kriya Kaumundi, Fasc. 1-2                                                                                                 | ... | 0  | 12 |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7                                                                                 | ... | 2  | 10 |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...                                                                                           | ... | 0  | 6  |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                                        | ... | 2  | 4  |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12 each                                                                                        | ... | 4  | 8  |
| Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12 each                                                                          | ... | 10 | 8  |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/5 each                                                                                     | ... | 3  | 6  |
| Lalitā-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each                                                                               | ... | 2  | 4  |
| Madana Pūrijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/5 each...                                                                              | ... | 4  | 2  |
| Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-4, @ 1/6 each                             | ... | 9  | 6  |
| Manuikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/5 each                                                                                 | ... | 1  | 2  |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12 each                                                                            | ... | 6  | 12 |
| *Mīmāṃsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/6 each                                                                                | ... | 4  | 14 |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/5                                                                                          | ... | 2  | 4  |
| *Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/5 each                                                                                | ... | 3  | 0  |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/5                                                                                      | ... | 2  | 10 |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                                   | ... | 2  | 4  |
| Nyāyabinduikā, (Text) ...                                                                                                     | ... | 0  | 10 |
| Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/6 each                                           | ... | 3  | 6  |

BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection Of Oriental Works

PUBLISHED BY  
THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.  
NEW SERIES, NOS. 1131, 1132, 1133, 1158 & 1159.

---

THE CATAPATHA BRĀHMĀNA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,

WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCHĀRYA

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAŚRAMĪ,  
*Associate Member of the Asiatic Society of Bengal ; Editor ,  
Author , Commentator , Annotator , Compiler , Translator ,  
& Publisher of different Vedic Works &c. &c.*

VOL. II. KANDA II.

---

CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTOPADHYAYA, SATYA-PRESS.  
1906 .



# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

( शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखीयम् )

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वङ्गदेशीयास्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च ,

सामग्र्यमीत्युपनामाचार्यसत्यव्रतशर्कणा

यथामति संशोध्य सगुटीक्य च सम्पादितम् ।

॥ २ भा० । २ का० ॥

( द्वितीयकाण्डात्मको द्वितीयो भागः )



कलिकाता-राजन्वत्याम् ,

१८६३-संवत्समायां सत्ययन्त्रेण यन्नतो मुद्रितम् ॥



## ॥ सम्पादकोक्तिः ॥

अथ यद्यपि शतपथ-द्वितीयकाण्डीय-सायणाचार्यकृत-भाष्यस्य विशुद्धैकपुस्तकस्यापि लाभाय बहु यतितम्, क्रमव्यत्यासदोष मुररीकृत्यैवैतत्सम्पादनतः पूर्वं मेव द्वितीयकाण्डं सम्पादितञ्च, हन्त तथापि न कथमपि फलितं मे मनोरथद्वयेण; न ह्यद्याप्यभिलषित-रूप मेकमपि तत्पुस्तकमवापीति; तदनन्त्यगत्या बह्वशुद्धाना-दर्शानेवावलम्ब्यातिश्रमतः कष्टतश्च समपाद्येतदथ ससंशोधनम् ।

तदेतद्वितीयकाण्डस्य पाठान्तरादिस्थानबोधनाय सङ्गृहीतानां तेषां मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

- क = ३५३-पत्रात्मकम्, १६८६-संवत्सिखितम्, पूर्णम् ।  
 ख = १०८-पत्रात्मकम्, १६५८-संवत्सिखितम्, पूर्णम् ।  
 ग = डा०-वेबर-सम्पादितम्, खृ०-१८४८-बार्लिन्मुद्रितम्, पूर्णम् ।  
 घ = अजमेर-वैदिकयन्त्रालये १८५८-संवत्सुद्रितम्, पूर्णम् ।  
 ङ = ८३-प०, स्याद् द्विशताब्दधिककालीनम्, पूर्णम् ।  
 च = डा०-वेबरेणाविलुप्ताक्षराणि विचित्य समाहृतं ग-मुद्रितम् ।  
 छ = २१-पत्रात्मकम्, १८२६-खृ०-लिखितम्, पूर्णम् ।  
 ज = श्रीरामपुरकलेजीयन्तु 'च'तोऽविभिन्नमिति परित्यक्तमिव ।  
 एतेषु अष्टस्वादर्थपुस्तकेषु कादीनि चत्वारि मूलस्थ, अपराणि भाष्यस्येति वेद्यम् । किञ्च ग-पुस्तकमवलम्ब्यैव मुद्रितं घ-पुस्तकं गम्यत इति तयोरेकत्वं मेव तत्त्वतः ।

एतस्मिन् हि काण्डे अग्न्याधानम्, पुनाराधानम्, पवमाने-  
 ष्यादि, अग्निहोत्रम्, पिण्डपितृयज्ञः, आश्रयणेष्टिः, दाक्षा-

यणैष्टिर्वसिष्ठेष्टिर्वा , चातुर्मास्यानि च समाम्नातानि । वैश्वदेव-  
यागः , वरुणप्रघासयागः साकमेधयागः , पितृयागः , त्राम्बक-  
यागः , शुनसीर्यञ्च चातुर्मास्यावयवभूता एवेति तेऽपीहैव विहिताः ।  
सर्व एवैते यागा आधानानन्तरभाविन इति अग्न्याधान-पुनराधा-  
नयोः सर्वपूर्ववर्त्तित्वेनेह विधानं माम्नातम् । अग्निहोत्रं हविर्यज्ञानां  
प्रकृतिरिति पिण्डपितृयज्ञादीनां मिहाप्राधान्यम् । चातुर्मास्य-  
यागो भवति त्रिपर्वा ; तत्र तस्य वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्व , वरुण-  
प्रघासाख्यं द्वितीयम् , साकमेधाख्यं तृतीयम् , पितृयज्ञत्राम्बक-  
हविःशुनासीर्याणां तु तदङ्गत्वम् । अपि वा चतुष्पर्वैवैष  
चातुर्मास्ययागः , तत्र शुनासीर्यं चतुर्थं पर्व , परं न तस्या-  
नुष्ठानस्य वैश्वदेवादेरिव कालनियम इत्येव विशेषः । तदत्र  
“अक्षय्यं ह वै सुकृतम् ( ५ प्र० ४ ब्रा० )”—इत्यस्य सायणीयं भाष्यं  
द्रष्टव्यम् । तदेव माधानपुनराधानयोः सर्वकर्मसु व्यवहार्यत्वात्  
सर्वकर्मतः पार्थक्यं मिति सर्वतो भिन्नत्व मङ्गीकृतम् , ततोऽन्या-  
वग्निहोत्रचातुर्मास्यावेवेह प्रधानतो विहितावित्येव मन्तव्यम् । अत  
एवोक्तं श्रीमता सायणाचार्येण तृतीयकाण्डीयभाष्योपक्रमे—

“आधानपुनराधाने अग्निहोत्रं ततः परम् ।

चातुर्मास्यानि सपशु द्वितीयकाण्ड ईरितम्”—इति ॥

अथैतस्य द्वितीयकाण्डस्य सायणीयं भाष्यं नु सर्वथैवाकिञ्चित्कर  
मेव ; तत्रापि द्वितीयाध्यायादीनां तु टीप्यत्येवाकारि , न  
भाष्यम् । तदाह च तत्र स खय मेव , ५८ पृष्ठस्य १६ पङ्क्तितो  
द्रष्टव्य मिति शम् ॥

कालीकोठा-नाम-राजन्वती । } श्रीसत्यव्रतशर्मा ।  
संवत् १८६३ । खृ० १८०६ । } ( आवसथः सामश्रमी , आचार्यश्च )



## ॥ अथ मूलशुद्धिपत्रम् ॥

| अशुद्धम्     | शुद्धम्          | प्र० | ब्रा० | क०        | पृष्ठे |
|--------------|------------------|------|-------|-----------|--------|
| निर्भक्ष्याम | ... निर्भक्ष्याम | १    | १     | ८         | ३      |
| व्यूढा       | ... व्यूढा       | १    | २     | ४         | १४     |
| गुह्य        | ... गुह्यं       | १    | २     | ११        | १५     |
| ०निष्ठते     | ... ०निष्ठते     | १    | ४     | १५        | ३६     |
| कुमाराय      | ... कुमाराय वा   | १    | ५     | १         | ५३     |
| ०ज्जल०       | ... ०ज्जल०       | १    | ५     | ८ (द्विः) | ५४     |
| दन्न         | ... ०दन्नं       | १    | ५     | ११        | ५५     |
| बर्हिषि      | ... बर्हिषी      | १    | ५     | १६        | ५७     |
| ऋतून्        | ... ऋतून्        | २    | १     | ११        | ७८     |
| प्रविश०      | ... प्राविश०     | २    | १     | १४        | ७८     |
| अचक्रुस्ते   | ... अक्रुस्ते    | २    | २     | १६        | ८६     |
| मेवैत्       | ... मेवैतत्      | २    | ३     | ४         | १०५    |
| हि           | ... हि           | २    | ३     | १३        | १०८    |
| ०त्तर        | ... ०त्तरां      | २    | ३     | १७        | १०८    |
| द्वन्द्व     | ... द्वन्द्व     | २    | ३     | २३        | १११    |
| चाशाद्       | ... चाशा         | २    | ३     | २४        | १११    |
| ०प्यदनङ्गी   | ... ०प्यदनङ्गी   | २    | ३     | २५        | १११    |
| ०माथे        | ... मभि          | २    | ३     | २८        | ११२    |

|                 |     |                |     |   |   |          |     |     |
|-----------------|-----|----------------|-----|---|---|----------|-----|-----|
| स्वोदिति        | ... | स्वाहेति       | ... | २ | ३ | ३२       | ... | ११२ |
| अथः             | ... | अथ             | ... | २ | ३ | ३३       | ... | ११३ |
| सिति            | ... | मिति           | ... | २ | ४ | ११       | ... | १३१ |
| मनुष्याणां      | ... | मनुष्याणां     | ... | ३ | ४ | ६        | ... | १६१ |
| मजयत्           | ... | मजपत्          | ... | ४ | ३ | २७       | ... | २७६ |
| वारुण्ये        | ... | वारुण्ये       | ... | ४ | ३ | ३७       | ... | २८२ |
| मदायो           | ... | मादायो         | ... | ४ | ४ | ११       | ... | ३१६ |
| गृहप्रेधिभ्यो   | ... | गृहमेधिभ्यो    | ... | ४ | ४ | १४       | ... | ३२० |
| तिष्ठन्न वहन्ति | ... | तिष्ठन्नवहन्ति | ... | ५ | २ | ८        | ... | ३४५ |
| जहोति           | ... | जुहोति         | ... | ५ | २ | ११       | ... | ३४५ |
| यज्ञपवीती       | ... | यज्ञोपवीती     | ... | ५ | २ | १२       | ... | ३४६ |
| सन्तुहन         | ... | सन्तुहन        | ... | ५ | २ | १५       | ... | ३४७ |
| प्रस्तर भाजनं   | ... | प्रस्तरभाजनं   | ... | ५ | २ | १५       | ... | ३४७ |
| देती म॥         | ... | देतीम॥         | ... | ५ | २ | १५       | ... | ३४७ |
| चर०             | ... | चर०            | ... | ५ | २ | २३       | ... | ३४८ |
| राज्यस्या       | ... | राज्यस्या      | ... | ५ | २ | २८       | ... | ३५० |
| प्रयच्छति       | ... | प्रयच्छति      | ... | ५ | २ | ३३ (दिः) | ... | ३५२ |
| ऽहति            | ... | ऽहति           | ... | ५ | २ | ३३       | ... | ३५२ |
| ज्योक्च         | ... | ज्योक् च       | ... | ५ | २ | ३८       | ... | ३५४ |
| रुदियेण         | ... | रुद्रियेण      | ... | ५ | ३ | १८       | ... | ३८० |
| चुरः            | ... | चुरः           | ... | ५ | ५ | ५        | ... | ४२१ |

# शतपथब्राह्मण-द्वितीयकाण्डस्य

## सूचीपत्राणि ।

### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                                              |     |     |
|--------------------------------------------------------------|-----|-----|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( स यदा इतश्चेतश्च १ अ० १ ब्रा० )         | ... | १८० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( वरुणो ह्येन्द्राण्यकाम २ अ० ३ ब्रा० ) | ... | ७५  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( यत्र वै प्रजापतिः ३ अ० ३ ब्रा० )        | ... | १३६ |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( प्रजापतिर्ह वा एते ४ अ० ४ ब्रा० )      | ... | २२८ |
| अथ पञ्चमः प्रपाठकः ( महाहविषा ह वै ४ अ० ४ ब्रा० )            | ... | ३३४ |

### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                                       |     |     |     |
|-------------------------------------------------------|-----|-----|-----|
| अथ प्रथमाध्यायः ( स यदा इतश्चेतश्च १ प्र० १ ब्रा० )   | ... | ... | १८० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( उद्धृत्याहवनीयं १ प्र० ५ ब्रा० )  | ... | ... | ५३  |
| अथ तृतीयाध्यायः ( सूर्यो ह वा २ प्र० ३ ब्रा० )        | ... | ... | १०५ |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( अथ हुतेऽग्निहोत्र ३ प्र० ३ ब्रा० ) | ... | ... | १८० |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( प्रजापतिर्ह वा इद ४ प्र० २ ब्रा० )  | ... | ... | २५० |
| अथ षष्ठाध्यायः ( महाहविषा ह वै ५ प्र० २ ब्रा० )       | ... | ... | ३४३ |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥

| सङ्ख्या | ब्राह्मणनाम              | प्रपाठकस्य       | अध्यायस्य      | पृष्ठे  |
|---------|--------------------------|------------------|----------------|---------|
| १ ...   | सम्भारब्राह्मणम्         | ... १प्र० १ब्रा० | ... १अ० १ब्रा० | ... १   |
| २ ...   | नक्षत्रब्राह्मणम्        | ... १प्र० २ब्रा० | ... १अ० २ब्रा० | ... १३  |
| ३ ...   | ऋतुब्राह्मणम्            | ... १प्र० ३ब्रा० | ... १अ० ३ब्रा० | ... २७  |
| ४ ...   | अग्निघ्रातनब्राह्मणम्    | ... १प्र० ४ब्रा० | ... १अ० ४ब्रा० | ... ३१  |
| ५ ...   | पवमानेष्टिब्राह्मणम्     | ... १प्र० ५ब्रा० | ... २अ० १ब्रा० | ... ५३  |
| ६ ...   | दक्षिणब्राह्मणम्         | ... १प्र० ६ब्रा० | ... २अ० २ब्रा० | ... ६३  |
| ७ ...   | पुनराधेयब्राह्मणम्       | ... २प्र० १ब्रा० | ... २अ० ३ब्रा० | ... ७५  |
| ८ ...   | स्टिष्टब्राह्मणम्        | ... २प्र० २ब्रा० | ... २अ० ४ब्रा० | ... ८२  |
| ९ ...   | अग्निहोत्रधर्मब्राह्मणम् | २प्र० ३ब्रा०     | ... ३अ० १ब्रा० | ... १०५ |
| १० ...  | अग्निहोत्रब्राह्मणम्     | ... २प्र० ४ब्रा० | ... ३अ० २ब्रा० | ... १२८ |
| ११ ...  | उपस्थानब्राह्मणम्        | ... ३प्र० १ब्रा० | ... ३अ० ३ब्रा० | ... १३६ |
| १२ ...  | तदेव                     | ... ३प्र० २ब्रा० | ... ३अ० ४ब्रा० | ... १५१ |
| १३ ...  | क्षत्रकोपस्थानब्राह्मणम् | ३प्र० ३ब्रा०     | ... ४अ० १ब्रा० | ... १८० |
| १४ ...  | पितृपितृयज्ञ-ब्राह्मणम्  | ३प्र० ४ब्रा०     | ... ४अ० २ब्रा० | ... १९० |
| १५ ...  | आग्रयणब्राह्मणम्         | ... ३प्र० ५ब्रा० | ... ४अ० ३ब्रा० | ... २१४ |
| १६ ...  | दाक्षायणब्राह्मणम्       | ... ४प्र० १ब्रा० | ... ४अ० ४ब्रा० | ... २२८ |
| १७ ...  | वैश्वदेवब्राह्मणम्       | ... ४प्र० २ब्रा० | ... ५अ० १ब्रा० | ... २५० |
| १८ ...  | वरुणप्रघासब्राह्मणम्     | ... ४प्र० ३ब्रा० | ... ५अ० २ब्रा० | ... २७२ |
| १९ ...  | श्राकमेधब्राह्मणम्       | ... ४प्र० ४ब्रा० | ... ५अ० ३ब्रा० | ... ३१५ |
| २० ...  | महाहविर्ब्राह्मणम्       | ... ५प्र० १ब्रा० | ... ५अ० ४ब्रा० | ... ३३४ |
| २१ ...  | पितृयज्ञब्राह्मणम्       | ... ५प्र० २ब्रा० | ... ६अ० १ब्रा० | ... ३४३ |
| २२ ...  | त्र्यम्बकहविर्ब्राह्मणम् | ... ५प्र० ३ब्रा० | ... ६अ० २ब्रा० | ... ३८५ |
| २३ ...  | शुनासीर्यब्राह्मणम्      | ... ५प्र० ४ब्रा० | ... ६अ० ३ब्रा० | ... ४०४ |
| २४ ...  | चातुर्मास्यफलब्राह्मणम्  | ५प्र० ५ब्रा०     | ... ६अ० ४ब्रा० | ... ४२० |

## ॥ अथ कण्डिकासूची ॥

| कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठ |
|----------------------------------|--------|-----------------------------------|-------|
| अक्षय्यं ह वै सुकृतं ...         | ४०४    | अथ द्यावापृथिव्य एककपालः          | २५४   |
| अग्नेयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय      |        | अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं ...      | १६०   |
| ०—० स दक्षिण ...                 | ३१७    | अथ द्विपदाः । पुरुष ...           | १६०   |
| अग्नेयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय      |        | अथ हे पिश्रीले वा पात्रगौ वा      | ३१७   |
| ०—० स स्थाल्यौ ...               | ३१६    | अथ नीवि सुदृह्य नमस्करोति         | १६६   |
| अग्निर्मूर्द्धा दिवः । ककुत् ... | १५४    | अथ नीवि सुदृह्य नमस्करोति         | ३५५   |
| अग्नौ ह वै देवाः । सर्वाणि       | ७५     | अथ पराङ् पर्यावर्त्तते ...        | १६५   |
| अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् ...     | १५१    | अथ पितृभ्योऽग्निध्वात्तेभ्यः      | ३४४   |
| अथ काय एककपालः ...               | २७५    | अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः ...      | ३४४   |
| अथ केशश्शश्रूमा समारोह्य         | २८६    | अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति ...      | १६३   |
| अथ केशश्शश्रूमा समारोह्य         | ३६०    | अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य ...         | ४०७   |
| अथ गा मभिष्टपति ...              | १५६    | अथ पुनः प्रसलवि त्रिः ...         | ३८८   |
| अथ गा मभ्यति । अन्वस्थान्वो      | १५८    | अथ पुनरेत्य जपन्ति ...            | ३८७   |
| अथ गा मभ्यति । इड गृह्यदित       | १६१    | अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्द्धं | ३६    |
| अथ गार्हपत्य मभ्यति ...          | १५६    | अथ पुरस्तादुल्मुकं निदधाति        | १६३   |
| अथ गार्हपत्य सुपतिष्ठते ...      | १८१    | अथ पूर्वद्युः । अन्वाहार्यपचने    | २७५   |
| अथ चतुरस्रयति । चतुर्द्धा        | १०६    | अथ प्र वा व्रजति प्र वा ...       | १८१   |
| अथ चातुष्पाश्य मोदनं ...         | ३२     | अथ प्र वा व्रजति प्र वा           | १८२   |
| अथ जाग्रति जाग्रति देवाः         | ३३     | अथ प्रति परेत्य गार्हपत्य ...     | ३५४   |
| अथ दक्षिणान्वाहूनन्वावर्त्तन्ते  | ३६०    | अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति      | २७७   |
| अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं        | ३४५    | अथ प्रवत्सान् । गार्हपत्य ...     | १८०   |
| अथ दिशो व्याघारयति ...           | २४५    | अथ प्रातः । अनग्निन्वा सुहृत्तं   | १२६   |
| अथ दीक्षेत । तं नानीजानं         | ४०७    | अथ प्रातः । आग्नेयः ०—० पुरो-     |       |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| डाग्रोऽथ या मेवाम् ...              | २३३    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः ०—० पुरो-       |        |
| डाग्रोऽथैतावेवाह्मासौ               | २३३    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाग्रो      |        |
| भवति मैत्रावरुणी ...                | २३१    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाग्रो      |        |
| भवत्येन्द्रः साम्राज्यं ते हे       | २३०    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाग्रो      |        |
| भवत्येन्द्रः साम्राज्यं प्रातः      | २३१    |
| अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः ...      | ११३    |
| अथ प्रातः । स जुर्देवेन ...         | ११४    |
| अथ प्रातः । सूर्यो ज्योतिर          | ११३    |
| अथ प्रातर्हुते वाहुते वा ...        | ३२१    |
| अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः ...         | ३२२    |
| अथ मरुद्भ्यः सान्तप्रनेभ्यः ...     | ३१६    |
| अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः            | ३१६    |
| अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो   | ३३६    |
| अथ यः कामयेत । क्षत्रं ...          | २८     |
| अथ यः कामयेत । बहु ...              | २८     |
| अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात्         | १०६    |
| अथ य एष एकोऽतिरिक्तो ...            | ३८७    |
| अथ य एष सभाया मग्निः ...            | १२६    |
| अथ यतरो ददाति । स पुनः              | ३५५    |
| अथ यतरो दास्यन् भवति ...            | ३५२    |
| अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण |        |
| ०—० ते हे देवते ...                 | २३०    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण |        |
| ०—० य मेवासु ...                    | २३१    |
| अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन |        |
| ०—० तृतीय सवने ...                  | २३१    |
| अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन |        |
| ०—० ते हे देवते ...                 | २३१    |
| अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन |        |
| ०—० दर्शपूर्णमासयो ...              | २३३    |
| अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति ...         | ३३५    |
| अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त         | १३१    |
| अथ यत्रैतत्परितरा मिव ...           | १३१    |
| अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो              |        |
| भवति । उच्चैर्धूमः ...              | १३१    |
| अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो              |        |
| भवति । तर्हि ह्येष ...              | १३०    |
| अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।        |        |
| अस्य रसस्य जीवनस्य                  | १०७    |
| अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।        |        |
| प्रजनयत्येवेन ...                   | १०५    |
| अथ यत्साकमेधैर्यजते ...             | ४११    |
| अथ यत्सावित्रः । दादश ...           | ३३५    |
| अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति            | ३३५    |
| अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति ...          | ३३५    |
| अथ यदग्नये इन्द्रुमते ...           | ८१     |
| अथ यदग्नये प्रवमानाय ...            | ८१     |
| अथ यदग्नये पावकायय निर्व्वपति       | ५५     |

| कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम् .             | पृष्ठं |
|---------------------------------|--------|-------------------------------|--------|
| अथ यदक्षये शुचये निर्वपति       | ५५     | अथ सन्नहन मनुविस्त्रस्य ...   | ३४७    |
| अथ यदस्तमेति । तदप्रावेत् ...   | १०५    | अथ सर्पराज्ञा ऋग्भि- ...      | ४०     |
| अथ यदेष एतेन यजते ...           | २१७    | अथ सादयित्वा सुचौ ...         | ३५६    |
| अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह ३४३  |        | अथ सारस्वतश्चरुर्भवति ...     | २५२    |
| अथ यदेष एतेर्यजते । तन्नाह ३८५  |        | अथ सावित्रः । दादशकपालो       | २५२    |
| अथ यदेष एतेश्चतुर्थे मामि       | २७३    | अथ सावित्री । सविता ...       | १६२    |
| अथ यदहमप्रघामे ...              | ४०१    | अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै | २५२    |
| अथ यत्सकमेधैर्यजते ...          | ४०१    | अथ सौर्य एककपालः ...          | ४०६    |
| अथ यत्साञ्चु नामीर्येण ...      | ४०४    | अथ स्वाहामि मित्राह ...       | ८०     |
| अथ यत्सादुपैव तिष्ठेत् :        |        | अथ हिरण्यं सम्भरति ...        | २      |
| उत वै ...                       | १५३    | अथ हुतेऽग्निहोत्र उपतिष्ठते   | १८०    |
| अथ यत्सादुपैव तिष्ठेत् :        |        | अथ ह्येनं शश्वदप्यसुरा ...    | १६१    |
| यज्ञो वै ...                    | १५२    | अथ होवाच । अन्वाऽअहं ...      | १६     |
| अथ यत्साम्न कृत्तिका ...        | १३     | अथाश्वकरीषं सम्भरति ...       | ३      |
| अथ यत्साम्न ऋगग्नीर्धं ...      | १५     | अथाग्नये पावकाय निर्वपति      | ५४     |
| अथ यत्साम्नोपतिष्ठेत् :         |        | अथाग्नये शुचये निर्वपति ...   | ५४     |
| यज्ञो वै ...                    | १५२    | अथाग्नीदाहानुप्रहरेति ...     | २८४    |
| अथ यत्साम्नोपतिष्ठेत् । यो वै   | १५२    | अथाग्नीदाहानु प्रहरेति ...    | ३५७    |
| अथ या मेतां समिध ...            | १४३    | अथाग्नयी । तदग्नय ...         | १६२    |
| अथ ऽर्धम माहूयितवे ब्रूयात् ... | ३२१    | अथातः पयस्याया एवायतनम्       | २५६    |
| अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति       | २३४    | अथातः पयस्यैव । पयसो वै ...   | २५४    |
| अथ वाययं पयो भवति ...           | ४०६    | अथातः । परिवर्तनस्यैव ...     | ४०८    |
| अथ वैश्वकर्म्मण एककपालः         | ३३६    | अथात आष्टदेव । नोपकिरन् ...   | २५५    |
| अथ शर्कराः सम्भरति ...          | ३      | अथानो गृहाणा मेवोपचारः ...    | १८६    |
| अथ अनुनामीर्यो दादशकपालः        | ४०५    | अथादिशे चरुं निर्वपति ...     | ५७     |
| अथ सन्नदाच्छिन्ना ...           | १६४    | अथाहिरभ्युचति ...             | २      |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठं |
|-------------------------------------|--------|
| अथाध्वर्युरेव कायेन ...             | २८३    |
| अथाध्वर्युरेव प्रतिपरित्य ...       | २८५    |
| अथाध्वर्युरेव प्राशित्र ...         | २८३    |
| अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् ...        | २८३    |
| अथाध्वर्युरेवाह वरुण ...            | २८२    |
| अथाध्वर्युरेवाह सोमाया- ...         | २८१    |
| अथाध्वर्युरेवाहाग्नये * ...         | २८०    |
| अथान्तरेणाहवनीयं च ...              | १६१    |
| अथापसलवि त्रिः परियन्ति ...         | ३८८    |
| अथायमन्यतोमुखः पुरुषः ...           | ४०८    |
| अथाश्राय न होतारं प्रवृणीते ...     | ३४८    |
| अथाश्व माक्रमयति ...                | ३८     |
| अथासीनः । स त्व मग्ने ...           | १५८    |
| अथास्य पुरोडाशस्यावदाय ...          | ३५३    |
| अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो ...        | ३४६    |
| अथाह पितृभ्यो ऽग्निष्वात्तेभ्यो ... | ३५१    |
| अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो ...      | ३५०    |
| अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि ...     | ३५६    |
| अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य           |        |
| ०—० स उपस्तृणीत ...                 | ३२०    |
| अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य           |        |
| ०—० स दक्षिण ...                    | ३१८    |
| अथाहवनीय सुपतिष्ठते                 |        |
| शस्य पशून् मे ...                   | १८०    |
| अथाह संवदस्विति                     |        |
| ०—० ब्रूहीत्यर्थ्युरेव ...          | २८५    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठं |
|-------------------------------------|--------|
| अथाह संवदस्विति०—०                  |        |
| ब्रूहीत्युपसृष्टाव ...              | ३५७    |
| अथाह सोमायानुब्रूहीति               |        |
| ०—० स उत्तरस्यौदनस्य ...            | ३१८    |
| अथाह सोमायानुब्रूहीति               |        |
| ०—० स स्यात्स्याएव ...              | ३२०    |
| अथाहाग्नये कथवाहनाय ...             | ३५१    |
| अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति ।             |        |
| अग्निं यजाग्नये ...                 | ८१     |
| अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति ।             |        |
| आग्नेय मान्यभागं ...                | ८०     |
| अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । |        |
| ०—० स उपस्तृणीत ...                 | ३२०    |
| अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । |        |
| ०—० स उत्तरस्यौदनस्य ...            | ३१८    |
| अथेडा मेवावद्यति न प्राशित्रम् ...  | ३२०    |
| अथेदं द्वितीयम् । आग्नेय ...        | ५८     |
| अथेदं द्वितीयम् । तुष्णी ...        | ३६     |
| अथेदं द्वितीयम् । सैव स्तीर्णा ...  | ३१८    |
| अथेध्व मभ्यादधदाह । ...             | ३४८    |
| अथैतदेव परोऽक्ष ...                 | ७७     |
| अथैतान्यजमानोऽञ्जलौ ...             | ३८६    |
| अथैतान्येव पञ्च हवीर्ऋषि ...        | २७४    |
| अथैतान्येव पञ्च हवीर्ऋषि ...        | ४०५    |
| अथैताभ्यां पयस्याभ्यां ...          | २८८    |
| अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत ...  | ६७     |



| कण्डिकाप्रतीकम् .                         | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| अथैनं मन्त्रिर्वाक्त्तिनोपयर्थाववर्त्त ६२ |        | अर्कपलाशाभ्याम् । व्रीहिमय ७८       |        |
| अथैनं पशव उपासीदन् ... १६१                |        | अवभृथ निचुम्पुण ... २८५             |        |
| अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः १६०          |        | अष्टाकपालाः सर्वे पुरोडाशा ५७       |        |
| अथैनं मनुष्याः । प्राश्रुता ... १६१       |        | अस्य प्रत्नम् । अनुद्युतः ... १५५   |        |
| अथैनं वाचयति ... २८०                      |        | अहर्वैः देवाः । अगपहत- ... ३४       |        |
| अथैन्द्राग्नी । उभा वा ... १५४            |        | अहोरात्रे ह वा ऽव्यमुष्नि- ... १४२  |        |
| अथैन्द्राग्नी । दादशकपालः ... २७४         |        |                                     |        |
| अथैन्द्राग्नी दादशकपालः ... ३३५           |        | आमेय मेव पञ्चकपालं ... ७६           |        |
| अथ न्नी । इन्द्रो वै यज्ञस्य ... १६२      |        | आमेयोऽयं यज्ञः । ज्योति- ... ७७     |        |
| अथैन्द्रां मरुत्वतीं जपति ... २७६         |        | आत्मेव जातम् । अद्वा हि ... १११     |        |
| अथोदपात्र मादाय०—०                        |        | आत्मेव भूतम् । अद्वा हि ... १११     |        |
| तदथाऽऽशिष्यते ... १६४                     |        | आत्मेवागतम् । अद्वा हि ... १११      |        |
| अथोदपात्रमादाय । पुनः ... ३५५             |        | आत्मेवादा । अद्वा हि ... १११        |        |
| अथोदपात्र मादाय०—०                        |        | आदित्यस्त्वैव सर्वऽऋतवः ... ७८      |        |
| तदथा जक्षुषेऽभिषिञ्चिदेवं १६५             |        | आसाद्य हवींश्च्यमिं मन्यति २७७      |        |
| अथोपपल्यय जपति ... १६५                    |        | आसाद्य हवींश्च्यमिं मन्यन्ति २२५    |        |
| अथोल्लिखति ... १                          |        |                                     |        |
| अथोषान्सम्भरति ... २                      |        | इन्द्रो ह वा ऽईचाश्वक्रे ... १६     |        |
| अधिश्रित्यैव जुहुयात् ... १०८             |        | इन्धानास्त्वा । शतः हिमा ... १५७    |        |
| अनेनैव जुहुयात् । सजुर्देवेन ११४          |        |                                     |        |
| अन्तरिणागाद् अद्भुतदिति ... ६७            |        | उच्चैरुत्तम मनुयाजं ... ८०          |        |
| अभ्रयो ह वा ऽयता अन्नादस्य १३२            |        | उत्तरतो वा ऽव्यभिष्टोत्रस्य ... १४३ |        |
| अयं वै यज्ञो योऽयं पवते ... ३७            |        | उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं ... ५३  |        |
| अयं ते योनि ऋत्विजः ... १५५               |        | उपवसथ ऽयवेन माहरेयुः ... १३०        |        |
| अय मिह प्रथमः । धायि ... १५५              |        | उभयत्र पयस्यै भवतः ... २७४          |        |
| अर्कपलाशाभ्याम् । यवमय ... ७६             |        | एकं हे व्रीहि । चत्वारिती १३        |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                      | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|----------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| एता ह वै देवता योऽस्ति ...             | १२८    | तं यत्र प्राञ्चः हरन्ति ...         | ३७     |
| एता ह वै प्राञ्चो दिशो ...             | १३     | तं वै तथैव हरियुः ...               | ३७     |
| एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टा ...        | ३३६    | तं वै दर्भैः कहरति ...              | ७८     |
| एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टोभयी ...     | २१७    | तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः ... | २१६    |
| एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञेनेष्टा ...    | २५६    | तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात् ...    | २५३    |
| एतेन ह स्म वा ऽऋषयः ...                | १५७    | तः अपयति । तस्मिन्मधिश्रित ...      | १६२    |
| एतेषा मेकः संवत्सर सुपेत्यैत ...       | १३२    | त ऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः ...         | २१६    |
| एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव ...        |        | त ऽउ ह्येत ऊचुः । वयं वै ...        | ६५     |
| ०-० स्यात् । ...                       | ३७     | तत एतत त्वष्टा पुनराधेयं ...        | ७६     |
| एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव ...        |        | ततो देवाः । तनीयारस इव ...          | ६६     |
| स्यात्तस्माद् तथैव हरियुः ...          | ३८     | ततो देवा एते वचं ददधुः । ...        | ३६     |
| रेन्नीभ्या माहवनीय सुपतिष्ठन्ति ३५४    |        | तत्र अपतिः । अत्र पितरो ...         | १६५    |
| जताशुकर एव प्रतिप्रस्थाता ...          | २८१    | तत्रापि मेघं च मेघो च ...           | २७६    |
| कृत्तिकास्वामी आदधीत ...               | १३     | तथो एवैष एतत् ...                   | ४      |
| केवलवर्हिः प्रथमः हविर्भवति ५६         |        | तदवज्योतयति । षट् ...               | १०८    |
| क्षन् वा ऽइन्द्राग्नी । विशो ...       | २१६    | तदाहुः । अयावेवैतत् ...             | ११३    |
| मन्त्रि वा ऽएतत्पञ्च । यदेतं तन्वते ६३ |        | तदाहुः । एता मेवाहुतिः ...          | ५४     |
| चतुर्विंशतिं दद्यात् ...               | ६४     | तदाहुः । दिरुपभृति गृह्णीयाद् ३४७   |        |
| चित्राया मनी आदधीत ...                 | १६     | तदाहुः । न सर्पराज्ञा ऋग्भि- ४०     |        |
| चित्रावसो स्वस्ति तं ...               | १५७    | तदाहुः । नैवैकश्चन ...              | ४      |
| हाययेव वा अयं पुरुषः ...               | ७८     | तदाहुः । पर्याभूहा अथ ...           | २१७    |
|                                        |        | तदाहुः । यमर्चा न माम्ना ...        | ३५     |
|                                        |        | तदाहुः । षष्ठेऽर्चवः ...            | ४      |
|                                        |        | तदाहुः । स मेवान्ये ...             | १०८    |
|                                        |        | तद् खलु तनूपा अभिऽसि ...            | १५६    |
|                                        |        | तद्वापि कुमार्यः परीयुः ...         | ३८८    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| तदु ह्याप्यरुण मौपवेशिं ...        | ६८     | तद्ये सोमेनेजानाः । ते पितरः ३४४ |        |
| तदु ह्येतदेवारुणये ...             | ११२    | तदमनो ग्रीष्मो वर्षाः ...        | ३४३    |
| तदु ह्योवाच कक्षोडः ...            | २१४    | तदस्थिव प्रजननस्थिव ...          | ११२    |
| तदु ह्योवाच जीवलश्चैलकिः ...       | ११३    | तदा एतत् । एव विचि- ...          | ६४     |
| तदु ह्योवाच भालवेयः ...            | ३३     | तदा एतत् । मासि-मास्थिव ...      | १६२    |
| तदु ह्योवाच याज्ञवल्काः ...        | ११०    | तदा एतदेवैतासां नाम ...          | ६६     |
| तदु ह्योवाच याज्ञवल्काः ...        | २१४    | तदा एतां रात्रिम् ...            | २३४    |
| तदु ह्योवाचासुरिः । आश्रा- ...     | ३४६    | तदा एन मेतदग्ने देवाना ...       | ६२     |
| तदु ह्योवाचासुरिः । किं नु ...     | ४०८    | तदा एष एव गृह्युः ...            | १४०    |
| तदेतत् समाहार्यं ...               | १५६    | तदा एष एवेन्द्रः । यदा ...       | १२८    |
| तदु ह्यधिश्रयति । श्रुत ...        | १०८    | तदेतदेव सदिपर्यस्त मिव ...       | ५५     |
| तदु इय मेवैते आहुती ...            | १११    | तदेव दधीत । अग्निवां- ...        | १४     |
| तद्वैके । एत मेव ह्योचि मन्य ...   | ३५२    | तदेव दधीत । न वा ...             | १५     |
| तद्वैकेऽज सुपवध्नन्ति ...          | ३२     | तदे देवाः शुश्रुयुः ...          | २१५    |
| तद्वैकेऽनुदिते मयित्वा ...         | ३४     | तदे इ वेदी दावमी ...             | २७३    |
| तद्वैके । रात्रीरापिपयिषन्ति ...   | ४०७    | तदे पञ्चैव भक्षयन्ति । होता १३५  |        |
| तद्वैके । हविरुच्छिष्ट मनु ...     | ३५७    | तदे पय एवान्नम् । एतद् ...       | २५१    |
| तद्वोचुः । हन्तामां प्रतिष्ठां ... | ३      | तन्न साम्युदासयेत् । मामि ...    | १०४    |
| तद्यत् किञ्च वाचा ...              | २८१    | तन्त्वेवानवकृप्तं यो मनुष्ये ... | १२     |
| तद्यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो ...      | १३०    | तन्मध्यं मित्रं समादधाति ...     | ३४५    |
| तद्यत्रैन मदी मन्यति ...           | ६७     | त मन्थस्य पद आधत्ते ...          | ३८     |
| तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् ...       | ६५     | त माजगाम । सुप्ता साङ्गयो २२६    |        |
| तद्यथा शुङ्गुभिश्चर्म ...          | ४      | त मुदीप्य समित्ये । इह ...       | ६७     |
| तद्यदाहुः । साकमेधैर्वै ...        | ४२०    | तयोरुभयोरेव करीरागया- ...        | २६५    |
| तद्यदाययं भवति । अयं ...           | ४०६    | तयोरुभयोरेव शमीपलाशा- २७५        |        |
| तद्यन्मेषश्च मेषो च भवतः ...       | २७६    | तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिः ५४    |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                       | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठ |
|-----------------------------------------|-------|-------------------------------------|-------|
| तस्मादेतद्विषयाभ्यनूक्तम् ... १४०       |       | तात्सार्धं पात्राऽसमुदास्य ... ३८६  |       |
| तस्मादेतद्विषयाभ्यनूक्तम् ... २५१       |       | ता सु हामिरभिदध्यौ ... ६६           |       |
| तस्मै कं पुनराधेय मादधीत ... ७६         |       | ता वरुणो जयाह । ता वरुण २७२         |       |
| तस्मै क मग्नी ऽउपतिष्ठेत् ... १५२       |       | ता वा ऽएताः । षड् विभक्तिः ... ८२   |       |
| तस्य परिचक्षा । यस्यै वै ... २१६        |       | ताविन्द्राग्नी ऽउदजयताम् ... २१५    |       |
| तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ... २१८        |       | ता वै षड् दद्यात् । षड् वा ऽऋतवः ६४ |       |
| तस्य वा ऽएतस्यान्याधेयस्य ... ६८        |       | तासां मुतासां मन्त्रोऽस्ति ... ३८८  |       |
| तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा ... ३३         |       | तेनोपाऽशु चरन्ति । तिर इव ३४८       |       |
| तस्य हिरण्यं दक्षिणा ... ८२             |       | तेनोपाऽशु चरन्ति । यदे ... ७६       |       |
| तस्यां मिथुन मास्ते । योषा- २५४         |       | तेनो ह तत ईजे । दक्षः पार्वति २३०   |       |
| तस्यावृत् । उपकिरन्त्युत्तर- ... ३३४    |       | तेनो ह तत ईजे । देवभागः २३०         |       |
| तस्यावृत् । नोपकिरन्त्युत्तर- ... ४०५   |       | तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः ... २२६  |       |
| तस्यावृत् । सैव स्त्रीर्णा वेदि ... ३१७ |       | ते वा अक्ताः स्युः । अक्तः ... ३८६  |       |
| तस्याश्च श्वे तो दक्षिणा ... ४०७        |       | ते वा ऽएत ऽऋतवः । उभय ... २९        |       |
| तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव ... ५८    |       | ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवा ... २७       |       |
| तस्यै विराजौ संयाज्ये स्याता ५७         |       | ते वा ऽएते प्राणा एव ... ६८         |       |
| तां वाचयति । प्रचासिनो ... २७७          |       | ते वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो ... ३५५ |       |
| तां वै पूर्णां जुहोति ... ५३            |       | ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य ३८५  |       |
| ता ऽउभावेव सादधित्वा ... २८४            |       | तेषां सुपस्थानम् । यदेव सायं १२६    |       |
| ता एतेन हविषा प्रजापति- ... २७३         |       | ते सर्वऽएव प्राचीनावीतिनो ३४६       |       |
| तानि दक्षिणोपस्तृणाति ... १६४           |       | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो           |       |
| तानि वै प्रतिपुरुषम् ... २७८            |       | भूत्वा । अनुयाजाभ्यां ... ३५६       |       |
| तानु हामिर्निचकमे ... १५१               |       | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो           |       |
| तान्द्रयोर्मृतकयोरुपनह्य ... ३८६        |       | भूत्वा । इत्याद् ... ३४७            |       |
| तान्यु हामिर्निचकमे ... ७६              |       | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो           |       |
| तान्वा ऽएतान् । पञ्च ... ४              |       | भूत्वा । उदक्ष ... ३५३              |       |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः ...  | ६५     |
| ते ह देवा ऊचुः ... ..               | १७     |
| ते ह देवाः समेत्योचुः ... ..        | १६     |
| ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं ... | ६७     |
| ते होचुः । अथैनं वयं न्येव ...      | ६६     |
| ते होचुः । आ वै वय मग्नी ...        | ६६     |
| ते होचुः । उभयेषु वै नोऽय मग्नी     | ६६     |
| ते होचुः । कस्य न इदं ...           | २१५    |
| ते होचुः । केन राज्ञा ...           | ४३०    |
| ते होचुः । केनैव राज्ञा             |        |
| ०—० स ह वरुण ...                    | ४२०    |
| ते होचुः । केनैव राज्ञा             |        |
| ०—० स हेन्द्र ... ..                | ४२१    |
| ते होचुः । को न इदं ...             | ११४    |
| ते होचुः । भद्रं वा इदं ...         | ६५     |
| ते होचुः । हन्ते इ मन्त मन्तरा      | ६६     |
| ते होचुः । हन्ते इं जुहवामहा        | ६६     |
| त्रीणि समिष्टयजूंषि जुहोति          | २५६    |
| त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति          | २८५    |
| देवान् ह वा ऽअग्नी ऽआघ्रास्य ...    | ३६     |
| देवाश्च वा ऽअसुराश्च ...            | ६५     |
| इयं वा इदं जीवनम् ...               | १०७    |
| इया वै देवा ०—० सद्यथा ...          | २१८    |
| इया वै देवा ०—० स्तिषां ...         | ६५     |
| द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासा     | ६४     |

| कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|
| द्वादश वा त्रयोदश वा चराणि      | ८२     |
| नव प्रयार्चं भवति । नवानुयार्चं | २५५    |
| नवावसिते वै न माहरेयु ...       | १३०    |
| नागा ह वा ऽएतान्यग्रे ...       | १७     |
| नैव देवा अतिक्रामन्ति ...       | १६१    |
| नौर्ह वा ऽएषा स्वर्ग्या ...     | १४३    |
| परिवृते चरन्ति । तिर-इव ...     | ३४८    |
| पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन ...      | ३८७    |
| पाशावेव प्रतिप्रस्थाता ... ..   | २८१    |
| पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ...  | २७८    |
| पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो ...    | २७८    |
| पूर्वेणाहवनीयं परीत्य ... ..    | १४२    |
| प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्    | १६०    |
| प्रजापतिर्वा अग्निः ... ..      | १४४    |
| प्रजापतिर्ह वा ०—० स प्रजा      | २५०    |
| प्रजापतिर्ह वा ०—० सोऽग्नि- ... | ६२     |
| प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे ...   | २२८    |
| प्रजापतिर्वा ऽएष भूत्वा ...     | १५३    |
| प्रति परासीयोदेति ... ..        | २८०    |
| प्राजापत्याः पस्पृधिरे ... ..   | ६५     |
| प्रोक्षणीरध्वर्यरादत्ते । स इध  | ३४६    |
| फलानीष्वग्नी ऽआदधीत ...         | १५     |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                      | पृष्ठे |
|----------------------------------------|--------|
| ब्रह्मैव वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो ... | २८     |
| भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मान           | ३५     |
| भूरिति वै प्रजापतिः । इमा ...          | ३५     |
| भूरिति वै प्रजापतिः । ब्रह्मा- ...     | ३५     |
| मनो ह वै देवा मनुष्यस्या-              | १८२    |
| महद् तस्यौ भवनेष्वनरिति ...            | २५१    |
| महाहविषा ०—० तां तथो ...               | ३३४    |
| महाहविषा ०—० ता ०—० इषव ३८५            |        |
| महाहविषा ०—० ता ०—० घ्नन् ३४३          |        |
| महि त्रीणा मेवोऽस्त ...                | १६१    |
| मिथुनादिहा ऽएन मेतत् ...               | २३४    |
| ऋगशीर्षोऽग्नी ऽआदधीत ...               | १४     |
| मो घु णः । इन्द्रात्र ...              | २७८    |
| यजमानदेव्यो वै गार्हपत्यः ...          | १२६    |
| यत्र वै प्रजापतिः प्रजा ...            | १३६    |
| यथा वा ऽइषोरनीकम् ...                  | १४२    |
| यदहरस्य श्वोऽग्राधेयः ...              | ३१     |
| यद्वा वा ऽअत्रामिहोत्रं जुह्वत् ।      |        |
| ०—० प्रजायै वा ॥ ...                   | १५६    |
| यद्वा वा ऽअत्रामिहोत्रं जुह्वत् ।      |        |
| ०—० प्रजायै वा तन्मे ...               | १५६    |
| यद्वा ऽअदो दीर्घं ममुपस्थानम्          | १८०    |
| यद्वा ऽआहवनीय सुपतिष्ठते ।             |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|
| दिवं तदुपतिष्ठते ...              | १६१    |
| यद्वा ऽआहवनीय सुपतिष्ठते ।        |        |
| पशूस्तद् ...                      | १६०    |
| यां वै प्रजापतिः । प्रथमा ...     | ५२     |
| या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः ... | ११०    |
| योषा वा ऽआपः ...                  | २      |
| राजन्त मध्वराणाम् ...             | १५६    |
| रेवती रमध्व मिति रेवन्तो ...      | १५६    |
| रोहिण्या मग्नी ऽआदधीत ...         | १४     |
| रोहिण्या सु ह वै पशवः ...         | १४     |
| वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः ...     | ३१५    |
| वरुणो ह्येन्द्रान्यकाम ...        | ७५     |
| वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ...        | २७     |
| वारुण्यत्तरा भवति । वरुणो         | २७५    |
| वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजा   | २७२    |
| स आश्रायाह । समिधो ...            | ८०     |
| स आह । उपप्रयन्तो ऽअध्वर १५४      |        |
| स आहवनीय सुपतिष्ठते ...           | २८१    |
| स आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते ।       |        |
| ०—० तुष्णी मेवाहवनीयं             | १८२    |
| स आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते ।       |        |
| ०—० गृहा वै गार्हपत्यो            | १८१    |
| स उत्तरस्या मेव पथस्यायां         | २७६    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| स उत्तरस्या मेव वेदौ ... २७३        |        |
| स उङ्गृत्यागौ हे ऽआहुती ... १६३     |        |
| स उपस्तृणीत ऽआव्यम्—०               |        |
| पितृन्सोम ... ३५०                   |        |
| त उपस्तृणीत ऽआव्यम् ०—०             |        |
| ऽआथाह्वापि ... ३५१                  |        |
| स एता मैत्रीं मरुत्वती ... २७६      |        |
| स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु ... ५५ |        |
| स एतेनान्नेन शान्तः ... ५३          |        |
| स एव यज्ञो हतो न ददत्ते ... ६४      |        |
| स ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं ६२      |        |
| स ऐक्षत प्रजापतिः । पुरा मे २५१     |        |
| स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा ... २५०     |        |
| स गार्हपत्यं सुपतिष्ठते ... १८०     |        |
| स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-       |        |
| ०—० गृह्णाति ... १६२                |        |
| स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-       |        |
| ०—० षट्कपालं ... ३४५                |        |
| स जघनेन गार्हपत्यम् ।               |        |
| यज्ञोपवीती भूत्वो- ... ३८६          |        |
| स जुहोति । अग्नये ... १६३           |        |
| स जुहोति । अग्निर्व्योतिर ... ११२   |        |
| स जुहोति । एष ते रुद्रभागः ३८७      |        |
| स जुहोति । देहि मे ... ३२१          |        |
| स तत एव प्राक्स्तम्भयजुर्हरति ३४५   |        |
| स तत्र जुहु मासादयति ... ३४७        |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                     | पृष्ठे |
|---------------------------------------|--------|
| स दक्षिणैव दृषदुपले ऽउपदधाति ३४५      |        |
| स दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति ३४७       |        |
| स ददाति । असावेतत्त ... १६५           |        |
| स नः पितेव सूनवे ... १५६              |        |
| स निदधाति । ये रूपाणि ... १६४         |        |
| स पितृभ्यः सोमवज्राः ... ३४४          |        |
| स पूर्वद्युः । अग्नये ऽनीकवते ... ३१५ |        |
| सप्त च वै शतान्यग्नीतीना ... १४४      |        |
| सप्त चैव शतानि विश्वतिष्ठ १४४         |        |
| स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी ... २८     |        |
| स यः पुरादित्यस्यास्तमयात् ... १०६    |        |
| स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा २५२       |        |
| स यजति । अग्न ऽआव्यस्य ... ८०         |        |
| स यजति । अग्नेर्वसुवने ... ८२         |        |
| स यन् कनीय इव ... १३२                 |        |
| स यस्तुष्णीं सुपस्पृशति । तदस्यां ३६  |        |
| स यत् प्राङुपोदैति ... १४३            |        |
| स यत्र म्रियते । यत्रैन               |        |
| ०—० ऽथास्य शरीरं ... ६४               |        |
| स यत्र म्रियते । यत्रैन               |        |
| ०—० स यथा हेवेष ... १४७               |        |
| स यत्रैव साकमेधेर्यजते ... ४०७        |        |
| स यत्रोदङ्ङावर्त्तते । तर्ह्यग्नी २७  |        |
| स यत्रोदङ्ङावर्त्तते । देवेषु ... २७  |        |
| स यत्साय मस्तमिते जुहोति ।            |        |
| अपावैवेभ्य एतन्प्रविष्टिभ्यो १०७      |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|
| स यत्साय मस्तमिति जुहोति ।          |       |
| अस्य रसस्य जीवनस्य ... १०७          |       |
| स यत्साय मस्तमिति जुहोति ।          |       |
| गर्भं मेवैत् ... १०५                |       |
| स यत्साय मस्तमिति जुहोति ।          |       |
| य इदं तस्मिन्निह ... १०५            |       |
| स यत्साय मस्तमिति दे ... १४१        |       |
| स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् ... १४२      |       |
| स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत ... १०६  |       |
| स यदग्नये पवमानाय निर्वपति ।        |       |
| प्राणा वै ... ५५                    |       |
| स यदग्नये पवमानाय निर्वपति ।        |       |
| यदेवाग्नये ... ५५                   |       |
| स यदग्नौ ऽआधत्ते ... १४०            |       |
| स यदग्नौ जुहोति । तद्देवेषु ... ११० |       |
| स यददित्यै चरुं निर्वपति ... ५७     |       |
| स यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः ... ३३४      |       |
| स यदा ऽइतश्चेतश्च ... १             |       |
| स यद्देश्यदेवेन यजते ।              |       |
| अग्निर्नैवैतद्रात्राग्नि ... ४२१    |       |
| स यद्देश्यदेवेन यजते ।              |       |
| अग्निरेव तर्हि ... ४२२              |       |
| स यन्नातिक्रामति । इत ... ३५१       |       |
| स येमा मवान्तरदिश मनु ... ६५३       |       |
| स यस्मिन् हर्त्तावसुं ... ४२२       |       |
| स यस्य कामयते ... १४१               |       |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठ |
|------------------------------------|-------|
| सर्व आग्नेयो भवति ... ७६           |       |
| सर्वतोमुखोऽय मग्निः ... ४०८        |       |
| स वा ऽअग्नये च सोमाय ... १६३       |       |
| स वा ऽअग्नये पवमानाय ... ५४        |       |
| स वा ऽअपराङ्मे ददाति ... १६२       |       |
| स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः ... २५२    |       |
| स वा ऽउपवत्या प्रतिपद्यते ... १५३  |       |
| स वै कनीय इव पूर्वा- ... १३२       |       |
| स वै खलु तूष्णी मेवोपतिष्ठते १८२   |       |
| स वै तुष्णी मेवाग्न ऽउपसृ श्रति ३६ |       |
| स वै त्रिः प्रथमां जपति ... १५६    |       |
| स वै दक्षो नाम ... २२८             |       |
| स वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति ... २७६   |       |
| स वै द्दिश्ये जुहोति ... १०६       |       |
| स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति २३५   |       |
| स वै पूर्ववाट् स्यात् ... ३६       |       |
| स वै भूर्भुव इति । एतावतैव ३५      |       |
| स वै वर्षास्वादधीत ... ७७          |       |
| सथे पाणावध्वर्युः ... २८२          |       |
| स सर्वाण्येव हवीरध्वर्युः ... २७६  |       |
| स हुत्वा न्यष्टु । ततो ... ६४      |       |
| स हुत्वा प्रजापतिः ... ६३          |       |
| स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्ठा ६६    |       |
| स होवाच । न वाऽअह मिदं १३६         |       |
| स होवाच । हन्ताह मिमा १६           |       |
| साम्नायभाजना वा ऽअमावास्या २३४     |       |



| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| सा या पूर्वाहुतिः । ते देवा ... १३२ |        | सूर्यो ह वा ऽअग्निहोतम् ... १०५     |        |
| सा या पूर्वाहुतिः । साग्नि- ... १११ |        | सैषैकाहुतिरेवाग्ने ... ११०          |        |
| सा या पूर्वाहुतिः । सात्मान ११२     |        | सो ऽन्वाह उग्रन्तस्त्वा निधीमहि ३४८ |        |
| सा हैनं नाभिराधयाञ्चकार ६३          |        | सो ऽर्चञ्चाम्यन् प्रजापति- ... २५०  |        |
| सा हैनं मभिराधयाञ्चकार ६३           |        | हस्तेऽग्नी ऽव्यादधीत ... १६         |        |

## ॥ अथ विषयसूची ॥

( १ प्र० १ ब्रा० )

अथाग्न्याधानम् । ततोदकहिरण्योषाखुकरीषशक्करारूपाणां पञ्चसम्भाराणां विधानम् । तेषां सम्भाराणां निवपनोत्सेखनाभ्युक्षण-संस्काराणां विधानम् । सम्भारविचारौ चेति ॥

( १ प्र० २ ब्रा० )

आग्न्याधानकालनिर्णयाय प्रथमं नक्षत्रविधानम् । तत्र कृत्तिकाया माधानप्रतिपादनम् , रोहिण्या माधानपक्षोत्सेखः , मृगशीर्षाधानपक्षोत्सेखश्च । ततः पुनर्वसुः पुनराधानविषयता-कथनम् , फलान्योश्चाधानस्वीकारः , लाभकामस्य हस्तेऽग्न्याधान-विधानम् , क्षत्रियजातेश्चित्राया मग्न्याधानविधिः, ततो नक्षत्रनाम-निर्वचनञ्चेति ॥

( १ प्र० ३ ब्रा० )

ततस्तत्रैव ऋतुविधानम् । ऋतूनाञ्च देवपित्रात्मना द्विविध-  
त्वाख्यानम् । ततस्तत्रैवायनविधानम् । उदगयनदक्षिणाय-  
नयोः स्वरूपकथनं देवपितृसम्बन्धाख्यानञ्च । ततो ब्राह्मणादि-  
वर्णानुसारेणर्तुव्यवस्था । ततः काम्यपक्षे,— ब्रह्मवर्चसकामस्य  
वसन्तर्तौ, श्रीकामस्य ग्रीष्मर्तौ, प्रजापशुकामस्य वर्षर्तौ अग्न्या-  
धानव्यवस्था । ततः सर्वेषां मेवर्तूनां माधानयोग्यकालत्वात् श्वर्जी-  
वनस्य निश्चयताभावात् कालप्रतीक्षणं मकर्तृव्यं मित्युपदेशश्चेति ॥

( १ प्र० ४ ब्रा० )

अग्न्याधानप्रयोगः । तत्र प्रथमं मुपवसयदिवसकर्तृव्यताया  
उपदेशः, ब्रह्मोदनपाकविधिः, तद्रात्रौ यजमानस्य जागरण-  
विधिः, रात्रावग्निमन्यननिषेधः सूर्योदये तद्विधिश्च, व्याहृ-  
तीनां मृग्यजुस्सामातिरिक्तत्वेन वर्णनम्, वर्णत्रयोत्पत्त्यादिहेतु-  
त्वेनाधानस्य प्रशंसा, अग्निमन्यनसमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारण-  
विधिः, अग्नेर्हरणप्रकारोपदेशः, आहृतस्याग्नेराधानम्, आहि-  
तस्याग्नेः पूर्वभागस्थं मुल्लुकं मन्वारभ्य मन्त्रजपविधिः, तस्याग्नेः  
सार्पराक्षीभिरुपस्थानविधिश्चेति ॥

( १ प्र० ५ ब्रा० )

तत्र पूर्णाहुतिविधानम् । ततोऽग्न्याधेयाङ्गपवमानेष्टिनामा-  
ग्नेयेष्टिविधानम् । तत्र पवमानपावकशुच्याख्याग्निदेवतात्रयाख्या-  
नम्, चतुःपुरोडाश-याज्या-पुरोनुवाक्या-संयाज्या-दक्षिणानां विधा-  
नम्, ततः पवमानाख्यादिशुन्याग्नेयेष्टिविधानञ्चेति ॥

( १ प्र० ६ ब्रा० )

अग्न्याधानदक्षिणाविधिः । तत्र षड्द्वादशादिविकल्पाख्यानम् ,  
दक्षिणानामनिर्वचनम् , अनूचानानां देवत्वकथनम् , दक्षिणादानेन  
तेषां प्रीत्युत्पादनविधिः , अदक्षिणस्य यज्ञस्य व्यर्थताख्यानम् ,  
अग्न्याधानस्य फलकथनार्थाख्यायिकाम्नानम् , अग्न्याधानस्थान-  
विचारः , आहिताग्नेः सत्यवादितादिव्रतनिरूपणञ्चेति ॥

( २ प्र० १ ब्रा० )

अथ पुनराधेयविधानार्थाख्यानम् । तत्र पुनराधेयस्य विधि-  
प्रशंसे । ततः पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषविधिः ,  
आदित्यस्य सर्वर्तृरूपत्वाभिधानम् , मध्यन्दिनाधानप्रशंसा ,  
पुनराधिक्षितस्याग्नेर्दमैरेवोद्धरणविधिः , व्रीहियवमययोरपूपयो-  
रर्कपत्रद्वयसङ्गृहीतयोर्गार्हपत्याहवनीयायतनयोर्निधानविधिः , तत्र  
पञ्चकपालेष्टिविधानम् , प्रयाजानुयाजयाज्यादीनां विधिः , पुन-  
राधेयस्य दक्षिणानिर्देशञ्चेति ॥

( २ प्र० २ ब्रा० )

अथानिहोत्रविधानार्थाख्यानम् । तत्र सर्वादिसृष्टिवर्णनम् ।  
अग्निहोत्रानग्निहोत्रिणोः प्रेतात्मनोर्गतिपार्थक्यसूचनम् । अग्नि-  
होत्रहवण्याः सुचोः वैकङ्कतत्वाख्यानम् , अग्निहोत्रहोमद्रव्यस्य  
पयसः उत्पत्त्यादिकथनम् , अग्निवायुसूर्याणां , अग्निहोत्रदेव-  
तानां पौवापर्यनिरूपणञ्चेति ॥

( २ प्र० ३ ब्रा० )

अग्निहोत्रहोमकालविधिः । तत्र सायम्प्रातर्होमयोः काल-  
विशेषविधिविचारौ । अग्निहोत्रस्य ज्योतिष्टोमादित औत्कर्ष-  
निर्णयः । ततः पयसोऽग्निहोत्रहोमसाधनत्वं विधाय तत्पयसो-  
ऽन्नावधिश्रयणपूर्वकश्रयणप्रकारोपदेशः , ततोऽनुपसादनोपसादनयो-  
र्विधिप्रशंसे , होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां प्रशंसादिकम् । ततो-  
ऽग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतपाकयज्ञत्वोपन्यासः , अग्निहोत्री-  
याहुतिद्वयविधानार्थाख्यायिकादिकथनम् , तयोश्च सायम्प्रातर्हो-  
मयोर्मन्त्रद्वयान्नानादिकम् , होमश्रयणोपदेशश्च । ततो हुतशिष्टस्य  
स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणपेयत्वविधानादिकञ्चेति ॥

( २ प्र० ४ ब्रा० )

अग्न्युपस्थानविधानम् । तत्र यजमाने इन्द्रयमनङ्गनैषिधेतिपञ्च-  
देवतानां स्थितिस्वीकारः , तद्विशेषवर्णनम् , पञ्चानां मग्नीनां देवत्व-  
प्रतिपादनञ्च । तत आहवनीयाग्न्युपस्थानप्रकारः , गार्हपत्योप-  
स्थानप्रकारः , अन्वाहार्यपचनोपस्थानप्रकारः , सभ्याग्न्युपस्थान-  
प्रकारः , आवसथ्याग्न्युपस्थानप्रकारश्च । ततोऽग्नेरवस्थाभेदतो  
रुद्रादिनामभेदाद्युपदेशञ्चेति ॥

( ३ प्र० १ ब्रा० )

तत्र गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानविधिः । तत्रादावग्नि-  
स्वभावादिनिर्देशः । प्रसङ्गतस्तत्राग्नावग्निहोत्रयाजिशरीरप्रक्षेप-  
कथादि , अग्न्यग्निहोत्रिणोः पितापुत्रसम्बन्धनिर्देशश्च । ततोऽग्नि-

होत्रयाजिनोऽमृतत्वावाप्तिफलकथनम् , मृत्योरतिमोक्षलाभप्रकार-  
प्रतिपादनम् , अग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वपि अतिमुक्तिः सिध्य-  
तीति प्रदर्शनम् , अहोरात्राभ्या मपि मृत्योरतिमुक्तिर्यज-  
मानेन ज्ञातव्येत्युपदेशश्च । ततो होमार्थं मन्तरागमनविधिः ।  
ततोऽग्निहोत्रस्य नौरूपतया , चित्वाग्नि सम्पत्त्या , महदुक्त्य-  
सम्पत्त्या च स्तुतिश्चेति ॥

( ३ प्र० ९ ब्रा० )

ततः सायङ्कालीनाग्न्युपस्थानविधानार्थाख्यानम् । तत्र विचारः ।  
तत आहवनीयोपस्थानविधिः , तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने,  
‘चित्वावसो’-इति मन्त्रस्यात्र त्रिर्जपविधिः , तत्रोत्थानासीन-  
भावविधिश्च । ततोऽग्न्युपस्थानाभिप्रायकथनम् । अतःपर मग्नि-  
होमद्रव्यस्य पयसः सम्पादनप्रकारादिकम् । ततो गार्हपत्यो-  
पस्थानविधिः , तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने च । ततः  
समन्त्रकगोस्यर्शनं विधिः , दर्शपूर्णमासयोरिवाग्निहोत्रेऽपि पुत्र-  
नामग्रहणविधिश्चेति ॥

( ३ प्र० ३ ब्रा० )

तत्रैव क्षुल्लकोपस्थानविधानम् । प्रवासं करिष्यत उपस्थान-  
मन्त्रस्य विधिव्याख्याने , प्रवक्ष्यत उपस्थानमन्त्रस्य विधि-  
व्याख्याने , गच्छतोऽग्निहोत्रिणः पथि वाचंयमविधिः , प्रत्यागमन-  
कालेऽपि वाचंयमविधिः , प्रत्यागतस्योपस्थानवैपरीत्यविधिः ,  
प्रत्यागतस्य समन्त्रकाहवनीयोपस्थानविधिः , तथैव गार्हपत्यो-  
पस्थानविधिश्च । ततोऽमन्त्रकोपस्थानपक्षप्रतिपादनम् । ततः  
प्रवासादागतस्याग्निहोत्रिणोऽग्निविषयकर्त्तव्योपदेशादिकम् , गृहाणा  
मुपचारश्चेति ॥

( ३ प्र० ४ ब्रा० )

अथ मासिमास्यमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञविधानार्थाख्यानम् । ततः पितृणां मर्चनप्रकारोपदेशः , देवानां मर्चनप्रकारोपदेशः , मनुष्याणां मर्चनप्रकारोपदेशश्च । ततो गवादिपशूनां मसुराणाञ्च प्रजापत्युपसदनादिकथनम् , देवानां प्रजापत्याज्ञानुल्लङ्घनकारित्वाख्यानम् , मनुष्याणां प्रजापत्याज्ञोल्लङ्घनकारित्वेन रोगशोकपापनिलयभोगित्वाख्यानञ्च । ततो मनुष्याणां सायम्प्रातराशित्वाद्युपदेशश्च । ततः पितृयज्ञार्थं कालनिर्णयः , स्थाननिर्णयः , द्रव्यनिर्णयः , मन्त्रनिर्णयश्च । तत्रैव पिण्डदानार्थाग्निनिधानस्य , अग्नेर्जनस्य , बर्हिःस्तरणस्य , मन्त्रस्य च विधानम् । पिण्डदानानन्तरञ्च मन्त्रजपस्य , परागावर्त्तनस्य , उदकावनेजनस्य , नमस्कारस्य , तन्मन्त्रस्य च विधानम् । ततः पितृप्रार्थनस्य , पिण्डशेषाग्राणस्य च विधानादिकञ्चेति ॥

( ३ प्र० ५ ब्रा० )

अथाग्रयणेष्टिविधानम् । तत्र ऐन्द्राग्न-वैश्वदेव-द्यावापृथिव्य-हविषां विधानम् । तत्रानाश्रितदोषविचारः । दक्षिणाविधानम् । ईजानानीजानभेदेनाग्रयणव्यवस्था । ब्राह्मणभोजनविधिः , तद्दक्षिणाविधिश्चेति ॥

( ४ प्र० १ ब्रा० )

अथ दाक्षायणेष्टिविधानम् । तत्राख्यायिका । तद्यज्ञस्य नामनिरुक्तिः , फलकथनम् , विशिष्टफलान्तरहेतुताप्रतिपादनाय आख्यायिकया परकृतित्रयोपन्यासश्च । ततो दाक्षायणयज्ञप्रयोग-

विषयकोपदेशः । तत्र पूर्वपौर्णमास्या मनुष्ठेययागविधिः , ततः परेद्युर्नुष्ठेययागद्वयविधिः , अमावास्याप्रयोगेऽप्येवं पूर्वोद्युर्यागैकस्य परेद्युर्यागद्वयस्य च विधानञ्च । ततो दाक्षायण्यज्ञस्य सोमयागरूपताप्रतिपादनादिकम् । ततः पौर्णमास्यां सान्नाय्ययागविध्यादिकम् , अमावास्यायां पयस्यायागविध्यादिकञ्च । वाजिनहोमविधानादि , वाजिनेन दिग्ब्याघारणञ्चेति । ततो यजमानपञ्चमाना मृत्विजां भक्षणविधिः , तन्मन्त्रानुज्ञापनञ्चेति ॥

( ४ प्र० २ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागविधिः । तच्चातुर्मास्ययागीयं वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्व । तस्य वैश्वदेवयागस्य प्रजासृष्टिहेतुत्वाख्यानम् , आख्यायिकोक्तेऽर्थे मन्त्रप्रमाणप्रदर्शनम् , पादशस्तन्मन्त्रतात्पर्याख्यानञ्च । ततो वैश्वदेवयागविधिः ; तत्र पञ्चानां हविषां विधिः , पयस्याप्रशंसादिकम् , पयस्यायागविधानादिकञ्च । ततस्तदीयविशेषाङ्गकर्मणां विधानम् ; तत्र बर्हिषाहरणान्निमन्यनकाल-प्रयाजसङ्ख्या-समिष्टयजुषां प्रकृतियागतो विभिन्नताख्यानम् , वैश्वदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वाख्यानञ्चेति ॥

( ४ प्र० ३ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयं वरुणप्रघासाख्यं द्वितीयं पर्व । तस्य वरुणप्रघासयागस्य वरुणपाशमोचनहेतुत्वाख्यानम् , तत्प्रयोगविध्यादिकञ्च । तत्र उत्तरवेदिनिवपनम् , पूर्वविहितपञ्चहविषाञ्चेह विधानम् , करीराणां मावपनम् , शमीपर्णानां मावपनम् , अन्तिमहविषो विधानञ्च । करभपात्राणां निर्माणविधिः ,

करम्भपात्रनिर्माणावशिष्टाद् यवपिष्टात् मेषमेधीमिथुनस्य निर्माण-  
विधिः, मेषमेधोः प्रयागादिकञ्च । ततोऽग्निमन्थनविधानम् ।  
तस्मिन्नेवान्नौ पत्नीकर्तृककरम्भपात्रहोमस्य विधानाय पत्नी-  
व्यभिचारप्रश्नादिकम्, तद्दोषप्रशमनाय मन्त्रवाचनञ्च । तत्क-  
रम्भपात्रसंस्कारविधानादि, यजमानस्य पत्न्याश्च मन्त्रवाचनादि,  
तदनन्तरं अध्वयुप्रतिप्रस्थातोराश्रावणादिकम्, मेषमेधोर्विपरि-  
हरणम्, अध्वर्योर्वारुण्याः पयस्यायाः प्रचरणम्, प्रतिप्रस्थातु-  
र्मारुण्याः पयस्यायाः प्रचरणे विशेषोपदेशः, सुच्यवदानादिकञ्च ।  
अध्वर्योः प्राशित्रावदानम्, इडोपह्वानादिकञ्च । तत आसेचनम्,  
अतिक्रमणम्, सुगव्यूहनञ्च । ततोऽध्वर्याग्नीध्रयोरुक्तिप्रत्युक्ती ।  
ततः पत्नीसंयाजः, समिष्टयजूषि, अवभृथगमनादिकम्,  
केशश्मश्रुवपनविधिश्चेति ॥

( ४ प्र० ४ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयं साकमेधाख्यं तृतीयं पर्व । तस्य  
साकमेधयागस्य पापोपशमनहेतुत्वाख्यानम्, तत्प्रयोगविध्यादि-  
कञ्च । तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नासायाह्नेषु क्रमादनीकवदिष्टेः  
सान्तपनेष्टेः गृहमेधीयेष्टेः विधानादिकम् । ततः पूर्णदर्वाख्यस्य  
कर्मणो विधानादि । तत ऋषभध्वनौ होमविधानादि, अन्त्येष्टि-  
विधिश्च । ततो महाहविराख्यप्रधानहविषः प्रस्तावश्चेति ॥

( ५ प्र० १ ब्रा० )

तस्य साकमेधीयमहाहविषः प्रयोगविधिः । तत्र क्रमशो-  
ऽष्टानां हविषां विधान मिति ॥



( ५ प्र० १ ब्रा० )

अथ पिण्डपितृयज्ञप्रस्तावः । तच्च प्रथमं पितॄणां सुत्पत्ति-  
कथनम्, पितॄणां वसन्ताद्यृतुरूपत्वाख्यानञ्च । ततः पितृयज्ञ-  
विधिः । तत्र सोमपानां प्रथमहविर्विधानम्, बर्हिषदां  
द्वितीयहविर्विधानम्, अग्निष्वात्सानां तृतीयहविर्विधानञ्च ।  
पितृयज्ञकारिणां दक्षिणामुखत्वादिविधानम्, पितृगाया वेदे-  
निर्माणविधानादि, तदीयसामिधेनीप्रयोगोपदेशः, होतृवरण-  
निषेधादिकञ्च । प्रधानयागानन्तरं स्विष्टकृत्स्थानीयकव्यवाहनयाग-  
विध्यादि । ततः पिण्डदानस्य तदङ्गकर्मणां तन्मन्त्राणाञ्च विधयः,  
हुतोच्छिष्टस्याग्न्यादौ प्रक्षेपादिर्विधिविकल्पश्चेति ॥

( ५ प्र० ३ ब्रा० )

अथ त्र्यम्बकयागविधानार्थाख्यानम् । तत्रादौ त्र्यम्बकनाम-  
निरुक्त्यादि । ततः त्र्यम्बकहविषा मभिघारणादिविधानानि ।  
ततश्चतुष्पथान् प्रत्यागतस्य मन्त्रद्वयजपः, तयोर्व्याख्यानञ्च ।  
ततः परिगमनविध्यादि, तत्तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततो  
मृतकासजनविधिः, तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततः केशश्मश्रु-  
वपनविध्यादिकञ्चेति ॥

( ५ प्र० ४ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयचतुर्थपर्वणः शुनासीर्याख्यस्य विध्यपो-  
क्षातत्वेन चातुर्मास्यानां चतुर्णां मेव यागानां मन्त्रफलहेतुत्व-  
वर्णनादि, विशेषतः शुनासीर्ययागस्य श्रीलाभफलादिवर्ण-

नञ्च । ततः शुनासीर्य्यप्रयोगविधयः । तत्राप्यष्टानां हविषां विध्यादिकम् , यागदक्षिणा च । ततः शुनासीर्य्ययागस्य काल-विचारः परिवर्त्तनविधिश्चेति ॥

( ५ प्र० ५ ब्रा० )

अथ वैश्वदेवादिषु सर्वेष्वेव पर्वसु सेतिकर्त्तव्यताकपरिवर्त्तनविधिः । तत्रादौ चातुर्मास्ययागस्य शत्रुविजयहेतुत्वाख्या-नम् । ततश्चातुर्मास्यानां प्रथमपर्वणो वैश्वदेवयागस्याग्निमुख-त्वाख्यानम् , द्वितीयपर्वणो वरुणप्रघासयागस्य वरुणमुखत्वाख्या-नम् , तृतीयपर्वणः साकमेधस्येन्द्रमुखत्वाख्यानञ्च । ततो लौह-क्षुरेण केशानां छेदनं श्मश्रूणां वपनञ्च । ततश्चातुर्मास्ययाजिनां परमगतिफलान्नानश्चेति ॥

## ॥ अथ कर्मसूची ॥

| कर्म              | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म         | प्र०          | ब्रा० | क० |   |    |
|-------------------|------|-------|----|--------------|---------------|-------|----|---|----|
| अग्निनिधानम्      | ...  | ३     | ४  | १४           | अग्निस्थापनम् | ...   | ५  | २ | ११ |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | १     | ४  | ८            | अग्निहरणम्    | ...   | १  | ४ | १८ |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | ४     | २  | १६           | अग्निहोतम्    | ...   | २  | २ | १  |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | ४     | ३  | १६           | अग्नीतृप्रेषः | ...   | ५  | २ | ४७ |
| अग्निष्वात्तयजनम् | ५    | ३     | ६  | अग्न्याधानम् | ...           | १     | २  | ३ |    |

| कर्म ,                    | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म ,                | प्र० | ब्रा० | क० |
|---------------------------|------|-------|----|-----------------------|------|-------|----|
| अग्नाधानम् ... ..         | ५    | २     | ३२ | आश्रावणम् ... ..      | ५    | २     | २३ |
| अग्नाधानदक्षिणा ... ..    | १    | ५     | २१ | आहवनीयोद्धरणम्        | २    | ३     | ७  |
| अग्नाधानदक्षिणा           | १    | ६     | ३  | आहवनीयोपस्थानम्       | ३    | २     | ३२ |
| अग्न्युपस्थानम् ... ..    | ३    | २     | ३  | आहवनीयोपस्थानम्       | ३    | ३     | ८  |
| अजोपबन्धनम् ... ..        | १    | ४     | ३  | आहवनीयोपस्थानम्       | ५    | २     | ३७ |
| अध्वर्युकर्म ... ..       | ४    | ३     | ३२ |                       |      |       |    |
| अध्वर्युप्रेषः ... ..     | ५    | २     | २४ | इडाप्राशनम् ... ..    | ४    | ४     | १६ |
| अध्वर्याग्नीध्रसंवादः ... | ३    | ३     | ४४ | इडोपह्वानम् ... ..    | ४    | ४     | १५ |
| अनुदिताहुतिः ... ..       | २    | ३     | २  | इधोप्राशनम् ... ..    | ५    | २     | १४ |
| अनुयाजप्रेषः ... ..       | ४    | ३     | ४१ |                       |      |       |    |
| अनुयाजयागः ... ..         | ४    | २     | २० | उत्तरवेदिनिवपनम्      | ४    | ३     | ६  |
| अन्तरागमनम् ... ..        | ३    | १     | १३ | उदकावनेजनम् ... ..    | ३    | ४     | १६ |
| अन्वाहार्यपचनम्           | २    | ४     | ६  | उदकावनेजनम् ... ..    | ३    | ४     | २३ |
| अपूपनिधानम् ... ..        | २    | १     | १२ | उदिताहुतिः ... ..     | २    | ३     | ३६ |
| अभिघारणम् ... ..          | ५    | ३     | ६  | उपसादनम् ... ..       | २    | ३     | १७ |
| अभ्युक्षणम् ... ..        | १    | १     | ३  | उपस्तरणादिहोमः        | ५    | २     | ३१ |
| अवभृथगमनम् ... ..         | ४    | ३     | ४६ | उपस्थानम् ... ..      | १    | ४     | २६ |
| अस्तमिताहुतिः ... ..      | २    | ३     | ६  | उपस्पर्शनम् ... ..    | १    | ४     | २७ |
|                           |      |       |    | उपांशुचरणम् ... ..    | २    | १     | १६ |
| आखूल्करे क्षेपः ... ..    | ५    | ३     | १० | उपांशुप्रचरणम् ... .. | ५    | २     | १६ |
| आग्रयणदक्षिणा ... ..      | ३    | ५     | १३ | उल्मुकनिधानम् ... ..  | ३    | ४     | १५ |
| आग्रयणेष्टिः ... ..       | ३    | ५     | १  | उक्लिखनम् ... ..      | १    | १     | २  |
| आग्नेययागः ... ..         | ४    | २     | ८  |                       |      |       |    |
| आव्यग्रहणम् ... ..        | ५    | २     | १३ | ऋषभाह्वानम् ... ..    | ४    | ४     | १६ |
| आव्यभागप्रचरणम्           | ४    | ३     | ३५ |                       |      |       |    |
| आव्यावहानम् ... ..        | ५    | २     | २६ | करम्भपात्रनिर्माणम्   | ४    | ३     | १४ |

| कर्म .                 | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म .      | प्र०                | ब्रा० | क० |    |    |
|------------------------|------|-------|----|-------------|---------------------|-------|----|----|----|
| करम्भपात्रहोमः         | ...  | ४     | ३  | २४          | ताम्बकयागः          | ...   | ५  | ३  | १  |
| करीरावपनम्             | ...  | ४     | ३  | ११          | ताम्बकहविःप्रणयनम्  | ५     | ३  | ४  |    |
| कथवाहनयागः             | ...  | ५     | २  | ३०          |                     |       |    |    |    |
| कुमारीमन्त्रजपः        | ...  | ५     | ३  | १३          | दर्शयिः             | ...   | ४  | १  | १  |
| कुम्भीनिधानम्          | ...  | ४     | ४  | १६          | दाक्षायणयज्ञः       | ...   | ४  | १  | २  |
| केशप्रश्नवपनम्         | ...  | ४     | ३  | ४८          | दिग्याघारणम्        | ...   | ४  | १  | २४ |
| केशप्रश्नवपनम्         | ...  | ४     | ३  | १६          | दावाष्टयिथयागः      | ...   | ४  | २  | १७ |
|                        |      |       |    |             |                     |       |    |    |    |
| गार्हपत्योपस्थानम्     | ...  | ३     | २  | २८          | निवपनम्             | ...   | १  | १  | २  |
| गार्हपत्योपस्थानम्     | ...  | ३     | ३  | ६           | निवान्यादोहनम्      | ...   | ४  | ४  | १६ |
| गार्हपत्योपस्थानम्     | ...  | ५     | २  | ३६          | नीविसुदुर्बलम्      | ...   | ५  | २  | ४२ |
| गृहमेधीयेष्टिः         | ...  | ४     | ४  | ४           |                     |       |    |    |    |
| गौरुपस्थानम्           | ...  | ३     | २  | ३           | पञ्चत्विजाम्भक्षणम् | ४     | १  | २५ |    |
|                        |      |       |    |             | पत्नीवाचनम्         | ...   | ४  | ३  | २१ |
| चतुःसक्तिवेदिनिर्माणम् | ५    | २     | १० | पत्नीसंयाजः | ...                 | ४     | ३  | ४५ |    |
| चतुरवद्धानम्           | ...  | ४     | ३  | ३६          | पथिहोमः             | ...   | ५  | ३  | ७  |
| चतुरुन्नयनम्           | ...  | २     | ३  | १७          | पयस्याप्रचरणम्      | ...   | ४  | ३  | ३७ |
| चतुष्पथहोमः            | ...  | ५     | ३  | ७           | पयस्यायागः          | ...   | ४  | १  | २० |
| चरुनिर्वपनम्           | ...  | १     | ५  | १८          | पयस्यायागः          | ...   | ४  | २  | १५ |
| चरुश्रपणम्             | ...  | ३     | ४  | १           | पयसोऽधिश्चयणम्      | ...   | २  | ३  | १५ |
| चरुश्रपणम्             | ...  | ४     | ४  | ५           | पयोदोहनम्           | ...   | २  | ३  | १४ |
| चरुहोमः                | ...  | ३     | ४  | ११          | पयोदोहनम्           | ...   | ४  | ४  | १६ |
| चरुदासनम्              | ...  | ३     | ४  | ११          | परिगमनम्            | ...   | ५  | ३  | १२ |
| चरुदासनम्              | ...  | ४     | ४  | ६           | परिग्रहपरिग्रहणम्   | ५     | २  | १२ |    |
| चर्वभिघारणम्           | ...  | ४     | ४  | ६           | परिधिपरिधानम्       | ...   | ५  | २  | १६ |
| चातुर्मास्येष्टिः      | ...  | ४     | २  | १           | परिवर्त्तनम्        | ...   | ५  | ४  | १४ |

| कर्म.                    | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म.                  | प्र० | ब्रा० | क० |
|--------------------------|------|-------|----|------------------------|------|-------|----|
| परिवर्त्तनम् ...         | ५    | ५     | ७  | प्रजापत्यपसदनम् ...    | ३    | ४     | ४  |
| पवमानेष्टिः ...          | ५    | ५     | ६  | प्रतिपरिगमनम् ...      | ५    | २     | १५ |
| पिण्डदातृजपः ...         | ५    | २     | ४० | प्रतिप्रस्थातृकर्म ... | ४    | ३     | ३१ |
| पिण्डदानम् ...           | ३    | ४     | १६ | प्रत्याश्रावणम् ...    | ५    | २     | २३ |
| पिण्डदानम् ...           | ५    | २     | ३४ | प्रवत्स्यती वाग्यमनम्  | ३    | ३     | ६  |
| पिण्डदानम् ...           | ५    | २     | ३६ | प्रयाजयागः ...         | ४    | २     | २० |
| पिण्डदानोदीच्याङ्गम्     | ५    | २     | ४१ | प्रस्तरादासादनम् ...   | ५    | २     | १७ |
| पिण्डपितृयज्ञः ...       | ३    | ४     | १  | प्राशित्रावदानम् ...   | ४    | ४     | ४० |
| पिण्डपितृयज्ञः ...       | ५    | २     | १  |                        |      |       |    |
| पिण्डशेषाघ्राणम् ...     | ३    | ४     | २४ | फलीकरणम् ...           | ३    | ४     | ६  |
| पितृनमस्करणम् ...        | ३    | ४     | २४ |                        |      |       |    |
| पितृप्रार्थनम् ...       | ३    | ४     | २४ | बर्हिषद्यजनम् ...      | ५    | २     | ५  |
| पितृयज्ञः ...            | ३    | ४     | १  | बर्हिःसमहनम् ...       | ५    | २     | १५ |
| पित्रावाहनम् ...         | ५    | २     | २२ | बर्हिःस्तरणम् ...      | ५    | २     | १५ |
| पुत्रनामग्रहणम् ...      | ३    | २     | ४१ | बर्हिःस्तरणम् ...      | ३    | ४     | १७ |
| पुनराधेयम् ...           | २    | १     | १  | ब्रह्मौदनपाकः ...      | १    | ४     | ४  |
| पुनराधेयदक्षिणा ...      | २    | १     | २८ | ब्रह्मौदनप्राशनम् ...  | १    | ४     | ६  |
| पुरोडाशनिर्वापः ...      | १    | ५     | २२ | ब्राह्मणभोजनम् ...     | ३    | ५     | १४ |
| पुरोडाशप्रतिपत्तिः       | ४    | ३     | १६ |                        |      |       |    |
| पुरोऽनुवाक्याप्रच्यावनम् | ५    | २     | २६ | मन्त्रजपः ...          | १    | ४     | २८ |
| पूर्णदर्वकर्म ...        | ४    | ४     | १७ | मन्त्रजपः ...          | ३    | ४     | २२ |
| पूर्णाहुतिहोमः ...       | १    | ५     | २  | महाहविःप्रयोगः ...     | ५    | १     | ५  |
| पूर्णाहुतिहोमः ...       | १    | ५     | ३  | महाहविरितिः ...        | ४    | ४     | २  |
| पृषदाज्ययानयनम्          | ४    | ३     | ४१ | महाहविरितिः ...        | ४    | ४     | २१ |
| पौर्णमास्येष्टिः ...     | ४    | १     | १५ | मारुतयागः ...          | ४    | २     | १२ |
| पौष्ण्यायागः ...         | ४    | २     | ११ | मारुतेष्टिः ...        | ४    | ४     | २० |

| कर्म ,                | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म                      | प्र० | ब्रा० | क० |
|-----------------------|------|-------|----|---------------------------|------|-------|----|
| मृतकावसजनम् ...       | ५    | ३     | १७ | सर्पिरासेचनम् ...         | ४    | ४     | ६  |
| मृतामिहोत्रिप्रक्षेपः | ३    | १     | ५  | समिदाधानम् ...            | ३    | ३     | ८  |
| मेषमेघीनिर्माणम् ...  | ४    | ३     | १५ | समिद्यजुःप्रयोगः ...      | ४    | ३     | ४६ |
| मेषमेघीप्रक्षेपः ...  | ४    | ३     | १७ | समिद्यजुर्यजनम् ...       | ४    | २     | २१ |
| मेषावदानम् ...        | ४    | ३     | ३८ | सम्भरणम् ...              | १    | १     | १  |
| मेघीप्रत्यजनम् ...    | ४    | ३     | ३८ | स्तम्बयजुर्हरणम् ...      | ५    | २     | १८ |
| यजमानमन्त्रजपः ...    | ५    | ३     | ११ | सथोर्वाहननम् ...          | ५    | ३     | ११ |
| रुद्रावसदानम् ...     | ५    | ३     | १८ | सान्तपनेष्टिः ...         | ४    | ४     | ३  |
| वरुणप्रघासेष्टिः ...  | ४    | ३     | १  | सान्नाय्ययागः ...         | ४    | १     | १५ |
| वसिष्ठयज्ञः ...       | ४    | १     | २  | सामिधेन्यनुवचनम् ...      | ५    | ३     | २१ |
| विपरिहरणम् ...        | ४    | ३     | ३६ | सारस्वतयागः ...           | ४    | २     | ११ |
| व्रीह्यवहननम् ...     | ३    | ४     | ६  | सावित्रयागः ...           | ४    | २     | १० |
| वैश्वदेवदक्षिणा ...   | ४    | २     | २२ | स्थानसंस्कारः ...         | ३    | ४     | १३ |
| वैश्वदेवपर्व ...      | ४    | २     | ७  | सुगन्धूहनम् ...           | ४    | ३     | ४२ |
| वैश्वदेवपर्व ...      | ४    | ३     | १  | सुगन्धूहनम् ...           | ५    | २     | ४५ |
|                       |      |       |    | सोमपायजनम् ...            | ५    | २     | ४  |
|                       |      |       |    | सौम्ययागः ...             | ४    | २     | ६  |
|                       |      |       |    | हविर्निर्वपणम् ...        | १    | १     | ५  |
| शमीपर्णावपनम् ...     | ४    | ३     | १२ | हविर्यज्ञः ...            | ४    | २     | २  |
| श्राकमेधपर्व ...      | ४    | ४     | १  | हविरासादनम् ...           | ४    | ३     | १८ |
| शुनासीर्यदक्षिणा ...  | ५    | ४     | ६  | हुतश्रिष्टप्राशनम् ...    | ५    | २     | ४८ |
| शुनासीर्ययागः ...     | ५    | ४     | २  | हुतश्रेष्ठप्राशनम् ...    | ५    | २     | ४८ |
| शुनाश्रीर्ययागः ...   | ५    | ४     | ११ | हुतश्रेष्ठस्यामौप्रक्षेपः | ५    | २     | ४८ |
|                       |      |       |    | होत्र पवेशनम् ...         | ५    | २     | २३ |

## ॥ अथ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥

- “अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति” ५. ४. १.
- “अग्ने रेतो हिरण्यम्” २. १. २८.
- “अथास्य शरीर मेवान्निर्दहति ; तद्यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेतैव मेषोऽग्नेरधिजायते ; शश्वद् वा एषः” २. २. ८.
- “अन्नं वा आपः” १. १. ३.
- “अयं वै यज्ञो योऽयं पवते” १. ४. २१.
- “अयं वै वायुर्योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं प्रच्यावयति यदिदं किञ्च ; वर्षति, वृष्टादोषधयो जायन्ते ; ओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतदद्भ्योऽधि पयः सम्भवति ; एष हि वा एतज्जनयति, तस्माद् वायव्यं भवति” ५. ४. ७.
- “असौ (मृगशिराः) अमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः” १. २. ८.
- “आदित्यस्त्वेव सर्वं ऋतवः” २. १. ८.
- “इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधात्, वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्” ५. १. ८.
- “इन्द्रो वै यजमानः” १. २. ११.
- “इयं वै पृथिवी पूषा” ५. १. ७.
- “इयं वै पृथिव्यदितिः” १. ५. १८.
- “उत्तरतो हि स्त्री पुमांस मुपशेते” ४. १. १७.

“उत्तरा हि समर्षय उद्यन्ति” १. २. ४.

“उपह्वय प्राश्रन्ति । यावन्तो गृह्णा हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्तावन्तः  
प्राश्रयीयुः, अथो अप्यृत्विजः प्राश्रयीयुः, अथो अप्यन्ये ब्राह्मणाः  
प्राश्रयीयुः, यदि बहुरोदनः स्यादथैतां कुम्भी मपिधाय  
निदधति” ४. ४. १६.

“उभये ह वा इद मये सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च” ३. २. ४.

“ऋतवः पितरः” ३. ४. २४ ; ५. २. ४२.

“एता ह वै देवता योऽस्ति तस्मिन् वसन्ति, इन्द्रो यमी राजा नडो  
नैषिधः” २. ४. १, २.

“एते वै विश्वेदेवा रश्मयः । योऽथ परं भाः प्रजापतिर्वा स  
इन्द्रो वा” २. ३. ७.

“एष एव मृत्युर्य एष तपति ०—० अमुष्मिंस्तीके पुनः पुनरेव  
प्रमारयति” ३. १. ७, ८.

“एष वै यज्ञो यदग्निः” १. ४. १८.

“कं वै प्रजापतिः” ४. ३. १३.

“कनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यः ०—० भूयांसो हि मनुष्या देवेभ्यः  
०—० भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः ०—० कनीयांसो ह वा  
अस्य भार्या भवन्ति, भूयांसः पशवः” २. ४. १८.

“काल्वालीकृता ह्येव तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसुः, न  
वनस्पतयः” २. २. ३.

“आययेव वा अयं पुरुषः” २. १. १०.



“तदग्निहोत्राच्छिष्टं ०—० नाब्राह्मणः पिबेत्” २. ३. ३८.

“तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्— ‘प्रजा इ तिस्रोऽत्याय मीयुरिति”

( ऋ० सं० ८. १०१. १४. ) ४. २. ४.

“तान् द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य वेणुयष्ट्यां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ्  
परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वल्मीकं वा विन्देत , तस्मिन्ना-  
सजति ;— ‘एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि’  
—इति” ५. ३. १७.

“तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः” ३. ४. २१.

“देवाः सन्ति ०—० पितरश्चौषधयश्च सन्ति ०—० मनुष्याः  
सन्ति” २. ३. १८.

“द्यौर्वह्नी नक्षत्रैः” १. ४. २८.

“हयं वा इदं जीवनम् , मूलि चैवामूलञ्च” २. ३. १०.

“इया वै देवाः । अहैव देवाः, अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते  
मनुष्यदेवाः ; ०—० आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति , दक्षि-  
णाभिर्मनुष्यदेवान्” १. ६. ६ ; ३. ५ , १४.

“न श्वः श्व मुपासीत को हि मनुष्यस्व श्वो वेद” १. ३. ८.

“नो ह्यनाहिताग्नेर्व्रतचर्यास्ति” १. ४. ७.

“नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्” ३. १. १५ , १६.

“पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा” ५. ३. १४.

“पयसो वै प्रजाः सञ्भवन्ति” ४. ३. ८.

“परमां गतिं गच्छति” ५. ५. ८.

“पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति ( ऋ० सं० १. ८८. ८. )” ३. १. ६.

“पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्णः पितृ-  
णाम्” ३. ४. ८.

“प्रजापतिं ०—० देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्यो-  
पासीदंस्तानब्रवीद् यज्ञो वोऽन्नं ममृतत्वं व ऊर्ग वः सूर्यो वो  
ज्योतिरिति” ३. ४. १.

“( प्रजापतिं ) पशव उपासीदन् तेभ्यः स्वेष मेव चकार यदैव यूयं  
कदा च लभध्वै यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्रायेति” ३. ४. ४.

“( प्रजापतिं ) पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदं-  
स्तानब्रवीत् मासि मासि वोऽन्नं स्वधा वो मनोजवो वक्षन्द्रमा  
वो ज्योतिरिति” ३. ४. २.

“(प्रजापतिं ) मनुष्याः प्राहता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत्  
सायम्प्रातर्धोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति” ३. ४. ३.

“( प्रजापतिं ) शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुस्तेभ्यस्तमश्च मायाञ्च  
प्रददौ” ३. ४. ५.

“प्रथमदुग्धं मुष्णं भवति ; अग्नेर्हि रेतः” २. २. १५.

“मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति ३. ३. ११.

“माता धेनुर्मातेव वा इयं मनुष्यान् विभर्त्ति” १. ५. २१.

“मेधो वै पयः, मेधस्तण्डलाः, त मुभयं मेध मात्मन् धत्ते, तस्मात्  
क्षोरीदनो भवति ४. ४. ४.

“यत्नैतत् प्रतितरा मिव तिरस्त्रीवाच्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि  
हैष भवति मित्रः” २. ४. १२.

“यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति , धूप्यत एव , तर्हि हैष भवति रुद्रः” २. ४. ८.

“यत्रैतत् प्रदीप्तरो भवति , उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्वलीति , तर्हि हैष भवतीन्द्रः” २. ४. ११.

“यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति , तर्हि हैष भवति वरुणः” २. ४. १०.

“यत्रैतदङ्गारायाकश्यन्त इव , तर्हि हैष भवति ब्रह्म” २. ४. १३.

“यथैवाप्तौ सूर्य एवं ( नक्षत्रम् )” १. २. १८.

“योषा वा आपः , वृषाम्निः” १. १. ४.

“वर्षा ह त्वेव सर्वेषा ऋतूनां रूपम्” २. १. ७ , ८.

“वसन्तो ग्रीष्मो वर्षास्ते देवा ऋतवः” १. ३. १.

“वीर्यं वा अश्वः” १. ४. २४.

“शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः ( ऋतवः )” १. ३. १.

“शाखया वत्सानपाकृत्य पवित्रवति सन्दोह्य , तं चरुं अययति , चरुं ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानापयन्ति” ४. ४. ४.

“स उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषी भवदधाति , दक्षिणस्यां मेषम्” ४. ३. १७.

“स एतास्तिस्त्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त” १. ५. १४.

“स एष पुत्रः सन् पिता भवति” ३. १. ५.

“स पत्नी मुदानेथन् पृच्छति केन चरसीति ; वरुणं वा एतत् स्त्री करोति , यदन्यस्य सत्यन्येन चरति” ४. ३. २०.

“सप्त च वै शतान्यशीतीना ऋचो विंशतिश्च” ३. १. १८.

“स यत्रोदङ्कावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति ०—० अथ यत्र  
दक्षिणावर्त्तते पिष्टेषु तर्हि भवति” १. ३. ३.

“स यो ह्येवं विद्वान् सायम्प्रातराशी भवति, सर्वं ह्येवायुरेति” ३. ४. ६.

“सर्वतोमुखो वा असावादित्यः ०—० सर्वतोमुखोऽय मग्निः ०—०

अन्यतोमुखः पुरुषः” ५. ४. १४—१६.

“सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चवन्ते” १. २. ३.

“सायुज्यं सलोकतां जयति” ५. ५. ८.

“सोमो राजा देवाना मघ्नं यच्चन्द्रमाः” ४. १. १५.

“स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेति” २. २. ६.

“हिरण्यम् ०—० अग्नेर्हि रेतः” १. १. ५.

## ॥ अथर्षिनामादिसूची ॥

| ऋषिनामादि. | प्र० | ब्रा० | क०     | ऋषिनामादि. | प्र० | ब्रा० | क०       |
|------------|------|-------|--------|------------|------|-------|----------|
| अप्रवानः   | ...  | ...   | ३ २ १४ | आसुरिः     | ...  | ...   | २ ३ ६    |
| अम्बिका    | ...  | ...   | ५ ३ ६  | आसुरिः     | ...  | ...   | ३ ३ २    |
| अरुणः      | ...  | ...   | १ ६ २० | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ २ २५   |
| आरुणिः     | ...  | ...   | २ ३ ३१ | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ २ ३३   |
| आरुणिः     | ...  | ...   | २ ३ ३४ | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ ४ १७   |
| आसुरिः     | ...  | ...   | १ ४ २७ | इन्द्रः    | ...  | ...   | २ ४ १, २ |

| ऋषिनामादि.        | प्र० | ब्रा० | क०   | ऋषिनामादि.         | प्र० | ब्रा० | क०   |
|-------------------|------|-------|------|--------------------|------|-------|------|
| उर्वारुकम् ... .. | ५    | ३     | १२   | देवभागः ... ..     | ४    | १     | ५    |
| ऋषयः ... ..       | १    | ५     | १४   | नङ्गः ... ..       | २    | ४     | १, २ |
| ऋषयः ... ..       | ३    | २     | २४   | नैषिधः ... ..      | २    | ४     | १, २ |
| ऋषिः ... ..       | ४    | ९     | ४    | पाञ्चिः ... ..     | १    | ४     | २७   |
| एके ... ..        | ५    | २     | ३३   | पार्वतिः ... ..    | ४    | १     | ६    |
| अौपवेशिः ... ..   | १    | ६     | २०   | प्रतीदर्शः ... ..  | ४    | १     | ३    |
| अौशिजः ... ..     | ३    | २     | ३५   | भाल्लवेयः ... ..   | १    | ४     | ६    |
| कक्षीवान् ... ..  | ३    | २     | ३५   | भृगवः ... ..       | ३    | २     | १४   |
| कक्षोडः ... ..    | ३    | ५     | १    | माधुकिः ... ..     | १    | ४     | २७   |
| कुमार्यः ... ..   | ५    | ३     | १३   | यमः ... ..         | २    | ४     | १, २ |
| कुरवः ... ..      | ४    | १     | ५    | याज्ञवल्काः ... .. | २    | ३     | २१   |
| कौषीतकिः ... ..   | ३    | ५     | १    | याज्ञवल्काः ... .. | ३    | ५     | २    |
| केलकिः ... ..     | २    | ३     | ३४   | अतैर्षिः ... ..    | ३    | १     | ५    |
| जीवलः ... ..      | २    | ९     | ३४   | अैकः ... ..        | ४    | १     | ३    |
| ज्ञातयः ... ..    | १    | ६     | २०   | सहदेवः ... ..      | ४    | १     | ४    |
| तक्षा ... ..      | २    | ३     | ३१   | सार्जयः ... ..     | ४    | १     | ४    |
| दक्षः ... ..      | ४    | १     | १, ६ | सुह्रा ... ..      | ४    | १     | ४    |
| दाक्षायणाः ... .. | ४    | १     | ६    | वृद्धयाः ... ..    | ४    | १     | ४, ५ |

## ॥ सर्वसूची ॥

|                        | पृष्ठे |                             | पृष्ठे |
|------------------------|--------|-----------------------------|--------|
| अथ सम्यादकोक्तिः ...   | अ, आ   | अथ कण्डिकासूची ...          | ३      |
| अथ मूलशुद्धिपत्रम् ... | क, ख   | अथ विषयसूची ...             | १५     |
| अथ प्रपाठकसूची ...     | १      | अथ कर्मसूची ...             | २४     |
| अथाध्यायसूची ...       | १      | अथ सप्तत्यालोच्यवचनसूची ... | २६     |
| अथ ब्राह्मणसूची ...    | २      | अथविनामादिसूची ...          | ३४     |

-----

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् )

महाहविषा ह वे देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो  
 ऽएव व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मथयानेवैषां  
 तस्मिन्त्यङ्गाम ऽदृषव आर्क्षिस्तानेतैरेव शल्पान्निर-  
 हरन्त तान् व्यवहन्त यत् त्राम्बकैर्यजन्त ॥ १ ॥

अथ यदेष एतैर्यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य  
 तथा कुं चनेषुर्कृच्छतीति देवा अकुर्वन्निति त्वेवैषु  
 एतत् करोति यास्य त्वेवास्य प्रजा जाता  
 यास्याजातास्ता उभयी रुद्रियात् प्रमुञ्चति ता  
 अख्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्माद्वा  
 ऽएषु एतैर्यजते ॥ २ ॥

ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुस्तस्मा-  
 द्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या अस-  
 न्निति तस्मादेककपाला भवन्ति ॥ ३ ॥

ते वै प्रतिपुरुषं \* । यावन्तो गृह्याः स्युस्ता-  
 वन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत् प्रतिपुरुषं मे-

\* 'प्रतिपुरुषं'—इति ग, घ ।

वैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात्  
प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद्या एवास्य प्रजा  
अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति तस्मादेकेनाति-  
रिक्ता भवन्ति ॥ ४ ॥

स जघनेन गार्हपत्यं । यज्ञोपवीती भूत्वो-  
दङ्ङासीन एतान् गृह्णाति स तत एवोपोत्या-  
योदङ् तिष्ठन्नवहन्त्युदीच्यौ दृषदुपले ऽउपदधात्यु-  
त्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति तद्यदेव  
तामुत्तरां दिशं सचन्त ऽएषा ह्येतस्य देवस्य दिक्  
तस्मादेता मुत्तरां दिशं सचन्ते ॥ ५ ॥

ते वा अक्ताः स्युः । अक्तं हि हविस्तु ऽउ  
वा 'ऽअनक्ता एव स्युरभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्या-  
द्यदङ्गात् तस्मादनक्ता एव स्युः ॥ ६ ॥

तान्त्सार्धं पात्राणु समुदास्य । अन्वाहार्य-  
पचनादुल्मुक मादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा  
ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स  
देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद् वा ऽअस्य जाम्भितं  
प्रज्ञात मवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे  
जुहोति ॥ ७ ॥



पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म  
वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स  
सर्वेषा मेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषो  
ऽतिरिक्तो भवति ॥ ८ ॥

स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह  
स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै  
नामास्य स्वसा तथास्यैष सह भागस्तद्यदस्यैष  
स्त्रिया सह भागस्तस्मात् व्राम्बिका नाम तद्या अस्य  
प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ ९ ॥

अथ य एष एको ऽतिरिक्तो भवति ।  
त माखूत्कर ऽउपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते  
पशुरिति तदस्मा ऽआखु मेव पशूना मनुदिशति  
तेनो ऽद्वतरान् पशून् न हिनस्ति तद्यदुपकिरति  
तिरु द्वव वै गर्भास्तिरु द्वैतद्यदुपकीर्णं तस्मादा  
ऽउपकिरति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता  
रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ १० ॥

अथ पुनरेत्य जपन्ति । अव रुद्र मदीमह्यव  
देवं त्राम्बकम् । यथा नो व्यस्यसस्करद्यथा नः  
स्येयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ भेषज मसि

भेषजं गवे ऽश्वाय पुरुषाय भेषजं सुखं मेषाय  
मेघ्या ऽइत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः ॥ ११ ॥

अथापसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूहनु-  
पाप्नानास्त्राम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।  
उर्वारुक मिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादित्या-  
शीरेवैषैतस्य कर्मण आशिष मेवैतदाशासते  
तदु ह्येव शु मिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात्तस्मा-  
दाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥ १२ ॥

तदु हापि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजा-  
महा ऽइति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाम्बिका  
नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः  
परीयुर्भगस्य भजामहा ऽइति ॥ १३ ॥

तासां मुतासां मन्त्रो ऽस्ति । त्राम्बकं यजा-  
महे सुगन्धिं पतिवर्धनम् । उर्वारुक मिव  
बन्धनादितो मुक्षीय मामृत इति सा यदित  
इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामृत इति पतिभ्यस्तदाह  
पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामृत  
इति ॥ १४ ॥

अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति । दक्षि-

गानूनुपाग्नाना एतेनैव मुन्त्रेण तद्यत् पुनः  
प्रसलवि त्रिः परियन्ति प्रसलवि न इदं कर्मानु-  
मन्तिष्ठाता ऽइति तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः  
परियन्ति ॥ १५ ॥

अथैतान्युजमानो ऽञ्जलौ समोष्य । ऊर्ध्वानु-  
दक्षति यथा गौर्नोदाप्रयात् तदात्मभ्य एवैतच्छल्पा-  
न्निर्मिमते तान्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति मेषज  
मेवैतत् कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति ॥ १६ ॥

तान् \* इयोर्मूतकयोरुपनृह्य । व्वेणुयष्टां वा कुपे  
वोभयत आबध्योदङ् † परेत्य यदि व्वृक्षं वा स्थाणुं वा  
व्वेणुं वा व्वल्मीकं वा व्विन्देत् तस्मिन्नासजत्येतत्ते  
रुद्रावसं तेन परो मूजवतो ऽतीहीत्यवसेन वा  
ऽअध्वानं यन्ति तदेन॑ सावस मेवान्ववार्जति  
यत्र-यचात्य चरणं तदन्वत्र ह वा ऽअस्य परो  
मूजवद्भ्यश्चरणं तस्मादाह परो मूजवतो ऽती-  
हीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिंसन् नः शिवो

\* 'तां'—इति च दृष्टं डा०-वेवरण ।

† 'आनध्योदङ्'—इति च डा०-वेवरदृष्टः पाठः ।

ऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापय-  
त्येवैन मेतत् स्वपन्न हि न कुं चनु हिनस्ति  
तस्मादाह कृत्तिवासा इति \* ॥ १७ ॥

अथ दक्षिणान् बाहूनन्वावर्तन्ते । ते प्रतीक्षं  
पुनरायन्ति पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति रुदियेणेव  
वा ऽएतदचारिषुः शान्तिरापस्तदङ्घ्रिः शान्त्या  
शमयन्ते ॥ १८ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोच्याग्ना ऽउद-  
वसायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकुल्पते यदु-  
त्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहा-  
नित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्न-  
यज्ञ इव वा ऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष कृमः  
प्रतिष्ठितो यज्ञो यत् पौर्णमासं तत् कृमेनैवैतद्यज्ञे-  
नान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥ १९ ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [६. २.] ॥

अथ विधित्सितानां त्र्यम्बकहविषां \* शल्यनिर्हरणहेतुत्वं †  
 मितिहासेनोपपादयति— “महाहविषेति ‡ । “अथ यानेवे-  
 त्यादि । ‘तस्मिन् सङ्ग्रामे’ ‘एषां’ देवानां मध्ये ‘यानेव’ इन्द्र-  
 ‘इषवः’ वृत्रमुक्ताः शराः ‘आच्छन्’ प्राप्नुवन् , ‘तान्’ देवान्  
 ‘एतैरेव’ त्रैयम्बकैर्हविर्भिः तस्मात् ‘शल्पात्’ ‘निरहरन्त’ वियो-  
 जितवन्तः । निर्हरणप्रकार माह— “तान् व्यवहन्तेति ।  
 “वृह उदयमने” § । शल्यप्रोतांस्तानस्माच्छल्पादुद्धरन्त ॥ इत्यर्थः ।  
 “एतैरेवेति । प्रतिनिर्देशस्य सव्यपेक्षत्वात् तन्निर्दिशति— “यत्  
 त्र्यम्बकैरिति । अम्बिका नाम स्त्री अस्य स्वप्ता , अतस्त्र्यम्बको  
 रुद्रः । देवतावाचिना लक्षणायात्र हवींष्यच्यन्ते ॥ १ ॥

आख्यायिकया प्रतिपादित मथे प्रकृते योजयति— “अथ  
 यदेष इति । ‘एषः’ इदानीन्तनो यजमानः । “तन्नाहेति ।  
 ‘न , अह , नु , एव’ इति चत्वारो निपाताः । ‘तत्’ तेन  
 त्रैयम्बकहविर्यागेन अद्यापि ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिन  
 मेव ‘कञ्च’ क मपि पुरुषम् ‘इषुः’ ‘तथा’ ‘नैव’ ‘ऋच्छति’  
 प्राप्नोति । देवानुकारित्वस्य हेतु माह— “इति देवा इति ।  
 “याश्च त्वेवास्मेति । ‘अस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनीः ‘प्रजाः’  
 ‘जाताः’ , ‘याश्च’ ‘अजाताः’ प्रजनिष्यमाणाः , ‘ताः’ ‘सर्वाः’  
 ‘उभययीः’ उभयविधाः प्रजाः ‘रुद्रियात्’ रुद्रकृद्भिसनात् ‘प्रमु-

\* ‘त्रैयम्बकहविषां’—इति च । उत्तरताप्येव मेव ।

† ‘शल्यनिर्हरणहेतुत्वं’—इति कादिपुस्तकेषु । एव मिहोत्तरत्रापि ।

‡ ‘त्रैयम्बकान्’—इति का० श्रौ० सू० ५. १०. १ ।

§ तु० प० ६६ धा० । ‘दन्थोष्ठादिः , पवर्गीयादिरित्यन्ये’—इति कौ० ।

॥ “उद्धृतवन्त’—इति च ।

ञ्चति' । प्रतिपुरुषं सङ्ख्याय क्रियमाणैः एतैः त्रियम्बकैर्हविर्भिः  
तस्य रुद्रस्य प्रीणितत्वात् । “ता अस्येत्यादि, गतम् ॥ २ ॥

तेषां देवतां विधाय प्रशंसति— “ते वै रौद्रा भवन्तीति ।  
रुद्रो देवता एषाम् । “सास्य देवता”—इत्यण् \* । तत्र  
कारण माह— “रुद्रस्येति । ‘हि’ यस्मात् रुद्रसम्बन्धी ‘इषुः’  
त्रिपुरविजयार्थं रुद्रस्यायुधत्वेन निर्भिः, तस्मात् । अत  
एवान्यत्र रुद्रस्य त्रिपुरविजयप्रस्तावे श्रूयते— “त इषुं समस्कुर्वत”  
—इति † । हविषा मेककपालसंस्कार्यत्वं विधाय स्तौति—  
“एक कपाला इति । ‘एकदेवत्याः’ एकदेवतार्थाः सर्व इमे पुरो-  
डाशाः ‘असन्’ भवन्त्वित्यभिप्रायेण ॥ ३ ॥

कियन्तस्ते त्रियम्बकाः कार्या इति तत्परिमाण माह—  
“ते वै प्रतिपुरुष मिति ‡ । ‘यावन्तः’ यावत्परिमाणविशिष्टा  
यजमानस्य ‘गृह्याः’ गृहसम्बन्धिनी ज्ञातयो भवेयुः §, तत्र  
प्रतिपुरुष मेकैकः पुरोडाश इति गणयित्वा ‘तावन्तः’ ते  
पुरोडाशाः एकेनाधिकास्ते कर्त्तव्याः । एतत् प्रशंसति—

\* पा० सू० ४. २. २४ ।

† तै० सं० ६. २. ३. १ । ‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. २ ।

§ ‘गृह्याः पुत्रपौत्रपुत्रादीन्यपत्नानि । करम्भपात्रोक्तन्यायेन ( ३. ४. )  
गृह्यशब्दः प्रजाविषयो ज्ञेयः’—इति या० दे० ( ५. १०. २. ) । मानव-  
कल्पसूत्रे ऽपि तथैव ‘उत्तरतो०—० यावन्ति करम्भपात्राणि’—इति ।  
काठकेऽपि ‘यावन्तो यजमानस्य पुत्रपौत्राः’—इति । आपस्तम्ब-  
स्माह—‘प्रतिपुरुष मेककपालान् निर्वपति, यावन्तो यजमानस्या-  
मात्याः सस्त्रीका स्तावत एकातिरिक्तान्’—इति । “चतुरो वा”—  
इति च का० श्रौ० सू० ५. १०. ३ । अनपत्यस्य एकापत्यस्य द्वाप-  
त्यस्य त्रापत्यस्य च चतुर एवेति तात्पर्यम् । करम्भपात्राण्यप्येव  
मेव । ५. ३. ५ द्रष्टव्यम् ।

“तत् प्रतिपुरुष मिति । पुरुषं पुरुषं प्रतिपुरुषम्, वीष्माया मय्ययीभावः । “एकैकेनेति । “एकं बहुव्रीहिवत्”—इति वीष्मायां द्विर्वचनम् \* । बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लोपः । अन्य-  
दुक्तार्थम् । एकातिरेक मनूय तस्य प्रयोजन माह—  
“एकैकेनेति ॥ ४ ॥

यावदुक्तचोदना ह्येते पुरोडाशाः, अतस्तेषां संस्कारप्रकार माह— “स जघनेनेति । गार्हपत्यस्य पश्चात् ‘यज्ञोपवीती भूत्वा’, ‘उदङ्मुख आसीनः’ †, ‘एतान्’ पुरोडाशान् निर्व-  
पतीति प्रक्रम्य, जुहोतयोऽवषट्कारा इति ‡, तत्र अवषट्कारा इति छेदः । हविरुत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्याक्षिप्तानि तदर्थकान्य-  
वहननादीनि, वैकृतं विशेषं वक्तुं मनुक्रामति— “स तत एवे-  
त्यादिना । प्रागुदीच्यां रुद्राधिष्ठितत्वेनोत्तरदिशो रुद्रसम्बन्धात् तद्विक्त्वाच्च रुद्रदेवताख्या, तस्मात् ‘ताम्’ एताम् ‘उत्तरां दिशं’ ‘सचन्ते’ सर्वेषु व्यापारेषु ऋत्विजः समवयन्ति § ॥ ५ ॥

एषां हविषा मक्ततार्थं मभिघारणपक्ष माह— “ते वा अक्ताः स्युरिति ॥ । ‘वे’-शब्दोऽवधारणे । खलु ‘ते’ पुरोडाशाः ‘अक्ताः’ आज्येनाभिघारिता एव ‘स्युः’ । तत्र हेतु माह— “अक्तं हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘अक्तम्’ अभिघारितं मेव हविः

\* पा० सू० ८. १. ६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. ४ ।

‡ त्रैयम्बका जुहोतयो भवन्ति ; न यजतय इति भावः । ‘यः त्राम्बकैरयजन्तीत्यादिः व्यवहारः ( २. ६. २. १ ), स होमान्तर्गतयागा-  
भिप्रायो द्रष्टव्यः”—इत्यभाषयद्विह हरिस्वामी ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. ६, ७ द्रष्टव्ये ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. १०. ८, ११ ।

भवति । तथा च तैत्तिरीयकम्— “प्रच्युतं वा एतदस्मात्लोकादगतं देवलोको यच्छृतं हविरनभिघारित मभिघार्योदासयति”—इति \* । अनभिघारितपक्ष मप्याह— “उ वा इति । तत्र कारण माह— “अभिमानुक इति । पशुप्रभवेनाज्येन यदि रौद्रान् पुरोडाशान् अक्षयात्, ततः स रुद्रः आज्यसम्बन्धद्वारा तत्कारणभूतान् पशून् ‘अभिमानुकः’ † अभिमन्तुं वाधितुं शक्तः स्यात् ॥ ६ ॥

“तान् सार्धं मित्यादि । निगदसिद्धम् । उत्तरदिशि विशेषं विधत्ते— “पथीति । उत्तरस्यां दिशि यः पन्था वियते, तत्रोल्लुक् निधाय, तस्मिन् पुरोडाशान् जुहुयात् ‡ । पथि होमे कारण माह— “पथा हीति । ‘सः’ खलु रुद्रो ‘देवः’ ‘पथा’ मार्गेण हि ‘चरति’ तत्रावतिष्ठत इत्यर्थः । पथ्यपि किञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “चतुष्यथ इति । चतुर्णां पथां समाहारश्चतुष्यथः, चतसृभ्यो § दिग्भ्य आगताश्चत्वारः पन्थानो यत्र सङ्गच्छन्ते, तत्र जुहुयादित्यर्थः ॥ । एतदुप-  
पादयति— “एतद् वा इति । ‘एतत्’ खलु ‘अस्य’ रुद्रस्य ‘जाश्वितम्’ ¶ जनैः परिकल्पितम्, ‘प्रज्ञातम्’ प्रसिद्धम्, ‘अवसानं’ स्थानम्, यच्चतुष्यथाख्यम् । अत एवोक्तं मभियुक्तैः— “वटे-वटे वैश्रवणः, चत्वरे-चत्वरे शिवः”—इति ॥ ७ ॥

\* तै० सं० २. ६. ३. ६ ।

† ‘अभिमंसुकः’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. ५ ।

§ ‘चतुर्भ्यः’—इति क, ज ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. १०. ६ क० ।

¶ जन + धित = हित । ‘जाधितम्’—इत्यपि च ।



अथैतस्मिन् होमसाधनं विधत्ते— “पलाशस्य पलाशेनेति \* । पलाशवृक्षस्य पर्णेनेत्यर्थः । “ब्रह्म वै पलाशस्य पलाश मिति । पलाशवृक्षस्य ब्रह्मात्वश्रवणात् , तदीयं पर्णं मपि ब्रह्मात्मकम् । ब्रह्मश्रवणञ्च तैत्तिरीयकैरान्नातम्— “देवा वै ब्रह्मवदन्त तत् पर्णं उपाशृणोत्”—इति † । श्रवदाने विशेष माह— “स सर्वेषा मिति । यावन्तः पुरोडाशाः , तत्र एक मपि रिक्तं विहाय तेषां सर्वेषा मेव सकाशात् तस्मिन् मध्यमपर्णेऽव्ये-  
दित्यर्थः ‡ ॥ ८ ॥

इत्थं सर्वेभ्यः समवत्तस्य हविषः समन्त्रकं होमं विधत्ते— “स जुहोतीति § । मन्त्रस्याय मर्थः— हे ‘रुद्र !’ ‘ते’ तव ‘एष भागः’ । कथम्भूतस्य ? अम्बिकानामास्य स्वसा , तथा सहितस्य । अतः ‘तं’ भागं ‘जुषस्व’ सेवस्व । इदं हविः ‘स्वाहा’ सुहुत मस्त्विति ॥ । तत्र “सह स्वस्त्राम्बिकया”—इति मन्त्र-  
भागस्याभिप्राय माविष्कुर्वन्नेतेषां हविषां त्राम्बिकानाम निर्व्वीति— “अम्बिका ह वा इति ¶ । “तद्यदस्यैष इति । ‘तत्’ तथा सति ‘यद्’ यस्मात् ‘अस्य’ रुद्रस्य तथा ‘स्त्रिया’ ‘सह’ ‘एष भागः’ कल्पितः , ‘तस्मात्’ स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धात् रुद्रस्यैते पुरोडाशाः

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. ६ ख ।

† तै० सं० ३. ५. ७. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. १० । ‘मध्यमपलाशपर्णे जुहुस्यानीये’ इति च तत्र या० दे० ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १२ ।

॥ मन्त्र एषः वा० सं० ३. ५७. १ ।

¶ “शरदा अस्याम्बिका स्वसा , तथा वा एष द्विगच्छि”—इति तै० ब्रा० १. ६. १०. ४ द्रष्टव्यम् ।

( वर्णलोपेन ) ‘त्राखकाः’-इत्याख्यायन्ते । “तद् या अयेति , व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अवदानकालपरिशेषितस्यातिरिक्तस्यैकस्य विनियोग माह--  
 “अथ य एव इति । उत्क्ररति पांशूनित्युत्करः ; आखुभिः  
 कृते ‘आखूत्करे’ ‘तम्’ अतिरिक्त मेकं पुरोडाशम् ‘उपक्ररति’  
 उपक्षिपति \* । “कृ विक्षेपे”-इति धातुः † । “एष ते”-इति  
 मन्त्रः ‡ । तदर्थस्तु-- हे ‘रुद्र !’ ‘ते’ तव ‘एषः’ पुरोडाशः  
 भागः , अस्मिन्नुत्करे स्थितो यः ‘आखुः’ असौ ‘ते’ पशुः  
 इति । मन्त्रपाठस्य प्रयोजन माह-- “तदस्मा इति । ‘तत्’  
 तेन मन्त्रेण ‘पशूनां’ मध्ये ‘आखु मेव’ ‘अस्मै’ रुद्राय  
 पशुत्वेन निर्द्दिशति । ‘तेन’ कारणेन ‘इतरान्’ नृगवाश्वादि-  
 पशून् स रुद्रो ‘न हिनस्ति’ । अतिरिक्तस्यैकपुरोडाशस्य यदु-  
 पक्षेपणं विहितम् , तदुपपादयति-- “तद् यदिति । “तिर-  
 इवेति । ‘गर्भाः’ तिरोहिता इव भवन्ति । उपकीर्णञ्च द्रव्यं  
 विगलितं सत् तिरोहित मेव भवति , अतो गर्भस्थाना मजातानां  
 प्रजानां रुद्रकृतहिंसनविमोचनाय क्रियमाणस्योपकीर्णत्वं युक्तं  
 मिति भावः ॥ १० ॥

जपं विधत्ते-- “अथेति § । ‘अथ’ तदनन्तरम् , पुनश्चतु-  
 ष्पथादग्नि समीप मेत्य “अवरुद्रम्”-इत्यादिमन्त्री ॥ सर्वे जपेयुः ।

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. १३ । ‘मृषिकैरुत्कीर्णै’ पांशुभिरन्त-  
 र्हितं करोतीत्यर्थः । † तु० प० १२६ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ५७. २ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १४ ।

॥ वा० सं० ३. ५८, ५९ ।

तयोः प्रथममन्त्रस्याय मर्थः ।— ‘रुद्रम्’ ‘अवादीमहि’ अव-  
दीयामहे , हविर्भागेन रुद्रं मवयुज्य पृथक्कृत्य प्रजाः रक्षामहे ।  
“दीङ् रक्षणे”—इत्यस्मात् \* लोटि , “बहुलञ्छन्दसि”—इति †  
शब्लुकि “घुमास्था”—इतीत्वम् ‡ । तथा ‘देवं’ देवनशीलं  
‘वाम्बकं’ स्त्रियास्त्रिआख्यया सहितम् , अवादीमहीत्यनुषङ्गः ।  
अम्बिकासाहित्यप्रतिपादनपरं मेतद् द्वितीयं वाक्यम् । स च  
रुद्रो ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘नः’ अस्मान् ‘वस्यसः’ वसीयसः वसु-  
मत्तमान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘नः’ अस्मान् ‘यथा’ च ‘श्रेयसः’  
प्रशस्यकरान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘यथा’ च ‘नः’ अस्मान् ‘व्यव-  
साययात्’ व्यवसायेत, व्यवसितार्थान् कुर्यात् ; तथा ‘अवादी-  
महि’ इति सम्बन्धः ॥

अथ द्वितीयस्य ।— हे रुद्र ! त्वं स्वरूपेणैव ‘भेषजम्’ औष-  
धम् ‘असि’ ; सर्वदुरितनिबर्हणहेतुत्वात् । अतस्त्वं ‘सुखं’  
सुप्राप्तं भेषजम् अस्मदीयेभ्यो गवाश्वादिभ्यः प्रदेहीति शेषः ।  
“आशीरेवेति । एतत् वाम्बकाख्यकर्मणः ‘आशीः’ फलप्रार्थ-  
नम् ; गवाश्वादीनां मारोग्यं मेतस्य कर्मणः फलमित्यर्थः ॥ ११ ॥

अथाप्रदक्षिणं विरक्तेः परिगमनं विधत्ते— “अथापस-  
लवीति § । वाम्बकस्य हविषः कर्तारः सर्वे चतुष्पथे अग्निं  
मपसलवि वाम्बकमिति मन्त्रेण ‘त्रिः परियन्ति’ । किं कुर्वन्तः ?  
‘सव्यान्’ वामान् ‘उरून्’ ‘अपघ्नानाः’ हस्तेन कुट्टयन्तः ॥ ।

\* दि० आ० ३४ धा० ।

‡ पा० सू० २. ३. ७३ ।

† पा० सू० ६. ४. ६६ । “छन्दस्युभयथेत्वाङ्घ्रातुकत्वम्”—इतीह  
महीधरः ( पा० सू० ६. ४. ५ ) ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १५ ।

॥ वादयन्त इति यावत् ।

मन्त्रस्य \* चाय मर्थः— त्रीणि अम्बिकानि नेत्राणि यस्य ,  
 यद्वा अम्बिका स्वसा यस्य , तथोक्तः । शोभनो गन्धो यस्यासौ  
 सुगन्धिः । “गन्धस्येदुत्पृतिसुसुरभिभ्यः”—इति † इकारादेशः ।  
 ‘पुष्टिर्वर्द्धनम्’ पुष्टेर्वर्द्धयितारम् । रुद्रं वयं ‘यजामहे’ पूजयामः ।  
 त्वत्प्रसादादहम् ‘उर्वारुकम्’ कर्कटीफलं ‡ पक्वं सत् यथा  
 प्रसववन्धनात् स्वयं मेव मुच्यते , तथा ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुच्यीय’  
 मुक्तो भूयासम् ; ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘मा’ वियोगो भवत्विति ।  
 “आशीरेवेत्यादि , सिद्धम् । अन्तिमपादस्य तात्पर्यं माह—  
 “तदु ह्येवेति । ‘यः’ ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुच्यते’ मुक्तो भवेत् ,  
 सः ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘न’ मुक्तो भवति ; एतदेव हि ‘श मिव’  
 प्राणिनां सुखं भवति ॥ १२ ॥

अस्य परिगमनस्य भगप्रसिद्धिहेतुत्वं मुपपादयति— “तदु  
 ह्यापीति । ‘तत्’ तदा ‘कुमार्यः’ अपि तं मग्निं मुक्तप्रकारेण  
 ‘परीयुः’, ‘भगस्य’ सौभाग्यस्य । कर्मणि षष्ठी । सौभाग्यम्  
 ‘भजामहे’ प्राप्नुयामहे ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण § । ‘यो ह वा  
 इति । अम्बिका नाम ‘या’ खलु ‘रुद्रस्य स्वसा’, ‘सा’ ‘भगस्य  
 इष्टे’ सौभाग्यस्य स्वामिनी भवति । “ईश ऐश्वर्ये”—इति

\* मन्त्रोऽयम् वा० सं० ३. ६०. १ ।

† पा० सू० ५. ४. १३५ ।

‡ ‘कर्कट्यादेः फलम्’—इति मञ्जीधरः । ‘पर्कटीफलम्’—इति  
 कृ-पाठः । ‘कर्मकर्कटीफलं (!)’—इति च डा०-वेबरेण दृष्टः ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १६ । ‘यजमानस्य कुमार्योऽपरिणीता  
 पुत्राश्चोत्तरेण त्राभ्यक मिति मन्त्रेण , पतिवेदनं मिथ्येन—० त्रिस्त्रिः  
 परियन्ति , पतिं सौभाग्यं कामयमाना वा’—इतीह या० दे० ।

धातुः \* । भगस्येति “अधीगर्थदयेशां कर्मणि”—इति † पठ्यी ।  
‘तस्मात्’ अम्बिकासहितस्य रुद्रस्य सम्बन्धिनि कर्मणि भगप्राप्ति-  
कामाः कुमार्योऽपि परीयुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

कुमारीणां परिगमनेऽपि मन्त्रो विद्यत इत्याह— “तासा  
मिति । ‘आसां’ पूर्वोक्तानाम् ‘तासां’ कुमारीणां मपि परि-  
गमनेऽन्यो ‘मन्त्रः’ विद्यते । कः पुनरसाविति, तं पठति—  
“तस्वक मिति ‡ । पतिर्विद्यते लभ्यत इति पतिवेदनो रुद्रः ।  
अन्यदुक्तार्थम् । चतुर्थपादस्य तात्पर्यं माह— “सा यदित इति ।  
‘इदं’-शब्देन पितृकुलं परामृश्यते । ‘इतः’ अस्मात् पितृकुलात्  
‘ज्ञातिभ्यः’ सकाशात् अहं ‘मुचीय’ मुक्ता भूयासम् ; ‘अमुतः’  
अमुष्मात् कुलात् पतिसकाशात् ‘मा मुचीय’ विप्रयुक्ता न भवेम  
इति तात्पर्यार्थः । “पतयो ह्येवेति । अग्निहोत्रादिधर्मेषु  
पत्या सहैव स्त्रिया अधिकारः ‘हि’ यतः, अतः स्त्रीणां ‘पतय  
एव’ ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयभूता इत्यर्थः ॥ १४ ॥

तेनैव मन्त्रेण पुनः प्रदक्षिणं त्रिः परिगमनं विधत्ते—  
“अथ पुनरिति § । ‘प्रसलवि’ प्रदक्षिणम् । “एतेनैवेति ।  
तस्वक मिति प्रागुक्तेनोभयविधेन मन्त्रेणेत्यर्थः । “तद्यत् पुन-  
रित्यादिवाक्यशेषः पितृयज्ञवद् व्याख्येयः ॥ १५ ॥

हुतशिष्टानां पुरोडाशानां प्रतिपत्तिं विधत्ते— “अथै-  
तानित्यादि । ‘एतान्’ पुरोडाशान् यजमानस्याञ्जलाव-  
ध्वर्युः संवपेत् । यजमानश्च ‘ऊर्ध्वान् उदस्यति’ उत्क्षिपति ।

\* अदा० आ० १० धा० ।

† पा० मू० २, ३, ५२ ।

‡ वा० सं० ३, ६०, २ ।

§ का० औ० मू० ५, १०, १५ ।

‘यथा’ ‘गौः’ पृथिवीनाभैतत् ; पृथिवी तान् पुरोडाशान् ‘नोदा-  
 भूयात्’ ! उत्तिष्ठाः पुरोडाशाः यथा भूमौ न पतन्ति , तथा  
 अन्तरिक्षे , पुनरञ्जलिना धारयेत् । तदुक्तं कात्यायनेन—  
 “रौद्रान् यजमानेऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम् , प्रतिगृह्णात्येतान्”  
 —इति \* । “आत्मभ्य एवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन उदसनेन  
 ‘आत्मभ्यः’ ऋत्विग्यजमानाः स्व-स्व-शरीरेभ्यः ‘एव’ ‘शल्यान्’ निर्भि-  
 मते’ निर्हरन्ति । तेषां पुनर्यज्ञाशक्तौ स्पर्शनं विधत्ते— “तान्  
 विलिप्सन्त इति । लब्धुमिच्छन्तो लिप्सन्तः तद्विपरीतो  
 ‘विलिप्सन्तः’ लब्धुमशक्ताः सन्तः , भूमौ पतितान् ‘तान्’  
 पुरोडाशान् पश्चात् ‘उपस्पृशन्ति’ । उक्तं हि कात्यायनेन—  
 “प्रतिगृह्णात्येतानशक्योऽपस्पर्शनम्”—इति † । “भेषज मेवैत-  
 दिति । एतेन स्पर्शनेन निर्हृते शल्ये स्वशरीरदेशस्य पुनर्भेषज  
 मेव कृतवन्तो भवन्ति ॥ १६ ॥

“तान् द्वयोरित्यादि । ‘द्वयोर्मूतकयोः’ । यत्र तृणमये  
 आवपने धान्यं बध्यते , तत् मूतम् ‡ , मूत मेव मूतकम् ।  
 स्वार्थे क-प्रत्ययः । ‘तान्’ रौद्रान् पुरोडाशान् ‘द्वयोर्मूतकयोः’  
 ‘उपनह्य’ ‘वेणुग्रह्यां’ वेणुमय्यां यष्ट्याम् ‘उभयतः आबध्य’ ; यदा  
 ‘कुपे’ वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो दारुविशेषो वीवधापरपर्यायः  
 कुपः § , तस्मिन् ; ‘उभयतः’ उभयपार्श्वयोः वैणवभाजनयोः  
 ‘तान्’ रौद्रान् ‘आबध्य’ ; तेन सार्द्धम् ‘उदङ् परेत्य’ उदङ्-

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. १८ , १९ ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. २० ।

‡ “मूतयोः , शिष्याकारयोः रज्जुनिर्मितयोः”—इति या० दे० ।

§ ‘कुपे , यज्ञियवृक्षजे तुलादृष्टे’—इति या० दे० ।

मुखोऽदूरं गत्वा , वृक्षस्थाखादीना मन्यतमस्मिन् \* उपलब्धे ,  
वीवधम् 'आसजति' आलगत्यति † । तस्मिन्नासजने मन्त्र माह—  
“एतत् इति ‡ ।

तस्याय मर्थः ।— हे 'रुद्र !' 'ते' तव 'एतत्' दृष्टिकरम्  
'अवसम्' पाथेय मन्त्रम् ; तत् स्वीकृत्य 'तेन' साधनेन  
'मूजवतः परः' मूजवात्रामोदीच्यः पर्वतः , तस्य परस्ताद्भागम्  
'अतीहि' अतिक्रम्य गच्छ , मास्मानधितिष्ठा इति भावः ।

मन्त्रगत मवसशब्दं प्रशंसति— “अवसेन वा इति । लोके  
'अवसेन' अन्नेन पाथेयेन हि जनाः दूरम् 'अध्वानं' 'यन्ति',  
'तत्' तथा सति 'एनं' रुद्रं 'सावसम्' अवससहितम् 'एव'  
अस्मात् स्थानात् 'अन्ववार्जति' अनुगमयति । अस्य रुद्रस्य  
गमनयोग्यप्रदेश माह— “यत्र-यत्रेति । यस्मिन्-यस्मिन् स्थाने  
'अस्य' देवस्य 'चरणं' वर्त्तनं भवति , 'तत्' स्थानम् 'अनु'-  
लक्ष्येत्यर्थः । “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्याभिप्राय माह—  
“अत्र ह वा इति । 'अस्य' रुद्रस्य 'अत्र' अस्मिन् मूजवत्पर्वत-  
सम्बन्धिनि 'परः' परस्ताद् भागे 'चरणं' वर्त्तनं भवति ,  
'तस्मात्' तेन “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्य पठनं युक्त  
मित्यर्थः । द्वितीयभाग मनूय व्याचष्टे— “अवततधन्वेति ।  
अवतत मवरोपितज्यं धनुर्गस्य स तथोक्तः । “पिनाकावस  
इति । पिनाकः , तस्यैव रुद्रधनुषो नामधेयम् । तस्य अवसः

\* 'स्थाणौ वा , वृक्षे वा , वंशे वा , वल्मीके वा'—इति , 'स्थाण  
क्विन्नायं वृक्षमूलम्'—इति च या० दे० ।

† का० श्रौ० मू० ५. १०. २१ ।

‡ वा० सं० ३. ६१. १ ।

व्यापारो परमो यस्य स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन फलितं  
मर्थं माह — “अहिंसन्निति । हे ‘रुद्र !’ ‘नः’ अस्माकं हिंसा  
मकुर्वन् ‘शिवः’ सुखकरः सन् ‘अतीहि’—इति ‘एतत्’, अयं  
मन्त्रभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । अन्तिमं भागम् \* अनूद्य  
तात्पर्यं माह— “कृत्सीति । कृत्तिः त्वग्वास आच्छादनं यस्य  
स तथोक्तः । अनेन च विशेषणेन ‘एनं’ नितरां स्थापयेत् † ;  
कृत्तेर्मृदुतरत्वेन सुखकरत्वात् रुद्रस्वापो भवत्येवेत्यनेनाभि-  
प्रायेण विशेष्यते । स्वापोऽपि किमर्थं इत्यत आह— “स्वपन्  
न्विति । ‘नु’ खलु लोके ‘स्वपन्’ निद्रालुः पुरुषः ‘कञ्चन’  
क मपि ‘न हिनस्ति’ न पीडयति । अतो रुद्रकृतवाधविरहाय  
तस्य स्वापः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

तेषां पुनरागमनं विधत्ते— “अथ दक्षिणानिति । रौद्र-  
पुरोडाशानां वृक्षादावाससञ्जनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । रौद्रैर्हवि-  
र्भिः ये अचारिषुः, ‘ते’ सर्वे स्वं-स्वं दक्षिणं बाहुम् ‘अनु’-लक्ष्य  
प्रादक्षिण्येनावर्त्तेरन् ; आहत्य च ‘अप्रतीचं’ रौद्रहविःप्रचरण-  
स्थानं मनवलोकायन्तः ‘पुनः’ वेदिसमीपं मागच्छेयुः ; आगत्य च

\* महीधरमते याज्ञिकदेवमते च कृत्तिवासा इत्यपरो मन्त्रः—  
वा० सं० ३. ६१. २ । सूत्रतश्चैव मेव प्रतीयते । का० श्रौ० सू० ५. १०.  
२२ द्रष्टव्यम् । “क्रियान्तरस्यानुपदेशात् कृत्तिवासा इति जपेत्”—इतीह  
या० दे० । महीधरस्तु “कृत्तिवासा इत्यनपेक्ष मेत्वोपसृष्टन्त्यपः  
( ५. १०. २२, २३ )”—इत्येकं सूत्रं मन्त्रैव व्याख्यत— “उन्नते वृक्षादौ  
मूतद्वयेऽवसथ्य प्रत्यावर्त्तमाना मूतद्वयस्यावेक्षणं मकृत्वा वेदिसमीपं  
समागत्योदकं स्पृशेयुः”—इति ।

† ‘निष्ठापयतीति श्रवणात् व्यासक्तस्य निश्चलीकरणं मनेन कर्त्तव्यं  
मिति केचित्’—इति चाल या० दे० ।



हविःप्रचरणकृतीणां निवारणाय 'आपः' उपस्पृशेयुः । "तदद्भिः शान्त्येति । उष्णशमनहेतुभिः 'अद्भिः' 'तत्' रौद्रप्रचरणजनितं स्व-स्वात्मगत मौष्णं 'शमयन्ते' निवर्त्तयन्तीत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

वरुणप्रघासान्ते इव केशश्मश्रुवपनादिकं साकमेधान्तेऽपि कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— "अथ केशश्मश्रूमेति । केशश्मश्रूणि वापयित्वा 'अग्नी' गार्हपत्याहवनीयौ 'समारोह्य' समारोप्य , दक्षिणान्ते रघुपलक्षणम् ( यदि सर्वे धार्या भवेयुः ? ) समारोपणेन गृहं गच्छन्तीति शेषः ॥

"उदवसायेत्यादिना , साकमेधस्यान्तकर्त्तव्यता अत्रापि प्रतिपाद्यते । "उदवसायेति । स्नानानन्तरं खलु 'एतेन' साक-मेधान्तेन 'यजते' । तदङ्गत्वेन योत्तरवेदिनिर्मिता , तस्या मग्नि-होत्रहोमो न युक्त इति पुनः स्वस्थानगमनं कर्त्तव्य मित्यादि शेषं पूर्ववद् † व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ ‡ [ ६. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. २३ ।

† २८६ ए० ४ पं० , ३१२ ए० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ तै० सं० १ का० ८ प्र० ६ अनु० , तै० ब्रा० १ का० ६ प्र० १० अनु० । एतयोरनुवाकयोः चाम्बकयागविधयस्तन्मन्त्राश्चान्ता द्रष्टव्याः । 'चाम्बक'- 'त्रियम्बक'-इति शाखाभेदकृतौ पाठाविद्वानां लेखकप्रमादत एकशाखीयवाक्येष्वपि बहुत्र सङ्क्रान्ताविति च ध्येय मिति ।

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् )

अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो  
 भवति । संवत्सरं हि जयति तेनास्याक्षय्यं  
 भवति तं वै चेधा विभज्य यजति चेधा विभज्य  
 प्रजयति सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वा ऽअक्षय्यं  
 मेतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवत्यृतुः हैवैतद्भूत्वा  
 देवानप्येत्यक्षय्यं मु वै देवानां मेतेनो हैवास्या-  
 क्षय्यं सुकृतं भवत्येतद् तदस्माच्चातुर्मास्यै-  
 र्यजते ॥ १ ॥

अथ यस्माच्छुनासौर्येण यजेत । या वै देवा-  
 नां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां \* विजिग्या-  
 नानां तच्छुन मथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस  
 आसीत् तत्सीरं सा या चैव देवानां श्रीरासीत्  
 साकमेधैरीजानानां † विजिग्यानानां य उ च  
 संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं  
 परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माच्छुनासौर्येण यजते ॥ २ ॥

\* † 'श्रीरासीत् साकमे'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तस्यावृत् \* । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं न गृह्णन्ति  
पृषदाज्यं न मन्यन्त्यग्निं पुञ्च प्रयाजा भवन्ति  
तयो ऽनुयाजा एकः समिष्टयजुः † ॥ ३ ॥

अथैतान्येव पुञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्वै  
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो व्वरुण-  
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदतैर्वै देवा व्वृत मघ्नन्ने-  
तैर्वैव ‡ व्यजयन् येय मेषां व्विजितिस्तां तथो  
ऽएवैष एतैर्या चैव देवानां श्रीरासीत् साक  
मेधेरोजानानां व्विजिग्यानानां यु उ च संव-  
त्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं  
परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माद् वा ऽएतानि पुञ्च  
हवींषि भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो  
भवति । स बभ्रुः शुनासीर्यस्य यं पुर्व्वं मुवो-  
चाम ॥ ५ ॥

\* 'तस्यावृत्'—इति ग, घ ।

† 'समिष्टयजुः'—इति ग, घ ।

‡ 'मघ्नन्नेतैर्वै'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

अथ वायुश्च पयो भवति । पयो ह वै प्रजा  
जाता अभिसञ्ज्ञानते विजिग्यानुं \* मा प्रजाः श्रियै  
यशसे ऽन्नाद्यायाभिसञ्ज्ञानान्ता ऽइति तस्मात्पयो  
भवति ॥ ६ ॥

तद्यदायुश्च भवति । अयं वै वायुर्यो ऽयं  
पुवत ऽएष वा ऽइदं सर्वं प्रधाययति यदिदं  
किञ्च वर्षति वृष्टादोषधयो जायन्त ऽओषधी-  
र्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतद्भगो ऽधि पयः सुम्भव-  
त्येष हि वा ऽएतज्जनयति तस्माद् वायुश्च  
भवति ॥ ७ ॥

अथ सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
एष वै सूर्यो य एष तपत्येष वा ऽइदं सर्वं  
मभिगोपायति साधुना त्वदसाधुना त्वदेष इदं  
सर्वं विदधाति साधौ त्वदसाधौ त्वदेष मा  
विजिग्यानुं प्रीतुः साधुना त्वदभिगोपायत्साधौ  
त्वद्विदधदिति तस्मात्सौर्य † एककपालः पुरोडाशो  
भवति ॥ ८ ॥

\* 'विजिग्यान मेनं—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'तस्मात्सौर्य'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा । तदेतस्य रूपं  
क्रियते य एष तपति यदाश्वः श्वेतं न विन्दे-  
दपि गौरेव श्वेतः स्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य  
एष तपति ॥ ९ ॥

स यत्रैव साकमेधैर्यजते । तच्छुनासीर्येण  
यजेत यदै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संव-  
त्सरमाप्नोति तस्माद्यदैव कदा चैतेन यजेत ॥ १० ॥

तद्वैके । रात्रीरापिपयिषन्ति स यदि रात्री-  
रापिपयिषेद्यददः पुरस्तात् फाल्गुन्यै पौर्णमास्या  
ऽउद्दृष्टं तच्छुनासीर्येण यजेत ॥ ११ ॥

अथ दीक्षेत । तं नानीजानं\* पुनः फाल्गुनी  
पौर्णमास्यभिपर्ययात् (तत् †) पुनःप्रयोगरूप इव ह  
स यदेन मनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्य-  
भिपर्ययात्तस्मादेनं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्ण-  
मास्यभिपर्ययादिति नूरसृजमानस्य ॥ १२ ॥

अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य । पूर्व्वद्युः फाल्गुन्यै

\* 'तन्नानीजानं'—इति, 'तस्मादेतन्नानीजानं'—इति च पाठौ दृश्यौ

डा०-वेवरेण ।

† नास्त्येतत् पदं घ-ङ्-पुस्तकयोः ।

पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातुर्व्वैश्वदेवेनाथ  
पौर्णमासेनैतदु पुनः प्रयुञ्जानस्य \* ॥ १३ ॥

अथातः । परिवर्त्तनस्यैव सर्व्वतोमुखो वा ऽअसा-  
वादित्य एष वा ऽइदं सर्व्वं निर्द्ध्यति यदिदं  
किञ्च शुष्यति तेनैष सर्व्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥ १४ ॥

सर्व्वतोमुखोऽयं मग्निः † । यतो ह्येव कुत-  
श्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति तेनैष सर्व्वतो-  
मुखस्तेनान्नादः ‡ ॥ १५ ॥

अथाय मन्यतोमुखः पुरुषः । स एतत्  
सर्व्वतोमुखो भवति यत् परिवर्त्तयते स एव मेवा-  
न्नादो भवति यथैतावेतद्य एवं विद्वान् परिवर्त्त-  
यतं तस्माद्वै परिवर्त्तयत ॥ १६ ॥

तदु होवाचासुरिः । किन्नु तत्र मुखस्य यदपि  
सुर्वाण्येव लोमानि वपेत यद्वै त्रिः संव-  
त्सरस्य यजते तेनैव सर्व्वतोमुखस्तेनान्नादस्तस्मान्ना-  
द्रियेत परिवर्त्तयितु मिति ॥ १७ ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [६. ३.] ॥

\* 'प्रयुञ्जानस्य'—इति ग, घ ।

† 'सर्व्वतोमुखोऽयं मग्निः'—इति ग, घ । ‡ 'स्तेनान्नादः'—इति ग, घ ।

अथ शुनासीरीयं \* विधित्सुस्तस्य शुनासीर्यस्य चतुर्थपर्वणः  
 संवत्सरसलक्षणफलसाधनत्वं प्रतिपादयिष्यंस्त्वावदुपोद्घातत्वेन चातु-  
 र्मास्याना मक्ष्यफलसाधनत्वं माह— “अक्षय्यं ह वा इति ।  
 चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु क्रियन्त इति चातुर्मास्यानि प्रयुक्तानि  
 वैश्वदेवादीनि , तैरिष्टवान् चातुर्मास्ययाजी । “करणे यजः”—  
 इति † भूतकाले यजतेर्णिनिः । तस्य ‘चातुर्मास्ययाजिनः’  
 ‘सुकृतं’ यागजनितफलसाधनधर्मापरपर्याय मपूर्वम् ‘अक्षय्यम्’  
 चेत्तु मशक्यम् ; न कदाचिदपि भोगेन क्षययितुं शक्यते ।  
 “क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे”—इति ‡ , “क्षि क्षये”—इति § अस्मान्निपा-  
 तितः । अक्षय्यत्वं सुपपादयति— “संवत्सरं हीति । ‘हि’  
 यस्मात् उदीरितैस्त्रिभिः वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः संवत्सरपरि-  
 मितकालं ‘जयति’ ‘तेन’ संवत्सरजयेन , तदतिरिक्तस्य कालस्या-  
 भावात् ‘अस्य’ सार्वकालिकस्य चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्  
 अक्षय्यं भवतीत्यर्थः ॥ ।

संवत्सरं कथं मेतेन जयत इति तदाह— “तं वा इति ।  
 ‘तं’ संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु वैश्वदेवा-  
 दिभिः ‘यजते’ ¶ , अतस्तं संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ एव ‘प्रजयति’  
 प्रकर्षेण जयते । अस्तु संवत्सरस्य जयः , एतावता कथं फलस्या-  
 क्षयत्वमिदं गिति , तदाह— “सर्वं वा इति । भूतवर्त्तमान-

\* ‘शुनासीरीय मतः’—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† पा० सू० ३. २. ८५ ।

‡ पा० सू० ६. १. ८१ ।

§ भा० प० २३६ धा० ।

॥ “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति”—इति आप०  
 श्रौ० सू० ८. १. १ । ¶ ‘चातुर्मास्यानि त्रीण्येव’—इतीह हरिश्चामी ।

भविष्यत्कालत्रयावच्छिन्नं सर्वं वस्तु संवत्सरमध्ये एवान्तर्भूतम् ; संवत्सरस्तु कृत्स्नव्यापितया अनादिरनन्त इति तज्ज्यं फल मपि अज्यं भवतीत्यर्थः । प्रकारान्तरेणाप्यज्यत्वं प्रतिपादयति— “ऋतुरु हैवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन चातुर्मास्ययजनेन वसन्ता-  
द्यृत्वात्मक एव ‘भूत्वा’ ‘देवानप्येति’ चातुर्मास्ययाजी अपि गच्छति , देवानाञ्च सुकृत मज्य मेव भवति । अतः ‘एतेन’ देवेष्वपि प्रापणेन ‘अस्य’ ‘सुकृतम्’ ‘अज्यम्’ एव ‘भवति’ ॥ १ ॥

इत्थं वैश्वदेवादीनां त्रयाणां फल मुपपाद्य शुनासीर्य-  
यागस्य आगादिकं फलं दर्शयति— “अथ यस्मादिति । ‘यस्मात्’  
हेतोः यजमानः ‘शुनासीर्येण’ पर्वणा ‘यजते’, तस्मात् तत्फल  
मुच्यत इत्यर्थः । “या वै देवाना मित्यादि । ‘साकमेधैः’  
प्रागुक्तैर्यागैः ‘ईजानानाम्’ इष्टवतां ‘विजिग्यानानां’ हविसुरं  
जितवतां देवानां ‘या’ ‘अः’ सम्पत् ‘आसीत्’, ‘तत्’ ‘शुनम्’  
सुखतामेतत् \* , सुखहेतुत्वात् शुन मित्युच्यत इत्यर्थः । ‘अथ’  
वैश्वदेवादिभिः त्रिभिस्त्रिभिश्चातुर्मास्यैः प्रस्थितस्य ‘संवत्सरस्य’  
‘यो रस आसीत्’ सुखहेतुः सारभूतोऽशोऽभवत् , तत् ‘सीरम्’  
ब्रूयुच्यते । “या चैव देवाना मित्यादिः , उक्तार्थानुवादः ।  
“त मेवैतदुभय मिति । यदेतत् शुना सीरं चोक्तम् , ‘एत-  
दुभयम्’ एतेन शुनाशीर्ययागेन ‘परिगृह्य’ यजमानः ‘आत्मन्’  
स्वात्मनि ‘कुरुते’ धारयति । इत्थं प्रवृत्तिहेतुफल मुपपाद्य  
तत्साधनभूतं यागं विधत्ते— “तस्मादिति । उक्तलक्षणौ शुनासीरौ  
अधिदेववायादिरूपेणावस्थितौ । सास्य देवतेत्यर्थे शुनासीरशब्दाद्



यत् । तद्विवर्योगात् वक्ष्यमाणं हविस्समुदायसाध्यं कृत्स्नं कर्म  
अनेन व्यपदिश्यते । यस्मादुक्तफलसाधनत्वम् , तस्माच्छुना-  
सीरीयास्थेनानेन चतुर्थेन पर्वणा यजतेत्यर्थः \* ॥ २ ॥

प्रयोगकर्म वक्तुं प्रतिजानीते— “तस्यावृद्धिति । ‘तस्य’  
शुनासीर्यस्य ‘आवृत्’ क्रिया उच्यत इति शेषः । पूर्वेषु  
पर्वस्विव प्रसक्त मुत्तरवेदिनिर्वपनादिकं निषेधति— नोप-  
किरन्तीत्यादिना । प्रयाजानुयाजादयोऽपि प्रकृतिवदेवेत्याह—  
“पञ्चेति † ॥ ३ ॥

पञ्च हवींषि विधत्ते— “अथैतान्येवेति । वैश्वदेवादिषु  
पर्वस्वनुष्ठितान्यानेयादीनि पञ्च हवींषि अत्रापि कर्त्तव्यानि  
भवन्तीत्यर्थः । क्लृप्तफलत्वेनैतानि प्रशंसति— “एतैर्वा इति ।  
वैश्वदेवेष्वनुष्ठितैः ‘एतैर्हविर्भिः’ खलु पुरा ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाः’  
सृष्टवान् । वरुणप्रघासेष्वनुष्ठितैरेव ताः ‘प्रजाः’ ‘उभयतो  
वरुणपाशात्’ ऊर्द्धाधःकायस्थितात् ‘प्रामुञ्चत्’ प्रमुक्तवान् । तथा  
साकमेधेष्वनुष्ठितैरेव पञ्चभिर्हविर्भिः ‘देवाः’ ‘वृत्रम्’ असुरम्  
‘अघ्नन्’, हत्वा च ‘एतैः’ एव ‘व्यजयन्त’ विजयं प्राप्तवन्तः ।  
यथैवेतानि कृत्स्नाभिलषितफलसाधनानि , ‘तथो’ तथैव खलु  
‘एषः’ यजमानः ‘एतैः’ शुनासीर्यास्थे चतुर्थे पर्वणि अनुष्ठीय-  
मानैः , आनेयादिभिः पञ्चभिर्हविर्भिः शुनासीरीयं ‡ यदेतदनु-  
क्रान्तम् , ‘तदुभयं’ फलम् ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘परिगृह्य’ स्वाधीनं  
‘कुरुते’ । “तस्मादिति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४ ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† ‘पौर्णमासधर्मा बर्हिर्वर्जम्’—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ३ ।

‡ ‘शुनासीर्य’—इति कृ-पाठः ।

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथ शुनासीर्य इति \* । शुनासीरौ वायादित्यौ देवते अस्य स शुनासीर्यः । ‘सीर आदित्यः’—इति हि यास्कः † । दिवचनेन कात्यायनोऽपीम मर्थ मस्-चयत्— “शुनासीराभ्यां द्वादशकपालः”—इति ‡ । उक्तं वाक्य-शेष मत्राप्यतिदिशति— “स बभ्रुरिति । कृत्स्नस्य कर्मणः फलप्रतिपादनसमये ‘यं पूर्वं’ वाक्यशेषं “या वै देवानाम्”—इत्या-दिकम् ‘अवोचाम’ उक्तवन्तः § , ‘सः’ एव अस्यापि ‘शुना-शीर्यस्य’ हविषः स्तावकः ; उक्तविधयोरेव वायादित्यरूपेणा-वस्थितत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं हविविधत्ते— “अथ वायव्य मिति ॥ । वायुदेवता अस्य तद् ‘वायव्यम्’ । “वाय्वृतुपितृषसो यत्”—इति ¶ यत् । पयसस्तावत् अत्रानुकूल्यं दर्शयति— “पयो ह वा इति । ‘जाताः’ सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘पयः’ खलु ‘अभि’-लक्ष्य ‘सञ्ज्ञानते’ सञ्ज्ञानाना भवन्ति । अतः पयसः सम्पत्तिहेतुत्वात् ‘विजिग्यानं’ साक-मेधैर्विजितवन्तम् ‘एनं’ यजमानं ‘अियै’ सम्पदे , ‘यशसे’ कीर्त्यै ‘अन्नाद्याय’ अन्नादनसामर्थ्याय च सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अभिसञ्ज्ञानान्तै’ अभिसञ्ज्ञानीरन् , अनुमन्यन्ता मिति ; अनेनाभिप्रायेण पयसः करण मित्यर्थः ॥ ६ ॥

\* “निखेभ्योऽधिकानि”—इत्यादीनीह का० श्रौ० सू० ५. ११. ५ द्रष्टव्यानि ।

† “शुनासीरौ शुनो वायुः , शु इत्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः , सरणात्”—इति निरु० ६. ४. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ११. ५ ।

§ ४०४ ए० १० पं० ।

॥ “वायव्यं पयः , यवागूर्वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ६, १०

¶ पा० सू० ४. २. ३१ ।

तस्य वायुदेवत्वत्व मनूय स्तीति— “तद्यदिति । “एष वा इत्यादि । ‘यदिदं किञ्च’ भूम्यां स्थितं स्थावरादिकं ‘वर्षति’ वृष्ट्या सिञ्चति , इदं सर्वम् ‘एषः’ खलु पवमानः ‘प्रप्याययति’ प्रवर्द्धति । “ओ प्यायी वृष्टी”—इति \* धातुः । तस्माद् वृष्टात् पवमानेन प्रप्यायितात् ‘ओषधयो जायन्ते’, ताश्च ‘ओषधीः’ ‘जग्ध्वा’ भक्षयित्वा “अदो जग्धिर्लपि किति”—इति † अदेर्जग्धादेशः । ओषधिभक्षणानन्तरम् ‘अपः पीत्वा’ पशवः पयो दुहन्ति । ‘एतदद्वाः’ सकाशात् ‘पयः’ ‘सम्भवति’ उत्पद्यते । तस्मात् परम्परया ‘एष हि’ पवमानः ‘एतत्’ पयो ‘जनयति’ उत्पादयति ‡ । तस्मादस्य वायुर्देवतेत्येतदुक्तं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते— “अथ सौर्य इति § । अस्य हविषः सूर्योऽभिगोमेत्याह— “एष वै सूर्य इत्यादिना । “साधुना त्वदित्यादि । ‘साधुना’ शोभनेन कर्मणा ‘त्वत्’ एकं पुण्य-  
कृतं जनम् ‘एषः’ सूर्यः ‘अभिगोपायति’ । न केवलं रक्षण-  
मत्र शोभनात्मकम् । ‘इदं सर्वं’ जगत् , एष एव सूर्यो ‘विदधाति’ करोति ; विदधानः सः ‘त्वत्’ एकं ‘साधौ’ पुण्ये कर्मणि स्थापयति , ‘त्वत्’ एकम् अन्यत् ‘असाधौ’ पापकर्मणि स्थाप-  
यति । ‘एषः’ खलु हिरण्यगर्भरूपः स आत्मा । अस्य हि साध्वसाधुकर्मणः कारयित्व मन्यत्र चान्नायते— “एष ह्येव साधु कर्म कारयति , तेषा मेभ्यो लोकेभ्य ऊर्द्धं निनीषते ;

\* भा० आ० ४८८ धा० ।

† पा० सू० २, ४, ३६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, १, ७, ८, ६ ।

§ “सौर्य एककपालः”—इति का० श्रौ० सू० ५, ११, ११ ।

एष ह्यसाधु कर्म कारयति, तेषा मेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनी-  
षते”—इति ।

“एष मेल्यादि । एव मुक्तविधः सूर्य एषः अनेन हविषा  
‘प्रीतः’ सन् ‘विजिग्यानं’ साकमेधैः विजितवन्तं ‘मा’ मां  
‘साधुना’ कर्मणा ‘अभिगोपायत्’ अभिरक्षति, तथा तस्मिन्  
‘साधौ’ शोभने कर्मणि मां ‘विदधत्’ विदधातु, प्रेरयतु  
‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानः सौर्यं हविः कुर्यात् । ‘त्वत्’  
—इति, एतदत्र कियाविशेषणत्वेन योज्यम् ॥ ८ ॥

तस्येककपालस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्याश्वः प्र्वेत इति ।  
‘तस्य’ सौर्यस्य हविषः प्र्वेतः अश्वविशेषो ‘दक्षिणा’ \* ।  
शुनासौर्यस्य तु षड्भिरनडुर्द्विर्युक्तं सौरं दक्षिणा । तदुक्तं सूत्र-  
कारेण— “सौरं षड्योगं दक्षिणा”—इति † । “तदेतस्येत्यादि ।  
‘एतस्य’ सूर्यस्य सितभावस्वरूपत्वात् प्र्वेताश्वदान मेतदीय  
रूपकरण मित्यर्थः । तादृशाश्वालाभे तादृशो गौर्देय इत्याह—  
“यद्यश्व मित्यादि ‡ ॥ ९ ॥

अथ शुनासौर्ययागस्य कालं विधत्ते— “स यत्रैवेत्यादिना ।  
‘यत्र’ यस्मिन् ‘एव’ काले ‘साकमेधैर्यजते’, ‘तत्’ तदानीम्,  
तदनन्तरकाले एव § ( सः ॥ ) यजमानः शुनासौर्येण ‘यजेत’ ।

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १४ क ।

† का० श्रौ० सू० ५. ११. १२ । सौरम् = हलम् । ‘युज्यन्त इति  
योगाः बलीवर्दाः’—इति च तत्र या० दे० । “ओष्ठारौ वा”—इति च  
तदुत्तरसूत्रम् । ‘वोष्ठारौ महान्तौ बलीवर्दौ, न सौरम्’—इति च तद्दृष्टिः ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ११. १५ । ‘गौः श्वेतः’—इति चात्र या० दे०

§ ‘तदनन्तरकाल मेव’—इति च-पाठः ।

॥ नास्त्येतत् पदं च-पुस्तके ।

न तु शुनासीर्यस्यापि चातुर्मास्यत्वात् मासचतुष्टयस्य व्यवधानं  
मपेक्षितं मित्यत आह—“यदा इति । चतुर्षु चतुर्षु मासेषु  
संवत्सरस्य मध्ये वैश्वदेव-वरुणप्रघास-साकमेध-भेदेन ‘त्रिः’ त्रिवारं  
‘यजते’ इति यत्, ‘तेनैव संवत्सरः माप्नोति’ । वैश्वदेवादयः  
प्रत्येकं चातुर्मास्ययुक्ता \* इति तदनुष्ठानेनैव तेषां द्वादशानां  
मवाप्तत्वात् तत्समुदायरूपः संवत्सरोऽपि यजमानस्य स्वायत्तो  
जात इत्यर्थः । उक्तं मर्थं निगमयति—“तस्मादिति ।  
यस्मात् चतुर्थपर्वणः शुनासीर्यस्य संवत्सरातिरिक्तः प्रातिस्विकः  
कालो नास्ति, तस्माद् यदा कदाचिदेव साकमेधानन्तरं  
यजेतेत्यर्थः † । एतदेवानन्तर्यं सूत्रकृताप्युक्तम्—“शुनासी-  
रीय मतः”—इति ‡ ॥ १० ॥

सोमेन यज्यमाणस्य पक्षान्तरं माह—“तद्वैक इति ।  
‘तत्’ तत्र खलु शुनासीर्यानुष्ठाने ‘एके’ शाखिनः ‘रात्रीः  
आधिपयिषन्ति’ अनेन यागेन कतिचिद् रात्रीः आमुं मिच्छन्ति ।  
अत एवोक्तं मापस्तम्बेन—“ततो द्वाहे त्राहे चतुरहेऽर्द्धमासे  
मासि चतुर्षु वा मासेषु शुनासीरीयेण यजते”—इति § ।  
तेषां मते सोमेन यज्यमाणस्य शुनासीर्यकाल उच्यत इत्यर्थः ।

\* ‘चतुर्मासयुक्ता’—इति का०-सू०-टि०-धृतः पाठः ( ५. ११. १. ) ।

† अत्र हरिश्वाभिः—“यस्मिन् काले साकमेधैर्यजते, ततः  
तत्रैव शुनाशीर्येणेति, न तद्विषयमनियमोऽयम्, किन्तुर्हि? यत् पूर्वयोः  
पर्वणोरुक्तम् चतुर्थे मासीति, तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । साकमेधः प्रत्या-  
सन्ने यजनौघेऽह्नि यजते, नियमतश्चतुर्थं मासं नाद्रियेतेत्यर्थः । कुत  
एतत्? तस्माद् यदेव कदा चैतेन यजेतेत्यप्रसंहारात्”—इति ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ११. १. “यदेच्छेत्”—इति चैतदुत्तरसूत्रम् ।

§ आप० श्रौ० सू० ८. २०. १ ।

यदि हि 'रात्रीः' 'आपिपयिषेत्' आप्तु मिच्छेत्, तदा आगामिनीभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्ता पौर्णमासी फाल्गुनी; षष्ठ्यर्थं चतुर्थी; 'फाल्गुन्यै' फाल्गुन्याः पौर्णमास्याः 'पुरस्तात्' 'यत्', 'अदः'—इति विप्रकृष्टे, 'उत्' ऊर्ध्वं चन्द्रमाः अस्मिन् दृश्यते इति 'उद्दृष्टं' शुक्लपक्षः, 'तत्' तत्र प्रतिपदाद्यन्यतमस्यां तिथौ 'शुनासीर्येण यजेत' \* ॥ ११ ॥

“अथ दीक्षेतेति । ‘अथ’ अनन्तर मेव सोमयागार्थं ‘दीक्षेत’ कालविलम्बो न कार्य इत्यर्थः । देवान्मानुषाहा विघ्नात् विलम्बेऽपि तस्यावधि माह— “तं नानीजान मिति । इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्यापस्तम्बोऽप्याह— “चातुर्मास्यैरिष्टा सोमेन पशुना वा यजते, फाल्गुन्या उद्दृष्टे सोमाय दीक्षते, तं ततो नानीजान मपरा फाल्गुनी पर्यवेयात्”—इति † । तदत्यये दोष माह— “पुनरिति । ‘अनीजानम्’ ‘एनम्’ यजमानम् ‘पुनः’ फाल्गुनी पौर्णमासी न अतिक्रामेत् इति यत्, स ‘पुनः’ प्रयोगरूप इव ह’ भवति ; चातुर्मास्यानां प्रयोगस्य एतस्मिन् काले कर्त्तव्यत्वात्, तस्य चानाचरितत्वात् पुनःप्रयोगाङ्गभूतोऽयं कालो भवेदित्यर्थः । प्रतिपादितं प्रतिषेधं निगमयति— “तस्मादिति । अथञ्च पक्षोऽधिकारिविशेषस्यैवेति निगमयति— “इति न्विति । द्विविधौ हि चातुर्मास्याजिनौ सकृदनुष्ठायो-

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १५ । ‘फाल्गुन्युद्दृष्टे’ = फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि—इति या० दे० । “उद्दृष्टं” = शुक्लपक्षः, तस्मिन् प्रतिपद्वेव शुनासीर्येण यजेत, अथानन्तरं तस्मिन्नन्यस्मिन् वा दिवसे दीक्षानुमारेण दीक्षेत—इतीह हरिस्वामी ।

† आप० श्रौ० सू० ८. २१. २, ३, ४ ।

सृजमानः पुनः-प्रयुञ्जानश्च । तत्र 'उत्सृजमानस्य' खलु अयं  
मुक्तः पक्ष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

कस्तर्हि तानि पुनः-प्रयुञ्जानस्य पक्ष इति दर्शयति—  
“अथ पुन रिति \* । चातुर्मास्यानि सक्तत् संयज्य अनन्तर  
मेव यः तानि पुनरारभ्यते, तस्य पुनरारभमाणस्य 'फाल्गुन्यै  
पौर्णमास्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, तस्याः 'पूर्वेद्युः' पूर्वदिवसे  
चतुर्दश्यां 'शुनासीर्येण यजेत', 'अथ' अनन्तर मेव 'प्रातः'  
काले पौर्णमास्यां 'वैश्वदेवेन' 'यजेत', तदनन्तरम् नित्येन  
पौर्णमासयागेनित्यं प्रयोगक्रमः । तदुक्तं कात्यायनेन—“फाल्गु-  
न्युपवसथे शुनासीरीयम्, प्रातर्वैश्वदेवम्”—इति † । “एतदु  
पुनरिति, प्रतिज्ञातार्थनिगमनम् ॥ १३ ॥

चातुर्मास्याङ्गभूतं वपनं मीमांस्यते—“अथात इत्यादिना ।  
अत इति वक्ष्यमाणार्थपरामर्शः । 'अतः' अस्माद् वक्ष्यमाणा-  
हेतोः 'परिवर्त्तनस्य' परितः केशश्मश्रुदीनाम् वर्त्तनस्य ‡  
वपनस्य विचारो § ऽधिक्रियते इत्यर्थः ॥ । एतत् परिवर्त्तनं  
विधातु मन्वादत्वेनादित्य मन्त्रिं च स्तौति—“सर्वतोमुखो वा

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १६ द्रष्टव्यम्; आप० श्रौ० ८. २१. ६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ११. १७, १८ ।

‡ 'आवर्त्तनस्य'—इति छ-पाठः ।

§ 'विकारो ( विचारो )'—इति च-पाठः ।

॥ “हृदयशूलान्ते वपनम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. २६ ।  
'पर्वमंस्थानसु यद् वपनं मुक्तं वैकल्पिकम्, तत् सप्तशुद्धं हृदयशूलान्ते=  
हृदयशूलसमिदाधानान्ते कर्त्तव्यं मित्यर्थः'—इति तट्टीकायां या० दे० ।  
अन्वत् सर्वं मन्त्रं निरूपयति चैतावन्तैव सम्यग्गम् ।

असावादित्य इत्यादिना । सर्वतः सर्वासु दिक्षु मुखं रसा-  
दानसामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः । सर्वतोमुखत्वं सुपपादयति—  
“एष वा इति । ‘निर्द्वयति’ रसं निष्कृष्य पिबति । अतः  
एतत् सर्वं घर्मकाले ‘शुष्यति’ शोषणं प्राप्नोति , सर्वं जमद्  
व्याप्य स्थितस्य सूर्यस्य स्वकिरणेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

“सर्वतोमुखोऽयं मन्त्रिरिति । अत्रापि तथैव योजना ।  
“यतो ह्येवेति । यतः कुतश्चिदपि दिग्भागादित्यर्थः । ‘अभ्या-  
दधति’ अभिप्रक्षिपति । “तत एवेति । तस्मिन्नपि दिग्भागे  
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एव मन्त्र्यादित्ययोः सर्वतोमुखत्वेन अन्नादत्वं प्रतिपाद्य  
पुरुषस्य स्वाभाविकं तद्वैपरीत्यं माह— “अथाय मिति । ‘अथ’-  
शब्दः त्वर्थे । ‘अयं’ तु ‘पुरुषः’ यजमानः ‘अन्यतोमुखः’ ।  
अन्यशब्द एकशब्दपर्यायः । अन्यतः एकत्र स्थित मेव मुखं  
यस्य , स तथोक्तः । तस्य सर्वतोमुखत्वसम्पत्तिं माह— “स  
एतदिति । ‘यद्’ यस्मात् परितः शिरो वर्त्तयते , केशान्  
वापयति , ‘एतत्’ एतेन अलोमकत्वसाम्यात् शिरसः प्रान्तदेशा  
अपि मुखं मिव भवन्तीति स यजमानः सर्वतोमुखो भवति ।  
इत्थं पुरुषस्य सर्वतोमुखत्वं प्रतिपाद्य प्रामुक्तं दृष्टान्तद्वयसिद्ध-  
मर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति— “स एव मेवेति । ‘यथा’ ‘एतौ’  
आदित्योऽग्निश्च सर्वतोमुखत्वात् अन्नादौ , ‘एव मेव’ यजमानो-  
ऽपि ‘अन्नादः’ सर्वतो दिक्षुः समत्तुं समर्थो भवति । “तस्मादिति ,  
उपपादितस्य परिवर्त्तनस्य निगमनम् ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरेण सर्वतोमुखत्वं प्रतिपादयन् परिवर्त्तनं न  
कर्त्तव्यं मिति पक्षान्तरं माह— “तद् होवाचेति । ‘नत्’



तत्र , तस्मिन् परिवर्त्तनविषये 'आसुरिः' नाम महर्षिः आह स्व ।  
 'यदपि' यदि नाम 'सर्वाण्येव लोमानि' परितो 'वपेत',  
 तथापि तत्तन्मुण्डिते देशे 'मुखस्य' सम्बन्धि किन्नामावयवजातं  
 निष्पन्नं भवति ? न ह्यलीमकत्वमात्रेण मुख मिति व्यवहर्त्तुं  
 शक्यते , किन्तु बहुश्रीताद्यवयवमस्त्यैव ; अतो नैतेन परि-  
 वर्त्तनेन सर्वतोमुखत्वं लभ्यत इत्यर्थः । कथन्तर्हि सर्वतोमुखत्वं  
 पुरुषस्य ? तत्राह— "त्रिः संवत्सरस्येति । 'संवत्सरस्य' मध्ये  
 वैश्वदेवादिभेदेन 'त्रिः यजते', 'तेनैव' अयं यजमानः 'सर्वतो-  
 मुखः' ; ऋत्विजस्य संवत्सरस्य यागेन प्राप्तत्वात् । "तेनैवेति ।  
 अत्रादहेतुभूतं सर्वतोमुखत्वं प्रकारान्तरेणैव सिध्यति । "तस्मा-  
 दिति । 'तस्मात्' परिवर्त्तनं 'न आद्रियेत' इत्यासुरेर्मतस्य  
 निगमनम् ॥ १७ ॥ ४ \* [ ६. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* त्रिविधानि चातुर्मास्यानि भवन्ति । ऐहिकानि , पाशुकानि , सौमि-  
 कानि च । तत्र ऐहिकान्येवेष्टोक्तानि विशेषतः , छान्दोग्यादिविहितानि  
 सौमिकानि तु का० श्रौ० सू० द्वाविंशाध्याये सप्तम्यां कण्डिकायां वर्णितानि,  
 पाशुकान्यपि तत्रैव तत उत्तरस्मिन्नध्याये वर्णितानीति द्रष्टव्यम् ।  
 "सपशुषु पशुतन्त्रम् प्राधान्यात् , पूर्वदुर्वैश्वदेवे पाशुकम्"—इत्यादीनि  
 च सूत्राणीह ( का० श्रौ० सू० ५. ११. १६—३१. ) समालोचनीति दिक् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् )

तद्यदाहुः । साकमेधैर्व्वै देवा व्वृत्रमघ्नंस्तैर्व्वैव \*  
 व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मिति सव्वैर्ह  
 त्वेव देवाश्चातुर्मास्यै व्वृत्र मघ्नन्त्वैर्व्वैव व्यजयन्त  
 येय मेषां व्विजितिस्ताम् † ॥ १ ॥

ते होचुः । केन राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम  
 इति स ह्माग्निर्वाच मया राज्ञा मयानीकेनेति  
 ते ऽग्निना राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः  
 प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा च त्रय्या च व्विद्यया  
 पर्यगृह्णन् ॥ २ ॥

ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन यो-  
 त्स्याम इति स ह्म व्वरुण उवाच मया राज्ञा  
 मयानीकेनेति ते व्वरुणेनैव राज्ञा व्वरुणेनानी-  
 केनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा चैव  
 त्रय्या च व्विद्यया पर्यगृह्णन् ॥ ३ ॥

\* 'स्तैर्व्वैव'—इति, 'वैर्व्वैव'—इति च पाठौ दृश्यौ डा०-वेबरस्य ।

† 'व्विजितिस्ताम्'—इति ग, घ ।

ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम  
इति स हेन्द्र उवाच मया राज्ञा मयानीके-  
नेति त इन्द्रेणैव राज्ञेनानीकेनापरांश्चतुरो  
मासः प्राजयन्तान् ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया  
पर्यगृह्णन् ॥ ४ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निनैवैतद्राज्ञाग्नि-  
नानीकेन चतुरो मासः प्रजयति तत् चेानी  
शलली भवति लोहः चुरः सा या चेानी शलली  
सा त्रय्यै विद्यायै रूपं लोहः चुरो ब्रह्मणा  
रूपं मग्निर्हि ब्रह्म लोहित इव ह्यग्निरुस्माल्लोहः  
चुरो भवति तेन परिवर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन  
मेतत्त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते व्वरुणेनैवैतद्राज्ञा  
व्वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्  
चेानी शलली भवति लोहः चुरस्तेन परि-  
वर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतत् त्रय्या च  
विद्यया पर्यगृह्णाति ॥ ६ ॥

अथ यत्साकमेधै र्यजते । इन्द्रेणैवैद्राज्ञे-  
न्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्

चेन्नानी शलली भवति लोहः क्षुरस्तेन परिवर्त्त-  
यते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतत्तय्या च विद्यया  
परिगृह्णाति ॥ ७ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निरेव तर्हि  
भवत्यग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यद्  
व्वरुणप्रघासैर्यजते व्वरुण एव तर्हि भवति व्वरुण-  
स्यैव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधै-  
र्यजत इन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यं  
सलोकतां जयति ॥ ८ ॥

स यस्मिन् हऽर्तावमुं लोक मेति । स एन  
मृतुः परस्मा ऽकृतवे प्रयच्छति पर उ परस्मा  
ऽकृतवे प्रयच्छति स परम मेव स्थानं परमां  
गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी तदाहुर्न चातु-  
र्मास्ययाजिन मनुविन्दन्ति परमुं ह्येव खलु \* स  
स्थानं परमां गतिं गच्छतीति ॥ ९ ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६. ४.] ॥

वैश्वदेवादिषु सर्वेषु परिवर्त्तनं सेतिकर्त्तव्यताकं विधित्सु-  
स्तेषां सर्वेषां हववधहेतुत्वं विजयहेतुत्वं च समान मिति  
प्रतिपादयति— “तद्यदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र उक्तविषये साक-  
मेधाना मेव हववधहेतुत्वं जयहेतुत्वञ्चेति ‘यद्’ ‘आहुः’ कथ-  
यन्ति , तत्र ; तथा ‘सर्वैरेव’ हि ‘चातुर्मास्यैः’ चतुर्षु-चतुर्षु  
मासेषु प्रयुज्यमानैः वैश्वदेवादिभिः हवहननं विजयञ्च प्राप्त-  
वन्तो ‘देवाः’ इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र वैश्वदेवेन जित मर्थं मास्यायिकया दर्शयति—“ते  
होचुरिति । ‘ते’ देवाः खलु प्रजापतिं पितरं महिलष्य  
परस्परं वाचम् ‘ऊचुः’ । “केनानीकेनेति । अनीकं सेना-  
मुखम् , सेनान्येत्यर्थः । “चतुरो मास इति । “पद्म०”—  
इत्यादिना \* मासशब्दस्य माम् इत्ययं मादेशः । “तान्  
ब्रह्मणा चेति । ‘तान्’ विजितान् मासान् ‘ब्रह्मणा’ “अग्निं हिं  
ब्रह्म”—इत्यग्रे विवरिष्यते † , अतो ब्रह्मणा अग्निना , ‘तव्या’  
वेदत्रयरूपया ‘विद्यया च’ देवाः ‘पर्यगृह्णन्’ परितो धारयन् ॥ २ ॥

एवं वैश्वदेवस्याग्निप्रमुखत्वं मुक्त्वा वरुणप्रधासेषु वरुण-  
प्रमुखत्वञ्चाह— “ते होचुरिति । “अपरांश्चतुर इति । आषा-  
ढादीनित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ एवं साकमेधेषु इन्द्रप्रमुखत्वम् ,  
‘अपरान्’ कार्तिकादीनित्येव विशेषः ॥ ३ , ४ ॥

इत्थं प्रतिकृत्यपन्यासेन वैश्वदेवादिषु पर्वसु प्रतिपादितं मर्थं  
यजमानेऽपि क्रमेण योजयति— “स यद् वैश्वदेवेनेत्यादिना ।  
“ब्रह्मणा च तव्या च विद्यया पर्यगृह्णन्”—इति यदुक्तम् ,  
तस्य प्रतिकृति माह— “त्रेयनीति । त्रिषु स्थानेषु ‘एतः’

चे॒रनी श॒लली भ॒वति लो॒हः क्षु॒रस्तेन पु॒रिवर्त्त॑-  
यते तद् ब्र॒ह्मणा चै॒वैन मे॒त॒क्षय्या च वि॒द्यया  
प॒रिगृ॒ह्णाति ॥ ७ ॥

स य॒द्वैश्व॒देवेन॑ यु॒जते । अ॒ग्निरे॒व त॒र्हि  
भ॒वत्य॒ग्नेरे॒व सा॒युज्य॑ स॒लोक॑तां ज॒यत्य॒थ यद्  
व्य॒हण॑प्र॒धासैर्य॒जते व्य॒हण॑ ए॒व त॒र्हि भ॒वति व्य॒हण॑-  
स्त्रै॒व सा॒युज्य॑ स॒लोक॑तां ज॒यत्य॒थ य॒त्साक॑मेधै-  
र्य॒जत ऽइ॒न्द्र ए॒व त॒र्हि भ॒वती॒न्द्रस्त्रै॒व सा॒युज्य॑  
स॒लोक॑तां ज॒यति ॥ ८ ॥

स य॒स्मिन् ह॒ऽर्ता॒वमुं॑ लो॒क मे॒ति । स॒ ए॒न  
मृ॒तुः प॒रस्मा ऽऋ॒तवे॑ प्र॒यच्छ॑ति प॒र उ॒ प॒रस्मा  
ऽऋ॒तवे॑ प्र॒यच्छ॑ति स॒ प॒रम॑ मे॒व स्था॒नं प॒रमां  
ग॒तिं ग॒च्छति॑ चा॒तुर्मा॑ख॒याजी त॒दाहु॑र्न चा॒तु-  
र्मा॑ख॒याजिन॑ म॒नुवि॑न्दन्ति प॒रम॑ ख॒लु \* स  
स्था॒नं प॒रमां॑ ग॒तिं ग॒च्छती॑ति ॥ ९ ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६. ४.] ॥

वैश्वदेवादिषु सर्वेषु परिवर्त्तनं सेतिकर्त्तव्यताकं विधित्सु-  
स्तेषां सर्वेषां हववधहेतुत्वं विजयहेतुत्वं च समान मिति  
प्रतिपादयति— “तद्यदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र उक्तविषये साक-  
मेधाना मेव हववधहेतुत्वं जयहेतुत्वञ्चेति ‘यद्’ ‘आहुः’ कथ-  
यन्ति , तत्र ; तथा ‘सर्वैरेव’ हि ‘चातुर्मास्यैः’ चतुर्षु-चतुर्षु  
मासेषु प्रयुज्यमानैः वैश्वदेवादिभिः हवहननं विजयञ्च प्राप्त-  
वन्तो ‘देवाः’ इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र वैश्वदेवेन जित मर्थं मास्यायिकया दर्शयति—“ते  
होचुरिति । ‘ते’ देवाः खलु प्रजापतिं पितरं मभिलष्य  
परस्परं वाचम् ‘जुचुः’ । “केनानीकेनेति । अनीकं सेना-  
मुखम् , सेनान्येत्यर्थः । “चतुरो मास इति । “पद्म०”—  
इत्यादिना \* मासशब्दस्य माम् इत्ययं मादेशः । “तान्  
ब्रह्मणा चेति । ‘तान्’ विजितान् मासान् ‘ब्रह्मणा’ “अग्निं हिं  
ब्रह्म”—इत्यग्रे विवरिष्यते † , अतो ब्रह्मणा अग्निना , ‘तव्या’  
वेदत्रयरूपया ‘विद्यया च’ देवाः ‘पर्यगृह्णन्’ परितो धारयन् ॥ २ ॥

एवं वैश्वदेवस्याग्निप्रमुखत्वं मुक्त्वा वरुणप्रधासेषु वरुण-  
प्रमुखत्वञ्चाह— “ते होचुरिति । “अपरांश्चतुर इति । आपा-  
टादीनित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ एवं साकमेधेषु इन्द्रप्रमुखत्वम् ,  
‘अपरान्’ कार्तिकादीनित्येव विशेषः ॥ ३ , ४ ॥

इत्थं प्रतिकृत्यपन्यासेन वैश्वदेवादिषु पर्वसु प्रतिपादितं मर्थं  
यजमानेऽपि क्रमेण योजयति— “स यद् वैश्वदेवेनेत्यादिना ।  
“ब्रह्मणा च तव्या च विद्यया पर्यगृह्णन्”—इति यदुक्तम् ,  
तस्य प्रतिकृति माह— “वेदनीति । त्रिषु स्थानेषु ‘एतः’

श्वेतवर्णो \* यस्याः सा त्रेनी । “वर्णादनुदात्तात्”-इति †  
 एतशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च । श्वाविश्वामकस्य  
 मृगस्य लोम ‘शलली’ ‡ । उक्तलक्षणा सा वक्ष्यमाणपरिवर्त्तन-  
 हेतुत्वेन स्वीकार्या । तत्र शलल्यास्त्रयीप्रतिरूपत्व माह— “सा  
 येति । ‘सा’ पूर्वोक्ता ‘या’ ‘त्रेनी शलली’, सा त्रित्वसङ्ख्या-  
 विशिष्टगुणोपेतत्वात् त्रय्या विद्यायाः स्वरूपम् । ‘लोहः’  
 लोहितवर्णस्ताम्रमयः ‘क्षुरः’, स ‘ब्रह्मणो रूपम्’ । कथं  
 ब्रह्मणो लोहितवर्णत्व मिति तदाह— ‘अग्निर्हीति । स च  
 ब्रह्मशब्दवाच्यो ऽग्निः लोहितवर्णः ‘इव’ हि भवति ; ‘तस्मात्’  
 लोहितवर्णः ‘क्षुरः’ ब्रह्मणः प्रतिरूप मित्यर्थः । ‘तेनेत्यादि ।  
 ‘तेन’ क्षुरेण, तथा शलल्या च ‘परिवर्त्तयते’ शलल्या केशान्  
 विभज्य क्षुरेण परितो वापयेदित्यर्थः § । “ब्रह्मणा चैवेति ।  
 ‘एनं’ यजमानम् ‘एतत्’ एतेन शललीलोहक्षुरकृतेन परि-  
 वर्त्तनेन, अग्निरूपेण तेन ‘ब्रह्मणा’ क्षुरनिदानभूतेन, ‘त्रय्या  
 वेदत्रयरूपया ‘विद्या’ च सर्वतोमुखत्वसम्पादनद्वारा अनया  
 ‘परिगृह्णाति’ परितः सर्वासु दिक्षु धारयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘एतं ( एनं ) श्वेतं वर्णो’-इति च-पाठः ।

† पा० सू० ४. १. ३६ ।

‡ ‘शल्यकण्टगस्याङ्गरुहा सूचिः शलली’-इति ( ८. ४. १. )  
 व्याप० श्रौ० सू० व्याख्यायां रुद्रदत्तः ।

§ ‘वापेत्’-इति कृ-ज-पाठो डा०-वेङ्कट-दृष्टश्च ।

॥ “त्रेन्या शलल्यक्षुकाण्डेनेक्षुशलाकया वा लोहेन च क्षुरेणौ-  
 दुम्बरेण नि केशान् वर्त्तयते वापयते ऽमश्रूणि”-इति व्याप० श्रौ० सू०  
 ८. ४. १ । ‘नि वर्त्तयते = क्लिप्तं’-इति रुद्रः । प्रथमस्य वैश्वदेवपर्वणः  
 फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. १-५ द्रष्टव्यम् ।



वरुणप्रघासयागस्य वरुणप्रधानकत्वात् तेन जितव्यं फल मनुक्रामति— “अथ यद् वरुणप्रघासैरिति । “त्रेनीशललीत्यादि, उक्तार्थम् \* ॥ ६ ॥

साकमेधयागस्येन्द्रप्रधानकत्वात् तेन जितव्यं फल मनुक्रामति— “अथ यत् साकमेधैरिति † ॥ ७ ॥

इत्थं वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः द्वादशमासात्मकसंवत्सरस्वरूपा-  
वाप्तिं फलत्वेन प्रतिपाद्यः ‡, अग्न्यादिदेवतासायुज्य मपि  
तेषां फलत्वेनाचष्टे— “स यदिति । “अग्निरेव तर्हीति ।  
‘तर्हि’ तस्मिन् वैश्वदेवे यागेऽनुष्ठिते ‘सः’ यजमानः ‘अग्निः’  
अग्न्यात्मकः ‘एव भवति’ । ‘अग्नेरेव सायुज्यम्’-इति, अस्मैव  
विवरणम् । प्रथम मन्नेः सालोक्यं जयति, पश्चात् सायुज्य  
मिति योजनाक्रमः । “वरुण एव तर्हि”-इत्यादावप्येवं  
योज्यम् ॥ ८ ॥

अथ म्रियमानस्य चातुर्मास्ययाजिनो मार्गं ब्रुवन् ब्रह्म-  
लोकप्राप्तिपर्यन्तं फल माह— “स यस्मिन्निति । ‘सः’ खलु  
चातुर्मास्ययाजी ‘यस्मिन् ऋतौ’ ‘अमुं’ विप्रकृष्टं परं ‘लोकम्’  
‘एति’ म्रियते, ‘सः’ ऋतुः ‘एनं’ यजमानं स्वस्मात् ‘परस्मै  
ऋतवे’ ‘प्रयच्छति’ । उक्तैर्ये विदुषः सिद्धिं सम्पादयति—  
“तदाहुरिति । यस्मात् चातुर्मास्ययाजी परमां गतिं प्राप्त-  
वान्, ‘तत्’ तस्मात् अभिज्ञाः ‘आहुः’ कथयन्ति । कि

\* द्वितीयस्य वरुणप्रघासपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ६, ७ ।

† तृतीयस्य साकमेधपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ८ ।

‡ चतुर्थस्य शुनासौरीयपर्वणः फल मपि तै० ब्रा० १. ४. १०. ३ ।

मिति, तदुच्यते— ‘चातुर्मास्ययाजिनम्’ चातुर्मास्येनेष्टवर्त्तं  
यजमानम् अन्विष्यन्तो जनाः ब्रह्मलोकादवाचीनेषु लोकेषु ‘न  
विन्दन्ति’ न लभन्ते \* । “परमं ह्येवेति, तत्र कारणा-  
भिधानम् ॥ ८ ॥ ५ [ ६. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्वन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

---

\* “विराजो वा एषा विक्रान्तिः, यच्चातुर्मास्यानि । वैश्वदेवेना-  
र्क्षिलोके प्रत्यतिष्ठत्, वरुणप्रघासैरन्तरिक्षे, साकमेधैरसुषिंल्लोके; एष  
ह त्वा वै तत् सर्वं भवति, य एवं विद्वांश्चातुर्मास्यैर्यजते”—इति  
तै० ब्रा० १. ४. ८. ५ । अत्रैव दशमेऽनुवाके वैश्वदेववरुणप्रघाससाक-  
मेधपितृयज्ञत्रात्मकहविःसुनासीरीयाणां प्रशंसाः पृथक्-पृथगान्नाताः,  
तास्तत्रैव द्रष्टव्याः । चातुर्मास्ययाजिनः पुनरादितिराहित्यरूपं सपि बलं  
तदन्ते समान्ताव मिति ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्ह निवारयन् ।  
 पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्ताब्धीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
 रत्नोस्त्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणायौ § ,  
 व्यग्राणीद्विश्चक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुतं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्बा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो ॥ राजतं राजपूज्यः ।  
 प्राण्योत्थं प्राण्यजम्बा ¶ लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्धौ रत्नरुपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसात्सिङ्गणायः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

-----

\* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ (१) ।

† 'सप्तसीरीं'—इति ठ ।

‡ 'सायणः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणायौ' ?

॥ 'मज्जो'—इति ठ ।

¶ 'प्राण्यवृद्धिर्'—इति ठ ।

(१) ठ-इति प्रथमकाण्डोपनिषद्कोत्तारां विवृतं द्रष्टव्यम् ।

॥ इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः उमासः \* ॥

॥ इत्येकपादिकानाम द्वितीयं काण्डं समाप्तम् † ॥

\* “कण्डिकासङ्ख्या १०४”-इति क, “कण्डिकाः १०४”-इति ख, “कण्डिकासङ्ख्या १०४”-इति ग-घौ। तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा० ४८ क०, ३ ब्रा० १६ क०, ४ ब्रा० १७ क०, ५ ब्रा० ६ क०; सकलनयात्र प्रपाठके १०४ कण्डिकाः सम्पन्नाः ॥

† “एवं काण्डे ब्राह्मणानि सङ्ख्या २४। एवं काण्डे कण्डिका-सङ्ख्या शत ५४७”-इति क, खान्धपुष्ट मतिजीर्ण मिथ्यपाठम्, “अस्मिन् काण्डे कण्डिकासङ्ख्या ५४६”-इति ग-घौ। तत्र प्रथमे प्रपाठके ११४, द्वितीये १०३, तृतीये ११३, चतुर्थे ५०५, पञ्चमे १०४; सर्वसङ्कलनयात्र काण्डे ५४६ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

|                                                                                                                                                                                                        | Rs. | 8  | 0  |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|----|----|
| <b>Padmasawati</b> , Fasc. 1-4 @ 2/ ...                                                                                                                                                                | ... | 1  | 14 |
| <b>Padmāśa</b> , (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each ...                                                                                                                                                       | ... | 2  | 10 |
| <b>Prākṛita Lakṣaṇam</b> , Fasc. 1-7 @ 1/6 each ...                                                                                                                                                    | ... | 1  | 14 |
| <b>Prakṛitāśa</b> , (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/6 each ...                                                                                                                                           | ... | 0  | 12 |
| Ditto (English) Part II, Fasc. 1 ...                                                                                                                                                                   | ... | 1  | 8  |
| <b>Prākṛita Lakṣaṇam</b> , (Text) Fasc. 1 ...                                                                                                                                                          | ... | 7  | 8  |
| <b>Pracarā Vartitā</b> , (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/6 each ...                                                                                              | ... | 0  | 12 |
| <b>Pracarā</b> , Institutes of (English) ...                                                                                                                                                           | ... | 2  | 4  |
| <b>Pracarā</b> , Macintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each ...                                                                                                                                       | ... | 12 | 6  |
| <b>Pracarā</b> , Vēda Samhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10 ; II, 1-6 ; III, 1-7 ; IV, 1-6 ; V, 1-8 @ 1/8 each Fasc. ...                                                                                 | ... | 1  | 8  |
| <b>Sāṅkhyā Sātra Vitti</b> , (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 ...                                                                                                                                                | ... | 2  | 4  |
| Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each ...                                                                                                                                                              | ... | 0  | 6  |
| <b>Shaddarsana-Samuccchaya</b> , Fasc. 1, ...                                                                                                                                                          | ... | 2  | 4  |
| <b>Śraddha Kriyā Kaumudī</b> , Fasc. 1-6 ...                                                                                                                                                           | ... | 0  | 12 |
| <b>Sūcruta Samhitā</b> , (Eng.) Fasc. 1 @ 1/12 ...                                                                                                                                                     | ... | 1  | 8  |
| <b>Suddhī Kaumudī</b> , Fasc. 1-4 ...                                                                                                                                                                  | ... | 9  | 0  |
| <b>*Taittiriya Samhitā</b> , (Text) Fasc. 22-45 @ 1/6 each ...                                                                                                                                         | ... | 7  | 2  |
| <b>Tāṇḍya Brāhmaṇa</b> , (Text) Fasc. 1-19 @ 1/6 each ...                                                                                                                                              | ... | 4  | 8  |
| <b>Tantra Vartika</b> (English) Fasc. 1-6 @ 1/12 ...                                                                                                                                                   | ... | 14 | 4  |
| <b>Tattva Cintāmaṇi</b> , (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/6 each ...                         | ... | 1  | 2  |
| <b>Tattvarthadhigama Sūtram</b> , Fasc. 1-3 ...                                                                                                                                                        | ... | 1  | 2  |
| <b>Trikāṇḍa-Māṇḍanam</b> , (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6 ...                                                                                                                                                  | ... | 1  | 14 |
| <b>Tul'si Satsai</b> (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 ...                                                                                                                                                        | ... | 3  | 0  |
| <b>Upamita-bhava-prapañcha-kathā</b> (Text) Fasc. 1-8 @ 1/6 each ...                                                                                                                                   | ... | 4  | 8  |
| <b>Uvāsagadasāo</b> , (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/12 ...                                                                                                                                          | ... | 0  | 6  |
| <b>Vallala Carita</b> , Fasc. 1 ...                                                                                                                                                                    | ... | 2  | 4  |
| <b>Varsa K yā Kaumudī</b> , Fasc. 1-6 @ 1/6 ...                                                                                                                                                        | ... | 4  | 8  |
| <b>*Vāyu Purāṇa</b> , (Text) Vol. I, Fasc. 2-6 ; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/6 each ...                                                                                                                    | ... | 2  | 10 |
| <b>Vidhano Parigata</b> , Fasc. 1-7 ...                                                                                                                                                                | ... | 2  | 10 |
| <b>Vivādaratnākara</b> , (Text) Fasc. 1-7 @ 1/6 each ...                                                                                                                                               | ... | 2  | 4  |
| <b>Vijat Sayambhū Purāṇa</b> , Fasc. 1-6 ...                                                                                                                                                           | ... |    |    |
| <i>Tibetan Series.</i>                                                                                                                                                                                 |     |    |    |
| <b>Pag-Sam Thi Śiṅ</b> , Fasc. 1-4 @ 1/ each ...                                                                                                                                                       | ... | 4  | 0  |
| <b>Sher-Phyin</b> , Vol. I, Fasc. 2-5 ; Vol. II, Fasc. 1-3 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each ...                                                                                                         | ... | 14 | 0  |
| <b>Rtogs brjod dpag ḥkharī Śiṅ</b> (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5 ; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each ...                                                                                                 | ... | 9  | 0  |
| <i>Arabic and Persian Series.</i>                                                                                                                                                                      |     |    |    |
| <b>*Ālamgirnāmah</b> , with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/8 each ...                                                                                                                                    | ... | 4  | 14 |
| <b>Al-Muquaddasi</b> (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/12 ...                                                                                                                                            | ... | 2  | 4  |
| <b>Āin-i-Akbari</b> , (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each ...                                                                                                                                                  | ... | 22 | 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12 each ...                                                                                                            | ... | 29 | 12 |
| <b>Akbnāmāh</b> , with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each ...                                                                                                                                          | ... | 37 | 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8 ; Vol. II, Fasc. 1-2 @ 1/ ...                                                                                                                                        | ... | 10 | 0  |
| <b>Arabic Bibliography</b> , by Dr. A. Sprenger ...                                                                                                                                                    | ... | 0  | 6  |
| <b>Badshāhnāmāh</b> , with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/6 each ...                                                                                                                                     | ... | 7  | 2  |
| <b>Catalogue of Arabic Books and Manuscripts</b> 1-2 ...                                                                                                                                               | ... | 2  | 0  |
| <b>Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal.</b> Fasc. 1-3 @ 1/ each ...                                                                         | ... | 3  | 0  |
| <b>Dictionary of Arabic Technical Terms</b> , and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each ...                                                                                                                   | ... | 21 | 0  |
| <b>Farhang-i-Rashidi</b> , (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each ...                                                                                                                                             | ... | 14 | 0  |
| <b>Fihrist-i-Tūsī</b> , or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/12 each ...                                                                                                              | ... | 3  | 0  |
| <b>Futūh-ush-Shām of Waqidi</b> , (Text) Fasc. 1-9 @ 1/6 each ...                                                                                                                                      | ... | 3  | 6  |
| Ditto of Azādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each ...                                                                                                                                                        | ... | 1  | 8  |
| <b>Haft Āsmān</b> , History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1 ...                                                                                                                                 | ... | 0  | 12 |
| <b>History of the Caliphs</b> , (English) Fasc. 1-6 @ 1/12 each ...                                                                                                                                    | ... | 4  | 8  |
| <b>Iqbāl-nāmāh i-Jahāngīrī</b> , (Text) Fasc. 1-3 @ 1/6 each ...                                                                                                                                       | ... | 1  | 2  |
| <b>Isābah</b> , with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/12 each ...                                                                                                                                       | ... | 38 | 4  |
| <b>Masir-ul-Umarā</b> , Vol. I, Fasc. 1-9 ; Vol. II, Fasc. 1-9 ; Vol. III, Fasc. 1-10 ; Index to Vol. I, Fasc. 10-11 ; Index to Vol. II, Fasc. 10-12 ; Index to Vol. III, Fasc. 11-12 ; @ 1/6 each ... | ... | 13 | 2  |
| <b>Maghāzī of Wāqarī</b> , (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each ...                                                                                                                                             | ... | 5  | 14 |
| The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.                                                                                                           |     |    |    |

|                                                                                                                  |    |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----|
| Muntakhab-i-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 16/ each                                                               | 15 |
| Muntakhab-i-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes; Vol. III, Fasc. 1 @ 112/ each | 12 |
| Muntakhab-i-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ 16/ each                                                                  | 7  |
| Ma'āqir-i-Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 16/ each                                                                  | 2  |
| Nukhbat-i-Fikr, (Text) Fasc. 1                                                                                   | 0  |
| Nigām-i-Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 112/ each                                                    | 7  |
| Riyāzu-Salātn, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each                                                                       | 2  |
| Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5                                                                                  | 3  |
| Tabaqāt-i-Nāgiri, (English) Fasc. 1-14 @ 112/ each                                                               | 10 |
| Ditto Index                                                                                                      | 1  |
| Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 16/ each                                            | 2  |
| Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each                                           | 2  |
| Ten Ancient Arabic Pcems, Fasc. 1-2 @ 118/ each                                                                  | 3  |
| Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1                                                                             | 0  |
| Wis O Rāmin, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each                                                                         | 1  |
| Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 16/ each                                                     | 6  |

## ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                   |    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----|
| 1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                | 20 |
| 2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 16/ per No.; and from 1870 to date @ 18/ per No.                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |    |
| 3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (6), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1896 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 118/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members. |    |
| <i>N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.</i>                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              |    |
| 4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. I, No. 1, 1905, @ 1-8 per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members.                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               |    |
| 5. Memoirs Vol. I, No. 1, 4, 5 @ 118/ to non members and to members                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               | 1  |
| Ditto No. 2 @ 1/- Ditto                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |    |
| Ditto No. 3 @ 2/- Ditto                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           | 1  |
| 6. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               | 3  |
| A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., <i>J.A.S.B.</i> , 1878)                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                  | 4  |
| Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., <i>J.A.S.B.</i> , 1868)                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         | 2  |
| Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., <i>J.A.S.B.</i> , 1875)                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         | 4  |
| 7. Anis-ul-Musharrāhīn                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                            | 3  |
| 8. Catalogue of Fossil Vertebrata                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                 | 3  |
| 9. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        | 3  |
| 10. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 16/ each                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              | 32 |
| 11. Jawāmlu-l-'ilāli-ri-riyyāsi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                            | 2  |
| 12. Khizānatu-l-'ilm                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              | 4  |
| 13. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                     | 40 |
| 14. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I-III with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                | 18 |
| 15. Sharaya-ool-Islām                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                             | 4  |
| 16. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         | 10 |
| 17. Ditto Grammar                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                 | 8  |
| 18. Kacmīracabdāmṛta, parts I and II @ 118/                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                       | 3  |
| 19. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        | 1  |
| 20. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                   | 4  |
| 21. Persian Translation of Hāji Bābā of Ispāhān, by Hāji Shaikh Ahmad-i-Kirmā and edited with notes by Major D. C. Phillott                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                       | 10 |
| Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                             | 29 |
| Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         | 5  |
| <i>N.B.—All Cheques, Money Orders, &amp;c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.</i>                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    |    |

16 g 06.

BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-I.



آخری درج شدہ تاریخ پر یہ کتاب مستعار  
لی گئی تھی مقررہ مدت سے زیادہ رکھنے کی  
صورت میں ایک آنہ یومیہ دیرانہ لیا جائے گا۔

---











